शाकद्वीपीय मग संस्कृति

State Museum U.P.

एक ऐतिहासिक अनुशीलन

डॉ. गीता राय

शाकद्वीपीय मग संस्कृति

एक ऐतिहासिक अनुशीलन

डॉ० गीता राय

तरुण प्रकाशन
लखनऊ
1996

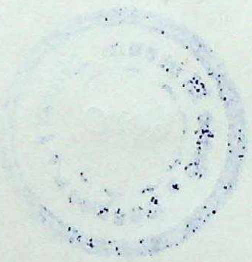

शाकद्वीपीय मग संस्कृति

एक ऐतिहासिक अनुशीलन

डॉ० गीता राय

एम० ए० पी-एच० डी०

प्रकाशक

तरुण प्रकाशन

लखनऊ

1996

प्रकाशक :

तरुण प्रकाशन

1\1028 विशालखण्ड

गोमती नगर, लखनऊ (उ० प्र०)

पिन- 226010

दूरभाष : 0522-393456

STATE MUSEUM, LUCKNOW.

यह ग्रन्थ भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त अनुदान से प्रकाशित है। ग्रन्थ में अभिव्यक्त विचार लेखिका के हैं। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् उसके लिए उत्तरदायी नहीं है।

राजकीय संग्रहालय, लखनऊ
6420
क्रमसंख्या
प्राप्ति तिथि 28-3-97
विभाग
श्रेणी
STATE MUSEUM, LUCKNOW.

© डॉ० गीता राय

प्रथम संस्करण, 1996

मूल्य रु० 290/= (दो सौ नब्बे मात्र)

लेजर कम्पोजिंग :

ए एण्ड टी इन्टरप्राइजेज

लालबाग, लखनऊ

मुद्रकः पारिख आफसेट मदेया रोड, लखनऊ

माता–पिता को सादर सप्रेम

प्ररोचना

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध पर सुश्री गीता शाही (अब श्रीमती गीता राय) को जब विश्वविद्यालय गोरखपुर से पी–एच० डी० उपाधि प्राप्त हुई तो औपचारिक रूप से इसकी सूचना स्थानीय समाचार पत्रों में प्रकाशित हुई–यही कि जिन शाकद्वीपीय मगों (ब्राह्मणों) को भारतीय विद्वत् समाज विदेशी मूल के ब्राह्मण समझता रहा है, वे आर्य थे और उनकी उत्पत्ति प्राक् ऋग्वेदीय कालीन है ।

इस छोटे से किन्तु महत्वपूर्ण समाचार ने इस विषय में अभिरुचि रखने वाले पंड़ितों विशेषकर इस वर्ग के ब्राह्मणों को उद्वेलित कर दिया । कुछ पत्र शोध–कर्त्री के नाम आये और शोध–निर्देशक होने के नाते मेरे नाम अनेक महत्वपूर्ण पत्र आये । कुछ ने तो यहाँ तक लिखा कि वे पूरी थीसिस की फोटोकापी कराकर अपने पास रखना चाहते हैं । कतिपय विद्वानों ने आग्रहपूर्वक इसे आद्यन्त पढ़ा भी । ऐसे ही मेरे एक सहयात्री मित्र (डॉ० महेन्द्र नाथ पाण्डेय, अध्यक्ष हिन्दी–विभाग, आचार्य नरेन्द्रदेव महाविद्यालय, बस्ती) ने प्रश्न–जिज्ञासाओं और सत्सुझावों की एक सूची ही भेज दी– यह बात अलग है कि उनकी बातें प्राचीन भारतीय इतिहास की सीमा से निकलकर मध्यकालीन–आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अधिक हैं । हाँ, उनके अनेक संशय ब्राह्मण–समाज में प्रचलित विविध कर्मकाण्डों और लोकाचारों को लेकर हैं जिनके शोधपूर्ण समाधान के लिए हमें स्वतंत्र पुस्तिका (मोनोग्राफ) प्रकाशित करनी पड़ सकती है (भुवन–भाष्कर की अनुकम्पा हुई तो ऐसा हम करेंगे भी) । ध्यातव्य है कि प्रस्तुत कृति मागी संस्कृति के अभ्युदय–विकास को उपलक्षित करते हुए इसकी प्राचीनता एवं उत्पत्ति को पहली बार सतर्क और सही परिप्रेक्ष्य में उपस्थापित करती है।

प्रश्न तो प्रश्न हैं, भले ही वे थीसिस की पुष्टि में ही क्यों न हों । किसी भी परम्परा के समग्र (उसकी अगणित प्रवृत्तियों) का संकलन विवेचन–समाधान एक विशेष कृति में न तो संभव है और न पूर्णतया अपेक्षित ही । उदाहरण के लिए शाकद्वीपीय कहे जाने वाले मग–ब्राह्मणों को प्राचीन साहित्य व पुराभिलेखों में याजक, भोजक, तारक, वर्णक, भिषग् ...आदि कहा गया; संभव है कि 'देवलक' भी उन्हें ही इंगित किया गया हो– यद्यपि सांस्कृतिक संक्रमण के परिणामस्वरूप शनैःशनैः वे प्रवृत्तियाँ समग्र हिन्दू समाज (विशेषतःब्राह्मण–समाज) में समाहृत होती गईं ।

हमें ज्ञात है कि अभी कुछ दशकों पूर्व तक (भारतीय स्वाधीनता–प्राप्ति के एक–दो दशकों बाद तक)हमारे सरयूपारीण ब्राह्मण–समाज में भी, विशेषतः कोशल–काशी –मगध–क्षेत्र में, संस्कृत–शिक्षा और आयुर्वेद का अविनाभाव सम्बन्ध रहा है ।

मेरे अपने ही कुल में न केवल निःशुल्क संस्कृत-शिक्षा दी जाती थी अपितु दैहिक त्रिदोष-शमन के लिये कई महत्वपूर्ण आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण व उनका निःशुल्क वितरण किया जाता था, घर के आस-पास जड़ी-बूटियों की बाड़ी होती थी। यह मात्र परम्परा का निर्वाह न था वरन् यह एक लोक-कल्याणकारी सत्कार्य था । कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत-वाङ्मय, आयुर्वेद, ज्योतिष व नक्षत्र-विद्या तथा विविध आभिचारिक आगमिक कृत्यों में जो मागी मत में मूलतः रही है, सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन की प्रक्रिया में उक्त प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप से पूरे भारतीय समाज में व्याप्त होती गई विशेषकर कोशल-मगध-क्षेत्र में । आश्चर्य की बात यह है कि रूढ़िगत आचार-व्यवहार में भेदमूलक विरोध के स्वर भी यहीं मुखरित हुए । इसका प्रबल कारण संभवतः सुदूर अतीत के यथार्थ बोध से कट जाना अथवा अनभिज्ञ होना था । मग -ब्राह्मण और ब्रात्य-जन ऐसे ही उदाहरण हैं जिनके अभिज्ञान की समस्या विद्वज्जनों में आज तक विद्यमान रही है । कुतर्कऔर रूढ़िग्रस्तता के कारण ही ब्राह्मण समाज का अधः पतन होता गया और शाश्वत मूल्यों की अक्षुण्ण धारा भी टूटी, मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं।

संयोगात् और प्राच्यविद्या के अध्ययनानुसंधान के सौभाग्य से मघ-मोघु के भाषावैज्ञानिक विवेचन के आधार पर आर्यों के ही एक वर्ग से इस गुणी समाज की पहचान प्रस्तुत कृति में की गई तो इससे भारतीय मनीषा की श्रीवृद्धि ही हुई । मैं तो निमित्त और प्रेरक मात्र था, विदुषी शोध-कर्त्री ने अतिशय उत्सुक्ता से कार्य करते हुए संशय-शोध समाधानपरक दृष्टि पल्लवित करते हुए इस बात को चरितार्थ कर दिखाया कि "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न लिङ्गं न च वयः" ।

अब आइए भारत-ईरानी पुरावृत्त सम्बन्धी अपने प्रेरक विन्दुओं की किञ्चित् चर्चा करें क्योंकि मगुस्-मग विषयक शोध-विषय की परिकल्पना मेरी थी और मै अनजाने में ही ऋग्वेदीय मघ को मूल पद मान बैठा था । तब मैं मघ का अर्थ धन जानता था-कैसा धन, इस बात का अभिज्ञान न था । फिर धीरे-धीरे मुझे प्रतीत हुआ कि मगुस् या मघ-मग संस्था का अध्ययन वस्तुतः भारत-ईरानी परम्परा व इतिवृत्त का अन्वेषण-अनुशीलन है । सुदूर अतीतयुगीन इस क्षेत्र में प्रचलित एक नहीं अनेक पद आज भी अपने अभिज्ञान की प्रतीक्षा में है यद्यपि अध्ययनानुसन्धान की एक नवीन आधुनिक शैली (Archaeo-linguistics) ने इस दिशा में अभूतपूर्व निष्कर्ष प्रदान किया है और ऐसे कार्य विश्व स्तर पर संपन्न हो भी रहे है। मैं प्राच्यविद्या मनीषी गुरुवर्य **प्रोफेसर विश्वम्भर शरण पाठक** के कृतित्व का संकेत करना चाहूँगा जिन्होंने न केवल मघ-अरुर्मघ अपितु चरण, श्रमेण, यति, मुनि, अर्हत्, तीर्थंकर, अरि-अर्य-आर्य, दास-दस्यु, वृषाकपि, असुर, आथ्रवन्-अथर्वा, पाञ्चरात्र, नारायण, ब्रात्य जैसे अनेक वैदिक पदों और अवांतरकालीन ऐतिहासिक पदों यथा सात्वत, आभीर, सातवाहन, 'कुषाण-नाम' (कड, कुजुल, कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव),

हूण–नाम (मिहिरकुल)इत्यादि के मूलार्थ पर पहली बार सम्यक् प्रामाणिक प्रकाश डाला है । प्रो० पाठक ने ब्रह्म–चर्या और ब्राह्मणत्व के विविध आयामों पर भी किञ्चित विस्तार से प्रकाश डाला है । उनके शब्दों में "ओझाई की क्षुद्र" आजीविका और निम्न चित्त–वृत्ति के व्यक्ति से लेकर उच्च अध्यात्म–स्थिति–सम्पन्न परिव्राजकों तक की भिन्न श्रेणियों का ब्राह्मणत्व प्राची में मिलता है । इस ब्राह्मणत्व का इतिहास इस क्षेत्र में काफी पुराना है--यह कम से कम अथर्ववेद के काल तक तो जाता ही है । यह ब्राह्मणत्व सप्तसिन्ध–प्रदेश के उदीच्य ब्राह्मणों से पूर्णतया समीकृत नहीं किया जा सकता । इसकी अपनी अलग पहचान है और इसकी प्राच्यदेश में अथर्ववेद से निरन्तर प्रवहमान परम्परा दिखाई देती है ।(विस्तार के लिए द्रष्टव्य प्रो० पाठक द्वारा लिखित प० देवेन्द्र नाथ शुक्ल की पुस्तक 'ब्राह्मण समाज का ऐतिहासिक अनुशीलन' की भूमिका "सुब्रह्मण्यं वो अस्तु" पृष्ठ 'झ'एवं पहले तथा बाद के पृष्ठ, वाराणसी,1990) । यहाँ यह संकेत दे देना आवश्यक है कि ब्राह्मण--ब्रेख्मनोइ–माहण की धाराओं के विवेचन के अभाव में समग्र ब्राह्मणत्व का मूल्यांकन संभव नहीं ।

अग्नि–पूजक आथ्रवन्=अथर्वन् ब्राह्मण पुरोहितों के विषय में प्रो० पाठक का कथन है कि जिस प्रकार अवेस्ता के आथ्र, आत्र, आतर से व्युत्पन्न आथ्रवन् का अर्थ है–अग्नि पुरोहित, उसी प्रकार वैदिक अथर से व्युत्पन्न अथर्वा का भी अर्थ अग्नि–पूजक पुरोहित है किन्तु यह एक विचित्र संयोग है कि आथ्रवन् का उल्लेख ईरान के परवर्ती यस्नों में मिलता है किन्तु गाथा–भाग में नहीं । **मेरी बायस** का यह कथन सम्भवतः ठीक है कि मीदिया के प्रभाव से मगुस् शब्द का प्रचलन पुरोहित के लिए हो गया था जिसका गाथाभाग में प्राधान्य है और जिसको ज़रथुस्र ने विशेष महत्व दिया । अतः उस गाथा भाग में जिसका ज़रथुस्त्र ने संस्कार कर दिया था, आथ्रवन् के प्रयोग विरल हैं । किन्तु उन यस्न और यस्त में जिस पर ज़रथुस्र का प्रभाव नहीं है, आथ्रवन् का प्रयोग मिलता है और आतर--आतिश की यह परम्परा आधुनिक फारसी तक चली आई है...जो हो, इतना तो निश्चित अनुमान है कि अवेस्ता और ऋग्वेद के संहितीकरण के पूर्व ही अग्नि पूजक पुरोहित आथ्रवन्=अथर्वन् की परम्परा विद्यमान थी । सारांश यह कि प्राक् ऋग्वेदीय काल में ही अग्नि पूजक आथ्रवन्=अथर्वन् का प्रादुर्भाव हो गया था (द्र०,तत्रैव,पृ० 'ह') । यह एक रोचक तथ्य है कि ईरानियों में मीदियाई प्रभाव से और ज़रथुस्त्र द्वारा महत्व प्रदान करने के कारण अवेस्ता के गाथा भाग में पुरोहित के लिए मगुस् शब्द ही प्रचलित रहा है न कि आथ्रवन् ।

ध्यातव्य है कि उत्तर वैदिक वाङ्मय में जिन अरुर्मखों या अरुर्मुखों अथवा अरुर्मघों की चर्चा है, वे ही ऋग्वेदीय कौषीतकी परम्परा में यति कहे गये । ऐतरेय ब्राह्मण (7.28)की गाथा के अनुसार त्वष्टा-पुत्र विश्वरूप को (इन्द्र ने) मार डाला, यतियों को भेड़ियों के सामने डाल दिया और अरुर्मघों का वध किया ।

सायण ने यतियों को यतिवेषधरान् असुरान् और अरुर्मघों को ब्राह्मण वेषधरान् असुरान् बताया तो यह मात्र अनुमान न था (द्र० डॉ० सीताराम दुबे की कृति 'बौद्ध संघ का प्रारंभिक विकास' में प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक द्वारा लिखित पुरोवाक् पृ० 22-23 एवं आगे) । इसमें सन्देह नहीं कि अरुर्मघ का उत्तर पद मघ और अवेस्ता का मग समानार्थक हैं तथा पुराभाषा वैज्ञानिक विवेचन के आधार पर व्याकरण सम्मत भी । जहाँ तक मघों के असुरों से सम्बन्ध का प्रश्न है वहाँ पर असुर से तात्पर्य अहुरोपासक प्राचीन ईरानियों से है । वस्तुतः पौरोहित्य से वृत्ति (धन) प्राप्त करने वाले ही मघ कहलाते थे और जो भिषग् थे-रक्तस्राव के चिकित्सक उन्हें ही कहा गया 'अरुर्मघ' ।

उपर्युक्त भारत-ईरानी पृष्ठभूमि व स्रोत से संवलित मागी-परम्परा का सांस्कृतिक अवदान, निस्संदेह हमारी सहस्राक्षरा संस्कृति की थाती है जिसके अल्पज्ञात पुरावृत्त के ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए विदुषी लेखिका डॉ० श्रीमती गीता राय को कोटिशः बधाई व अशीष । आशा व कामना है कि अपने स्वाध्याय चिंतन क्रम में वे आगे भी सक्रिय रहेंगी और उनकी प्रस्तुत कृति उन्हें यश प्रदान करेगी । उनके लिए यहाँ अंकित है एक स्वस्ति वचन (ऋ० 10 .63.7) - **'सुगाः न कर्त सुपथा स्वस्तये'** हे आदित्य हमारे कल्याण के लिए पथ को सुन्दर और सुगम बना दो ।

श्री कृष्ण जन्माष्टमी , वि० 2052

15,सिविल-लाइंस
यॉक्ची-कम्पाउण्ड
विश्वविद्यालय-परिसर
गोरखपुर- 273001

प्राक्कथन

एकोऽपि हेलेः सुकृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म हेलिप्रणामी न पुनर्भवाय ।।

(भविष्य पुराण, 1.103.45)

भारत अपनी एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक धारा के लिये विश्व स्तर पर पहचाना जाता है। सातत्य यदि भारतीय सस्कृति का एक प्रमुख तत्व है तो इसके साथ ही इससे जुड़े कतिपय अन्य गुणों पर हमारा ध्यान बरबस ही चला जाता है । सहिष्णुता और ग्राह्यता ऐसे ही गुण हैं । फलतः भारतीय संस्कृति में, इन गुणों के कारण अनेक विध तत्वों का यथा समय समाहार होता रहा और मुख्य सांस्कृतिक धारा न केवल इन्हें अपने में आत्मसात् करती प्रवहमान बनी रही अपितु उसने यहाँ के सांस्कृतिक जीवन को युगों-युगों में तदनुरूप पल्लवित भी किया ।

मगों की समस्या पर यदि हम उक्त परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो इस सन्दर्भ में लिये गये निर्णय अधिक स्पष्ट व सुसंगत प्रतीत होगें । हमारी दृष्टि में "मग" की मूल अवधारणा आर्यों के ही एक वर्ग विशेष को व्यक्त करती है जिस पर हमने अपनी शोध कृति के प्रारम्भ में ही सतर्क विचार किया है और ऋग्वेदीय पद "मघ" से उसकी पहचान की है । यहाँ "प्राक्कथन" में, उक्त सन्दर्भ में, कुछ और कहने के पूर्व में तद्विषयक आधुनिक शोध-प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगी । विडम्बना यह रही है कि भारतीय संस्कृति अथवा "भारती-विद्या" (इण्डोलॉजी) के अनेक विध पक्षों के इतिहास के उद्घाटन में विदेशी प्रभाव ढूंढने की एक प्रवृत्ति पिछली शताब्दी से ही चल पड़ी थी। सुदूर अतीत काल से सांस्कृतिक संक्रमण की प्रक्रिया सहज स्वाभाविक रूप से अस्तित्व में रही है और ऐतिहासिक काल में तो पारसीक, यवन, शक, पह्लव, कुषाण, हूण, तुर्कआदि जातियों के भारत पर हुये आक्रमणों और उनके न्यूनाधिक वर्चस्व के परिणाम स्वरूप भारतीय संस्कृति की मूल धारा पर उनके प्रभाव अवश्यम्भावी हुये हैं । तथापि हमें ऐतिहासिक कालीन युगों में प्रचलित किसी भी परम्परा के स्रोत और अभ्युदय का सम्यक् परीक्षण करना ही चाहिए। इस प्रक्रिया में हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि भारतीय संस्कृति ने बहुविध अभारतीय तत्वों का समाहार किया । मागी मत में निश्चय ही ऐतिहासिक ईरानी परम्परा के कई तत्व विकसित हुये और भारत में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित मागी धारा में उन्हें प्रतिष्ठा भी मिली ,किन्तु इस धारा की मूल अवधारणा का क्षेत्र ईरानी न होकर "भारतेरानी" मानना चाहिए। साथ ही यह स्मरण रखना भी समीचीन होगा कि प्राक् ऋग्वेदीय अथवा प्राक् भारतेरानी युग में एक ऐसा वर्ग आर्यों के बीच में ही अभ्युदित हो रहा था जो देव-पूजक तो था ही किन्तु वैदिक

यज्ञ–परम्परा की धारा से कटा हुआ था । वह कहलाता था "मघ" । देव–पूजन अथवा देव–सेवा–कार्य के कारण ही वह "मघ" कहलाता था । इस कार्य के लिये उसे जो सेव्य (चाहे उसे "दक्षिणा" कह लें) प्राप्त होता था, उसे भी "मघ" ही कहा जाने लगा । सम्भवतः इसी लिये ऋग्वेदीय काल में "मघ" शब्द अधिकांशतया धन अर्थ को ध्वनित करता है । "मघ" का सम्प्रदाय–बोधक अर्थ, यद्यपि ईरान में ज़रथुस्त्रीय मत के विधिवत् प्रचार–प्रसार के कम से कम एक सहस्त्र वर्ष पूर्व हो चुका था । रोचक बात तो यह है कि प्रारम्भ में बहिष्कार करके अन्ततः ज़रथुस्त्रीय विचारधारा ने न केवल इसे स्वीकार किया अपितु इसके प्रसार में प्रमुख भूमिका निभाई । ज्ञातव्य है कि मागी धारा के वर्ग–बोधक संकेत ऋग्वेद के प्राथमिक स्तर में भी उपलब्ध हैं, अस्तु "मघःमग" अति पुरातन हैं, आर्यों के ही एक वर्ग विशेष के सदस्य । हाँ, तब यह वर्ग मघ कहा जाता था । ब्राह्मण ग्रंथों में इसे इन्द्र–विरोधी यतियों, असुरों अथवा ब्राह्मणों से सम्बद्ध बताया गया, अस्तु मघ–मग वैदिक कर्म काण्डीय आर्य–धर्म से असम्बद्ध होकर भी आर्यों की ही एक अन्य परम्परा को उपलक्षित करते हैं । अभिप्राय यह है कि –

(1) मग जिन्हें हम शाकद्वीपीय ब्राह्मण के रूप में जानते हैं, विदेशी न होकर स्वदेशीय धारा के अंग रहे हैं ।

(2) इस धारा को मागी धारा कहना ही समीचीन होगा क्योंकि इनका सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है । यह वर्ग "मिथ्र" नाम से "सूर्य व अग्नि" की उपासना करता था। प्रारम्भिक युगों में द्वन्द्व की प्रक्रिया से गुजरते हुए ही कालान्तर में इन्होनें अपना शास्त्र विकसित किया । साम्बोपाख्यान से जुड़े हुये पौराणिक स्रोत–सन्दर्भ इस बात को प्रतिबिम्बत करते हैं ।

(3) भारतीय संस्कृति में मागी परम्परा की जो छवि दिखाई देती है, उसमें निश्चय ही कई तत्व ऐसे हैं जो ईरानी सभ्यता के प्रभाव से आयातित हैं यथा, सौर प्रतिमा के कुछ तत्व (द्रष्टव्य, अध्याय षष्ठ) । एक बात यहाँ भी ध्यान देने वाली है कि जब हम "ईरानी सभ्यता" शब्द का प्रयोग कर रहे हैं तो हमारा मन्तव्य ईरान की मूल संस्कृति से नहीं है । जैसा कि ईरान नाम से स्पष्ट है, यह मूलतः आर्य देश और संस्कृति का उद्‌बोधक पद रहा है । ईरान के प्राख्यात सम्राट् दारायवौष् अपने बेहिस्तून अभिलेख में बड़े गर्व के साथ कहता है – "मैं आर्य, आर्यवंशोद्‌भूत हूँ और मेरा देश "एरियाना बैजों" = आर्यों का श्रेष्ठ देश हैं" । कहने की आवश्यकता नहीं कि ईरान में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का ईसा पूर्व की प्रथम सहस्त्राब्दी में जो क्रमिक उत्थान–पतन हुआ और अन्ततः जिसके कारण ही ग्रीक – रोम साम्राज्य का अभ्युदय हुआ, उसने ईरान की मूल आर्य–सांस्कृतिक धारा को दबा दिया । यह मूल धारा यद्यपि किसी न किसी रूप में अस्तित्व के लिये संघर्ष करती रही, विचारोत्प्रेरक बात यह है कि

प्रकृति सापेक्ष्य अथवा प्रकृति–पूजन से जुड़ी वैदिक आर्य (ऋग्वेदीय–आवेस्तिक) धारा का, ज़रथुस्त्र के उदय के साथ ही लोप होता गया, लेकिन आर्यों की ही कतिपय इतर धाराओं को ज़रथुस्त्रीय धारा ने भी प्रारम्भ में न सही, अन्ततः सम्मान दिया । मागी धारा के अस्तित्ववान् होने की यही पृष्ठभूमि प्रतीत होती है ।

मेरे शोध विषय का प्रस्तावित शीर्षक था "मागी सूर्योपासना का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव"। पंजीकरण भी इसी रूप में हुआ किन्तु अंततः सारा विषय मागी मत केन्द्रित हुआ। वस्तुस्थिति यह रही है कि "प्राचीन भारत में सूर्योपासना के इतिहास" विषयक कतिपय शोध – कार्यों से उदीच्य शैली में निर्मित और सम्पूर्ण उत्तर भारत में लोकप्रिय सूर्य की उपानह युक्त प्रतिमाओं को ईरानी–शक प्रभाव से विनिर्मित सिद्ध किया गया और महाभारत से लेकर कई उपपुराणों तक में प्राप्य "साम्बोपाख्यान" से जोड़कर इसे शाकद्वीपीय मागी परम्परा कहकर काम चलाया। हमने जब इस परम्परा के मूल प्रबुद्ध जन "मगः मागी" के मूलार्थ–अभिज्ञान सम्बन्धी अध्ययन किया तो पाया कि सभी विद्वज्जन इस बात पर एक मत हैं कि मग की अवधारणा भारतीय नहीं थी, कि मग और उनकी परम्परा का भारत में प्रवेश छठीं शताब्दी ई. पू. के उत्तरार्द्ध में, ईरानी सम्राट् साइरस के द्वारा भारत पर किए गए आक्रमण के बाद हुआ। "मग" शब्द की भाषा वैज्ञानिक अर्थवत्ता पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मग शब्द आयातित नहीं है, फलतः वे (मग) अभारतीय नहीं कहे जा सकते। उनका मूल परिक्षेत्र चूँकि विस्तीर्ण था अतः उनके आचरण–व्यवहार, धर्म–कर्म में कुछ ऐसे तत्व भी सम्मिलित होते रहें हैं, जो आर्यों की भारतीय सांस्कृतिक धारा के लिए अपरिचित थे। ये तत्व वस्तुतः आर्यों की ईरानी शाखा द्वारा ज़रथुस्त्र युग में जोड़े गए और उन तत्वों का प्रवेश व प्रसार काल क्रम में भारतीय मागी – धर्म में भी होता रहा विशेषतया उत्तर भारतीय क्षेत्र में। हमने सिद्ध किया है कि मूल परम्परा आर्यों की ही एक शाखा द्वारा प्राग्भारतेरानी अथवा प्राक् ऋग्वेदीय काल में सुदूर अतीत में प्रवर्तित की गई थी।

इस निष्कर्ष के साथ कि "मग" मूलतः ऋग्वेदीय–आवेस्तिक "मघःमोघु" से सम्बद्ध रहा है, अस्तु मूल परम्परा को विदेशी मान लेना अथवा विदेशी प्रभाव की बात करना हमें समीचीन नहीं लगा । प्रस्तुत कृति के प्रथम, द्वितीय और तृतीय अध्यायों से हमारी इस धारणा की पुष्टि हो जाती है । हम ईरानी शक–कुषाण प्रभाव में जिस सूर्योपासना–परम्परा का अभ्युदय देखते हैं, उसकी मूल प्रवृत्तियाँ प्रतीकों–मिथकों के रूप में विशुद्ध भारतीय रही हैं, भले ही वे इन्द्रोपासक व यज्ञीय कर्म–सम्पादक वर्ग के लिए अप्रीतिकर रही हों । बाद में इस मूल प्रवृत्ति ने ईरानी परिक्षेत्र में जब सम्प्रदाय का स्वरूप प्राप्त किया तब इसके इष्टदेवता थे "मिथ्र"– इस नाम से लोक में सूर्य एवं अग्नि की उपासना प्रचलित हुई। "शाकद्वीप–साम्बोपाख्यान–मूलस्थान" की गाथा के प्रचार–प्रसार के साथ महाकाव्यों–पुराणों

के युगों में मागी परम्परा का जो भारतीय भूभाग में प्रचलन हुआ, उसकी हमारे लोक–मानस पर अमिट छाप रही है। यही कारण है कि मग सदा परदेशी समझे गए ।

प्रस्तुत विषय के स्वरूप–परिवर्तन की पृष्ठभूमि यह थी । इस प्रकार शोध–प्रबन्ध का विषय अन्ततः जिस शीर्षक में प्रस्तुत हुआ वह है "**मागी मत का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव**"। वास्तव में इस शीर्षक में भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा है। "मागी मत" के आरम्भिक स्वरूप का संकेत हमने ऊपर कर दिया, "भारतीय संस्कृति" यहाँ पर इस धारा को ध्वनित करती है जो यज्ञीय आर्य परम्परा से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी होकर स्मार्त परम्परा में पल्लवित हुई, मागी मत आर्यों की एक भिन्न धारा को व्यक्त करता है। इस परम्परा के मूल इष्टदेवता भले ही "मिथ्रं (मित्र) मिह्, मिहिर = सूर्य" रहे हों, पर इस परम्परा को सूर्योपासना परम्परा कहकर सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि इसने भारतीय धर्म और समाज के इतिहास में अनेकविध ज्ञान–विज्ञान विषयक आयामों का प्रसार किया। प्रस्तुत कृति के चतुर्थ, पंचम् व षष्ठ अध्यायों से इस बात की पुष्टि हो जाती है। इस तरह हमारे प्रस्तुत शोध–विषय को प्रकारान्तर से मागी मत के उद्भव व विकास के रूप में भी समझा जा सकता है।

प्रस्तुत कृति हमारे शोध प्रबन्ध का यत्किंचित् संशोधित रूप है। ज्ञातव्य है कि शाकद्वीपीय मग ब्राह्मणों को ही आधुनिक काल में "साकलदीपी" ब्राह्मण कहा जाता है। इस नाम–निर्देश के आधार पर ही श्रोत-स्मार्त परम्परावादी ब्राह्मण उन्हें "इतर" समझते (समझाते) रहे हैं। हमने मगों के "मूल" पर विचार करते हुए उत्तर वैदिक वाङ्मय (ब्राह्मण ग्रंथादि) के स्फुट् संदर्भों से ही देखा कि "अरुर्मघ" कहे जाने वाले इन्द्र–द्वेषी वर्ग के भिषग् यतियों व असुरों से सम्बद्ध ब्राह्मण थे – ऐसे ब्रह्मण्य ब्राह्मण जो इन्द्रोपासना व यज्ञीय आर्य–धर्म में आस्था नहीं रखते थे।अरुर्मघ स्पष्टतः मगों के प्राचीन स्वरुप की याद दिलाते हैं (देखिए, प्रथम अध्याय)। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे आर्यों के ही एक वर्ग विशेष के ब्रह्मण्य ब्राह्मण होकर भी "इतर" समझे जाते रहे। इतना ही नहीं स्मार्त परम्परा में ब्राह्मणों के अनेक प्रकारों का निर्देश तो मिलता है पर "मग" नाम का निर्देश वहाँ नहीं है यथा अत्रि स्मृति (द्र.पी.पी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग–1, पृ. 373–383) के अनुसार दस प्रकार के ब्राह्मण थे – देव, मुनि, द्विज, क्षत्र, वैश्य, शूद्र, निषाद, पशु, म्लेच्छ एवं चाण्डाल। अपरार्कने देवल को उद्धृत करते हुए आठ प्रकारों का निर्देश किया है, जो इस प्रकार हैं – (1) जाति – ब्राह्मण (2) ब्राह्मण (3) क्षत्रिय (4) अनूचान (5) भ्रूण (6) ऋषिकल्प (7) ऋषि एवं(8) मुनि। ऐसा प्रतीत होता है कि सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया में ब्राह्मणों का स्वरूप–निर्देश स्मार्त परम्परा में युगानुरूप हुआ। निम्न कोटि के व्यवसाय के कारण, भिक्षावृत्ति के कारण, यहाँ तक कि कृषि–कार्य के कारण भी उनको हीन माना गया। बौधायन के अनुसार "वेद : कृषिर्विनाशाय कृषिर्वेद–विनाशिनी"। (द्रष्टव्य, काणे, तत्रैव)।

उक्त सूचियों में "मग" नाम नहीं है। सम्भव है कि पहली सूची में "द्विज" कहकर कार्य चलाया गया हो, क्योंकि मागी वाङ्मय में मगों को मग–द्विज, देव–द्विज व सूर्य–द्विज आदि कहा जाता रहा है। मूलधारा में उनके संक्रमण व समन्वय के बाद तो उन्हें मग के बजाय "ब्राह्मण" कहा जाने लगा, अपितु सांस्कृतिक समन्वय के परिणामस्वरूप उन्हें "वेदवादी" (वेदवादिनाः) विशेषण दिया जाने लगा।

उक्त विषय से सम्बद्ध शोध–कार्य इतने कम हुए हैं कि उनका ससंदर्भ उल्लेख करना "प्राक्कथन" में ही युक्ति संगत है। वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक में "**जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी**" के अंकों में **ए.बी. कीथ** के "मागी" विषयक शोध–लेखों (1915, पृ. 790–799, 1916 पृ. 138–142) ने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया । फलतः इस वर्ग विशेष की प्रवृत्तियों को लक्षित करनेवाले कुछ अन्य लेख भी प्रकाशित हुए । इनमें स्पूनर (जे.आर.ए.एस., 1915) **मॉल्टन** (ई.आर.ई. में "मागी" के अन्तर्गत), **वी.ए. स्मिथ** (जे.आर.ए.एस., 1916, पृ. 800–802) **एस.डब्ल्यू. टॉमस** (तत्रैव, पृ. 362–365), **काशी प्रसाद जायसवाल** (जे.बी.ओ.आर.एस., मार्च 1916) के शोध लेख उल्लेखनीय हैं । लगभग इन्हीं दिनों **राम प्रसाद चंदा** की प्रसिद्ध पुस्तक "इण्डो आर्यन रेसेज" प्रकाश में आई और 11 मार्च 1916 को "स्टेट्समैन" में उनका एक लेख भी प्रकाशित हुआ ।

इन शोध–लेखों के अतिरिक्त भारतीय कला व प्रतिमा–शास्त्रीय विमर्श के प्रसंग में और सूर्योपासना के इतिहास के प्रसंग में भी मगों की चर्चा की जाती रही; टी.गोपीनाथ राव (ई.एच.आई.) और **जितेन्द्र नाथ बनर्जी** (डी.एच.आई.) के शोध कार्य इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं । मगों का शाकद्वीपीय अतः शकस्थानीय माना जाने के कारण ईरानी–शक–परम्परा पर जो शोध कार्य हुए उनमें पहले **मॉल्टन** (अर्ली ज़ोरोस्ट्रिअनिज्म, 1926; ट्रेज़र ऑफ मागी 1917) और बाद में **मेरी बॉयस** (ज़ोरोस्ट्रिअन्स, देयर रेलिजस बिलीफ्स एण्ड प्रैक्टिसेज, 1979; हिस्ट्री ऑफ ज़ोरास्ट्रिअनिज्म, दो भागो में, 1982) की कृतियाँ प्रसंगवश मगों का परिचय देती हैं । वास्तव में **सर आर.जी.भण्डारकर** प्रथम भारतीय विद्वान थे जिन्होनें "इण्डियन एण्टीक्वेरी" (जिल्द 40, 1911) में "फॉरेन इन्फ्लुएन्स इन इण्डियन पापुलेशन" विषयक अपने शोध लेख में शाकद्वीपीय मगों और उनके भारतीय जन–समाज पर प्रभाव की बात की।

ज्ञातव्य है कि उक्त शोध–सन्दर्भ मगों का जो संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं, वे प्रायः एक ही निष्कर्ष देते रहे हैं कि "मग" शकों–ईरानियों के प्रबुद्धजन अथवा पुरोहित थे अथवा इस विषय पर सबसे पहले प्रकाश डालने वाले ईरानीविद् मॉल्टन की तरह अस्पष्ट थे कि "मग न तो आर्य थे न ही ऐमेटिक" (अर्ली ज़ोरोस्ट्रीयनिज्म,)। यह विभ्रम बाद में भी बना रहा।

वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध में "**सनवर्शिप इन एन्शॅण्ट इण्डिया**" शीर्षक में दो शोध–ग्रन्थ प्रकाश में आए – **डॉ. लालता प्रसाद पाण्डेय** (1978, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली) और **डॉ. विनोद चन्द्र श्रीवास्तव** (1972, इलाहाबाद) ने अपनी अपनी (उक्त) कृति में सूर्योपासना के उद्भव, अभ्युदय व विकास के विस्तृत इतिहास के साथ ही मगों पर भी किंचित प्रकाश डाला, किन्तु उन्होंने भी मूल अवधारणा सम्बन्धी कोई सर्वमान्य सतर्क मूल्यांकन नहीं किया। डॉ. पाण्डेय ने "मगों की समस्या" पर विचार करते हुए एक तरफ विदेशी रूप में उनकी चर्चा की है तो दूसरी तरफ शकस्थान को सौराष्ट्र में ("सौर राष्ट्र" कहकर) पहचाना है। डॉ. श्रीवास्तव ने तब तक प्रकाश आए अधिकांश शोधपत्रों का उपयोग करते हुए शकस्थानीय ("सीस्तान" के) मगों के भारत में प्रवेश के त्रिविध चरण की ओर (छठी श.ई.पू. से सातवी शताब्दी ई. तक) हमारा ध्यान आकृष्ट किया – ये बातें उनके शोध लेखों (**दि मगाज एण्ड द सन–वर्शिप इन एन्शॅण्ट इंडिया** ए.आइ.ओ.सी., अलीगढ़, 1965, **ऐंटीक्विटी ऑफ मगाज इन एन्शॅण्ट इण्डिया**, प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कॉग्रेस, भागलपुर, 1968 एवं **मगाज–दि ईरानियन प्रीस्ट्स इन एन्शॅण्ट इण्डिया** , अन्तराष्ट्रीय संगोष्ठी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1968) में भी अभिव्यक्त हैं ।

उक्त कार्यों के अतिरिक्त महापुराणों और उपपुराणों के विषय में किए गए शोध–कार्यों में भी उक्त विषयक विमर्श उक्त दृष्टिकोण से ही किए गए । उपपुराणों के विशिष्ट अध्येता **डॉ. आर.सी. हाजरा** (स्टडीज इन द पुराणिक रिकॉडर्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, ढाका, 1940; स्टडीज इन द उपपुराणाज, खण्ड–1, कलकत्ता, 1958) के कार्यों के अतिरिक्त आर.के. अरोड़ा का शोध प्रबन्ध (हिस्टॉरिकल एण्ड कल्चरल डाटा फ्राम द भविष्य पुराण, 1972) और उसी का एक अध्याय **दि मगाज सन वर्शिप एण्ड दि भविष्य पुराण** (पुराणम्, खण्ड 13, अंक 1 में प्रकाशित) उल्लेखनीय है । "पुराणम्" में ही प्रकाशित **वी. राघवन** का लेख "सन वर्शिप" (पुराणम् खण्ड–12, अंक–2, 1970) और **श्री विनोद चन्द्र श्रीवास्तव** का "दि पुराणिक रेकाड्‌स आन दि सन–वर्शिप" (पुराणम्, खण्ड–12, अंक–2, 1969, पृ.229–272) भी मगों के कतिपय पक्षों का उद्घाटन करते हैं और ये समस्त आधुनिक शोध कार्य मागी परम्परा के इतिवृत्त के अध्ययन की दिशा में सहायक सिद्ध हुए हैं ।अभी हाल ही में **डॉ. चन्द्रदेव पाण्डेय** का शोध प्रबन्ध "साम्ब पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन" प्रकाशित हुआ है, किन्तु उसके निष्कर्ष भी डॉ. विनोद चन्द्र श्रीवास्तव के निष्कर्षों के समान ही हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति की विशाल धारा हिन्द महोदधि के समान है जिसमें अनेकानेक सरणियाँ (ज्ञान–सरित्–प्रवाह) निमज्जित होकर इसके "सत्"(धारा) को बना देती हैं "पयस्विनी" । जब हम इस परिपार्श्व में भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता को पहचानने की चेष्टा करते हैं, तो हमें उक्त "महाधारा" के भीतर समाहित परम्परा विशेष की

समूल छवि ढूँढ़ निकालने में कठिनाई होगी ही । मागी मत के मूल स्वरूप, ऐतिह्य और उसके प्रभाव के अध्ययन–प्रसंग में प्रस्तुत कृति का, सात अध्यायों में विभक्त विषयानुक्रम एवं उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

प्रथम अध्याय का शीर्षक है, **अभिज्ञान** : मघ–मोघु–मगुस–मगोइ = मग जिसमें "मग : मागी" की समस्या पर भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विमर्श करते हुए मग के मूल स्वरूप "मघ" और भारत ईरानी "मघः मोघु" की अर्थवत्ता पर प्रकाश डाला गया है । ऋग्वेद व अवेस्ता से ज्ञात "मघः मोघु" ही वस्तुतः ईरानी–ससानी "मगुस्" अथवा क्लैसिकल संस्कृत में प्रचलित "मगस्" (मगः) का प्राक्रूप है । यह अभिज्ञान आर्यों की ही एक शाखा (वर्ग) का परिचय देता है तथा जिसके प्राक् ऋग्वेदीय स्वरूप की झलक उत्तरवैदिक "अरुर्मघ" एवं उत्तर आवेस्तिक "मगुस्" में दिखाई देती है । अभिज्ञान के साथ ही मगों की प्राचीनता व उनके मूल भारत–ईरानी क्षेत्र का संकेत भी अपने आप मिल जाता है । इस प्रसंग में सतर्क विश्लेषण पहली बार हुआ है – हमारे इस शोध ग्रंथ के प्रथम अध्याय में ।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत **मग–स्रोत, इतिवृत्त एवं वैशिष्ट्य** पर पहली बार विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । मग विषयक प्राचीन संदर्भ स्रोतों में भारतीय स्मार्त–पौराणिक एवं अन्य वाङ्मय, अभिलेख आदि स्रोतों के परिचय के साथ–साथ ईरानी यूनानी और सामी (सेमेटिक) अ–सामी (नान सेमेटिक) स्रोतों की समीक्षा करते हुए हमने भारतेरानी मग–परंपरा के मूल स्रोत का परिचय प्रथम बार दिया है । इसके अतिरिक्त मध्य–एशियाई एवं भारतीय मागी प्रवृत्तियों के इतिवृत्त और उनके वैशिष्ट्य का सविस्तार प्रस्तुतीकरण किया गया है, जिसके अन्तर्गत पौरोहित्य, उसका वर्गीकरण और कतिपय मागी प्रतीकों के अलावा भैषज्य, ज्योतिष, स्वप्नविचार, अभिचार (भैजिक), वैवाहिक–रीति और अन्त्येष्टि–विधान पर प्रकाश डाला गया है ।

मागी विचारधारा का समग्र भारत–भूमि में प्रवेश और उसका भारत की मुख्य सांस्कृतिक धारा में समाहार कब–कब हुआ, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है, क्योंकि भारतीय इतिहास के कई काल–खण्ड ऐसे हैं, जिस पर ईरानी अथवा ईरानी प्रभाव में शक–यवन आदि जातियों की सभ्यताओं की छवि दिखाई देती है । मागी परम्परा में चूँकि पश्चाद्वर्ती (उत्तर कालीन अवेस्ता व सासानी) काल में अनेक नये सांस्कृतिक तत्वों का प्रभाव परिलक्षित होता है, अस्तु उन तत्वों के साथ मागी मत का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव की बात करना समीचीन प्रतीत होता है । इस दृष्टि से विचार करने पर हमें लगा कि मागी मत के अभ्युदय व प्रसार की तीन धाराएँ थीं । मागी मत तीन चरणों – वैदिक काल, बौद्ध काल और शक–कुषाण काल में भारतीय सांस्कृतिक जीवन में समाहित हुआ । इन तीन चरणों में प्रथम निश्चय ही इस विचारधारा का आरंभ है, जिसका सर्वप्रथम यथातथ्य विश्लेषण यहीं तृतीय अध्याय में किया गया ।

भारतीय धार्मिक जीवन विशेषतः सौर मत पर तथा भारतीय समाज व्यवस्था के कतिपय अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्षों यथा उपनयन, विवाह एवं अन्त्येष्टि संस्कारों पर मागी मत के प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं । सौर धर्म के तो वे (मग) निमित्त प्रतीत होते हैं। फलतः सौर प्रतीकों, पूजा–विधान, व्रत एवं सौर कुल के महत्व पर भी हमने विचार किया है । वर्ण–व्यवस्था की मागी अवधारणा और उपर्युक्त निर्दिष्ट संस्कारों में उनके योग की विवेचना भी इसी **चतुर्थ** अध्याय में की गई है ।

पंचम अध्याय में भेषज, अभिचार एवं ज्योतिष सम्बन्धी मागी प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । यह सुविदित है कि ये गुण मागियों के आचरण से जुड़े रहे हैं । अंग्रेजी का "मैजिक" शब्द "मग" से ही निष्पन्न है फलतः आभिचारिक (मैजिकल) कृत्यों का व्यापक प्रसार मगों द्वारा ही हुआ । सूर्याग्नि–पूजक मगों द्वारा ज्योतिष = प्रकाशतत्वों का अभिज्ञान सम्बन्धी ज्ञान स्वाभाविक ही था । भारतीय ज्योतिष–विद्या में उनका यह योगदान उल्लेखनीय महत्व रखता है । मग < मघ, मूलतः प्राकृतिक चिकित्सक थे, भैष्ज्य उनके रक्त में रहा है । मगों के इन गुणों का उपन्यास सुदूर अतीत काल में देखा जा सकता है।

भारतीय कला पर मागी प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत है **षष्ठ** अध्याय में । इसके अन्तर्गत प्रतिमा व स्थापत्य सम्बन्धी उनकी शास्त्रीय अवधारणाओं व कतिपय प्रतिमानों, प्रतीकों पर विशेष प्रकाश डाला गया है ।

अन्तिम अध्याय "उपसंहार" के अन्तर्गत निष्कर्षजन्य परिणामों की ओर संकेत है ।

प्रस्तुत कृति में उपर्युक्त सात अध्यायों के अतिरिक्त एक विशिष्ट खण्ड परिशिष्टों का है । भारतीय पौराणिक ऐतिहासिक युगों में मग–मगाख्य ब्राह्मणों की संस्कृति की पहचान का मूल आधार है– साम्बोपाख्यान । साम्बोपाख्यान से ही सम्बद्ध रहा है– शाकद्वीप, जिसके अभिज्ञान की समस्या पर बड़ा ही मतभेद रहा है । सामान्यतः "सीस्तान" को ही शकस्थान के रूप में पहचाना जाता रहा है । यद्यपि "शक–स्थान" कहने से शकों की बस्ती का ही बोध होता है, वह कहीं भी हो । उपलब्ध साक्ष्यों की सतर्कव्याख्या के उपरान्त सीस्तान को ही हमने शक स्थान या शाकद्वीप माना है । परिशिष्ट एक का प्रतिपाद्य है "शाकद्वीप के पहचान की समस्या" । परिशिष्ट दो के अन्तर्गत "मागी परम्परा के तीन प्राचीन सौर केन्द्र" सूर्य के तीन पादविक्षेपों – उदय, मध्याह्न एवं अस्तंगत स्वरूपों को परम्परा व्यक्त करने वाले तीन विशिष्ट केन्द्र थे क्रमशः कोणार्क, कालप्रिय एवं मूलस्थान । इनमें कोणार्क, सुविख्यात सूर्य–मन्दिर ही शेष है । परिशिष्ट तीन के अन्तर्गत हमने शाकद्वीपी मग–ब्राह्मणों के 72 पुरों, 18 एवं 16 गोत्रों तथा वेदोपवेदादि की एक सूची प्रस्तुत की है । ज्ञातव्य है कि भारत के पंचगौड़ एवं पंच द्रविड़ ब्राह्मण–वर्गों की तरह एक शाखा मग–ब्राह्मणों की भी प्रतिष्ठित रही है । यह शाखा उत्तर भारत में विशेषतः पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं पश्चिमी बिहार के मध्य अधिकाधिक फैली है । इस परिक्षेत्र में मगहर से मगध तक इन ब्राह्मणों के

अनेक प्रतिष्ठित गाँव हैं, जहाँ सामान्यतः सूर्य–मन्दिर, सूर्य–कुण्ड अवश्य हैं। इन गाँवों मे आज भी अनेक कुल ऐसे हैं जहाँ संस्कृत–वाङ्मय की शिक्षा के साथ–साथ भेषज एवं ज्योर्तिज्ञान में गहरी निष्ठा दिखाई देती है। सबसे रोचक व प्रेरक ऐतिहासिक तथ्य यह है कि इक्ष्वाकुओं की पौराणिक राजधानी अयोध्या में कई पीढ़ियों से शाकद्वीपी मग–ब्राह्मण–कुल के सदस्य राजा होते आए हैं, जो उपने नाम के पूर्व लाल और अन्त में सिंह लिखते हैं। सौर वाङ्गमय के अन्तर्गत प्रमुखतः पौराणिक स्मृति और कतिपय आभिलेखिक मूल सन्दर्भ–स्रोत अपेक्षित प्रतीत हुए अस्तु अन्त में एक परिशिष्ट इस रूप में भी है। अन्ततः नतशिरस्क भाव से प्रणम्य है वह "विश्व–चक्षु" भुवन–भास्कर, जो न केवल सूर्य–द्विजों (मगों) का अपितु जन–जन का त्राता है –

भास्वद्रत्नाद्य मौलिः स्फुदधररुचा रन्जितश्चारु केशो
भास्वान यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः ।

विश्वाकाशावकाशो ग्रहगण सद्बितो भाति यश्चोदयाद्रौ
सर्वानन्द प्रदाता हरिहर नमितः पातु मां विश्वचक्षुः ।।

अक्टूबर, 1995 **गीता राय**

262, सोहबतिया बाग
इलाहाबाद

आभार

कहते हैं कि संशय ही न हो तो शोध व समाधान संभव नहीं और यह सब कुछ जिज्ञासु शोधार्थी के साहस धैर्य व विवेक पर आधृत है, जो निश्चय ही ज्योतिष्मान् परमेश्वर की अनुकम्पा व गुरु–प्ररेणा से जीवंत बन सकता है । प्रस्तुत कृति मेरे शोध–प्रबन्ध का प्रकाशित स्वरूप है। एतदर्थ मैं परमेश्वर के प्रतिशिरसा नमन करते हुए गुरुजनों, स्वजनों,सहधर्मी-मित्रों सभी के प्रति हृदय से आभारी हूँ ।

शोध निर्देशक, यूँ तो शोध कार्य में प्रमुख सहयोगी होता है किन्तु उसके प्रति आभार व्यक्त करना उसकी गरिमा को कम करना होता है तथापि मैं कृतज्ञ हूँ अपने शोध –निर्देशक सम्मान्य श्रीयुत् माताप्रसाद त्रिपाठी, उपाचार्य ,प्राचीन इतिहास,पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति ।

अनेक प्रेरक विन्दुओं पर बहुमूल्य सुझावों के लिए पूज्य गुरुप्रवर प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक (संप्रति नेशनल फेलो)के प्रति मै नत मस्तक हूँ तथा पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० शैलनाथ चतुर्वेदी तथा सहधर्मी मित्रों में सर्वश्री कृष्णानंद त्रिपाठी, ईश्वर शरण विश्वकर्मा, राजेशनाथ त्रिपाठी, राम प्यारे मिश्र, श्रीमती शशिवाला श्रीवास्तव, राम मनोहर मिश्र व अरनीत कौर के प्रति, मैं उनके अनेकविध सहयोग के लिए अनुगृहीत हूँ।

परिजनों-स्वजनों में सभी ने मुझे सत्प्रेरित किया– इनमें पिताश्री की आकांक्षा कि मेरी पुत्री डाक्ट्रेट अवश्य करले, अविस्मरणीय है किन्तु इससे भी अधिक मार्मिक है मेरी जननी का इसी अवधि में कराल काल द्वारा विछोह! इस कृति के प्रत्येक पृष्ठ पर मेरी माँ की स्नेहमयी छवि व उसके आशीष प्रतिविम्बित हैं । यह कृति उसी दिवंगता माँ के प्रति सहज भाव से समर्पित है ।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के प्रणयन में सामग्री संकलन हेतु रामनगर, काशी स्थित अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज के ग्रंथालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, प्रयाग विश्वविद्यालय, केन्द्रीय ग्रंथालय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर स्थित रेलवे लाइब्रेरी व गोरक्षपीठ ग्रंथालय तथा कतिपय अन्य पुस्तकालयों के प्रति मैं अपने आभार व्यक्त करती हूँ । रामनगर स्थित अमेरिकन इंस्टीट्यूट ने छाया चित्र प्रकाशित करने की अनुमति के साथ अपेक्षित छाया चित्र उपलब्ध कराया ; इसी तरह प्रो० प्रमोद चंद्र (हार्वर्ड विश्वविद्यालय, सं० रा० अमेरिका)ने कतिपय छाया चित्रों की प्रकाशनार्थ अनुमति देकर हमें अनुगृहीत किया । मैं उक्त संस्थान व प्रो० चंद्र के प्रति अतिशय आभारी हूँ ।

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली ने प्रकाशनानुदान देकर मेरे शोध कार्य को सार्थक बनाया। उक्त प्रकाशनानुदान और आदरणीय डॉ० देवी प्रसाद तिवारी तथा तरुण प्रकाशन लखनऊ के सौजन्य का ही परिणाम है कि यह कृति प्रकाश में आ सकी।सुरुचि पूर्ण मुद्रण, प्रकाशन व प्रस्तुतीकरण के लिए डॉ. तिवारी के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता ।

अन्ततः यही कहना चाहूँगी कि प्रस्तुत कृति मे जो दोष है वह मेरा है और जो श्लाध्य है वह भगवत् कृपा ।

गुरु पूर्णिमा
विक्रमीय सं० 2052

गीता राय

संकेत सूची

ए.एस.आई.ए.आर.	आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट
ए.एस.आई.आर.	आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट्स
ए.बी.ओ.आर.	एनाल्स ऑफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट
बी.डी.सी.आर.आई.	बुलेटिन ऑफ डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट
सी.एच.आई.	कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया
डी.एच.आइ.	डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी
इ.बी.	इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका
इ.आर.इ.	इन्साक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स
ई.एच.आई.	इवोल्यूसन ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी
आई.ए.	इण्डियन एण्टिक्वरी
आई.एच.क्यू.	इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली
जे.ए.एच.आर.एस.	जर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टॉरिकल सोसाइटी
जे.बी.ओ.आर.एस.	जर्नल ऑफ बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी
जे.बी.आर.एस.	जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी
जे.आई.एच.	जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री
जे.आई.एस.ओ.ए.	जर्नल ऑफ इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट
जे.के.यू.	जर्नल ऑफ कर्नाटक यूनिवर्सिटी
जे.एन.एस.आई.	जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया
जे.ओ.एच.एस.	जर्नल ऑफ उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
जे.ओ.आई.	जर्नल ऑफ ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट
जे.ओ.आर.	जर्नल ऑफ ओरिएण्टल रिसर्च
जे.आर.ए.एस.	जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी
क्यू.जे.एम.एस.	क्वार्टर्ली जर्नल ऑफ मिथिक सासाइटी
सैक्रिड.	सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट
वी.आई.जे.	विश्वेश्वरानन्द इण्डोलॉजिकल जर्नल

चित्र परिचय

चित्र सं.	विवरण	प्राप्तिस्थान	काल
1.	मागी पुरोहित, हाथ में बरसम लिए हुए	ऑक्सस निधि	7 वीं -छठी शती ई. पूर्व
2.	"(अर्धभाग)	"	"
3.	मगु–पति कार्तिर	नक्श–ए–रुस्तम	ससानी काल
4.	तक्षशिला के मन्दिर की रूप रेखा	तक्षशिला	पार्थियनकाल
5.	मार्तण्ड मन्दिर का सभा मण्डप	कश्मीर	आठवीं श.ई.
6.	मोढ़ेरा सूर्य मन्दिर का सभामण्डप	मोढ़ेरा (गुजरात)	11वीं श.ई.
7.	कोणार्क मन्दिर का सभा मण्डप	कोणार्क (उड़ीसा)	
8.	गोप का सूर्य मन्दिर	गोप (काठियावाड़)	छठीं श.ई.
9.	पलेठी का सूर्य मन्दिर	पलेठी (गढ़वाल)	7वीं श.ई.
10.	मार्तण्ड मन्दिर	कश्मीर	8वीं श.ई.
11.	ओसिया का सूर्य मन्दिर	ओसिया (राजस्थान)	9वीं श.ई.
12.	मोढ़ेरा का सूर्य मन्दिर	मोढ़ेरा (गुजरात)	11 वीं श.ई.
13.	कोणार्क मन्दिर	कोणार्क (उड़ीसा)	12 वीं श.ई.
14.	दक्षिण भारतीय शैली	हलेविद (कर्नाटक)	12 वीं श.ई.
15.	बोध गया का सूर्यांकन	बोध गया	प्रथम श.ई.पू.
16.	सूर्य की बैठी हुई प्रतिमा	मथुरा	चौथी श.ई.
17.	सूर्य की रथासीन प्रतिमा	मथुरा	पाँचवी श.ई.
18.	सूर्य प्रतिमा	मथुरा	7वीं श.ई.
19.	सूर्य प्रतिमा	ओसिया	8वीं श.ई.
20.	सूर्य प्रतिमा	तुरपट्टी महुअवा	9वीं श.ई.
21.	सूर्य प्रतिमा	कोणार्क (उड़ीसा)	13वीं श.ई.

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रोचना	V-VIII
प्राक्कथन	IX-XVII
आभार	XVIII
संकेत सूची	XIX
चित्र परिचय	XX
प्रथम अध्याय — अभिज्ञान,	1-10
मघःमोघु मगु = मग, अर्थवत्ता : भाषा वैज्ञानिक विवेचन, मघ : मोघु, अरुर्मघ : भिषग् : मग, मग : मागी – सगोत्र अथवा ध्वनि साम्य शब्द–तालिका	
द्वितीय अध्याय — मग : स्रोत, इतिवृत्त एवं वैशिष्ट्य	11-29
भारतीय संदर्भ स्रोत, ईरानी–यूनानी स्रोत, सेमेटिक व नॉन सेमेटिक़ स्रोत, भारतेरानी परम्परा : मूल स्रोत, इतिवृत्त, पौरोहित्य व्यवस्था, पौरोहित्य वर्गीकरण, मागी प्रतीक, ज्योतिष, स्वप्न विचार, अभिचार, विवाह–रीति, अंत्येष्टि–विधान	
तृतीय अध्याय — मगः अभ्युदय एवं प्रसार की चार धाराएँ	30-42
प्रथम धारा : वैदिक काल, द्वितीय धारा : बौद्ध काल, तृतीय धारा : शक कुषाण काल, चतुर्थ धारा : गुप्तोत्तर काल	

चतुर्थ अध्याय — मागी प्रभाव : धर्म एवं समाज 43-77

सौर प्रतीकत्व, सौर पूजा विधान, सौर व्रत, सूर्य एवं सूर्यकुल, वर्ण व्यवस्था की मागी अवधारणा, संस्कार, उपनयन, विवाह, अंत्येष्टि, सौर सम्प्रदाय

पंचम अध्याय — मागी प्रभाव : भेषज, अभिचार एवं ज्योतिष 78-90

भेषज, अभिचार, ज्योतिष

षष्ठ अध्याय — मागी प्रभाव : कला 91-117

सौर मन्दिर : पृष्ठभूमि, प्राचीन सूर्य मन्दिरों का एक संक्षिप्त विवरण, सौर मन्दिर निर्माण : स्थापत्य शास्त्रीय अवधारणाएँ, प्रमुख सौर मन्दिर, सौर प्रतिमाएँ, कतिपय मागी प्रतिमान, सौर प्रतीकों एवं मानवीकृत सूर्य का मुद्रांकन, मानवीकृत सूर्य के अंकन की परम्परा

सप्तम अध्याय— उपसंहार 118-121

परिशिष्ट 122-154

शाकद्वीप के पहचान की समस्या, मागी परम्परा के तीन प्रमुख सौर केन्द्र, शाकद्वीपीय ब्राह्मणों के 72 पुर, 18 एवं 16 गोत्र तथा वेदोपवेदादि, अभिलेखों के अंश, प्रतिमा शास्त्रीय सन्दर्भ स्रोत

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 155-166

मानचित्र-शकस्थान 167

शब्दानुक्रमणी 169-176

चित्र फलक 177-182

प्रथम अध्याय
अभिज्ञान

मघ : मोघु < मगुस = मग

मग–जनों के प्रारम्भिक स्रोत इतने विरल और उनकी प्रवृत्ति के समान ही इतने रहस्यात्मक हैं कि उनके अभिज्ञान की समस्या अत्यन्त जटिल कही जायगी । जटिलता का यह बोध भारतेरानी परम्परा अथवा मध्येशियायी इतिहास के अध्येताओं ने बराबर किया, किन्तु दुर्भाग्यवश "मग" थे कौन, इसे वे स्पष्ट न कर सके । एतत्सम्बन्धी आधार–स्रोत, इतिवृत्त और वैशिष्ट्य पर हमने अगले अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला है । प्रस्तुत अध्याय में, मगों के अभिज्ञान का पहली बार सतर्क प्रयत्न करते हुए हमारा दृढ़ विश्वास है कि "मग" भले ही इस नाम से, भारत में वेदोत्तर काल में ही ख्यात हुए, इनका मूल स्वरूप ऋग्वेद में "मघ" था और अवेस्ता में यही शब्द ध्वनि–साम्य व अर्थसाम्य दोनों ही रूपों में था "मोघु" । वस्तुतः आर्यों की अनेक धाराओं में एक धारा सम्भवतः प्राक् ऋग्वेदीय अथवा प्राक् भारतेरानी काल में विकसित हुई थी – मद्य < मग–संस्था के रूप में ।

अर्थवत्ता : भाषा वैज्ञानिक विवेचन

प्राचीन मग या मगुस् के अनेक अर्थ किये गए हैं । कारनॉय[1] ने इसकी अर्थवत्ता स्पष्ट करने के लिए दो ग्रीक शब्दों (μnxavn, Maxáwn) से इसकी तुलना करते हुए इसका अर्थ किया है – सहायक एवं भिषग । तात्पर्य यह कि मग था रोग का निदान करने वाला भिषग् एवं दुष्टात्माओं को दूर करने वाला ओझा । मग का यह अर्थ उनके क्षेत्र विशेष में पारंगत होने के कारण किया गया प्रतीत होता है । अपनी इन विशेषताओं के कारण वह था सबका सहायक । मॉल्टन[2] ने मग को गॉथिक मगुस् से सम्बद्ध किया है जिसका अर्थ है "सेवक" । भाषाविद् ब्रग्मन्[3] ने "मग–उ" (Mag–u) का अर्थ प्राचीन ईरानी संदर्भ में दास तथा भृत्य किया है । सी.डी.बक[4] ने भी इसका अर्थ भृत्य माना है । बक ने मग की अर्थवत्ता के क्रम

---

1. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड–8, पृ. 242 पर उद्धृत ।
2. मेरी वॉयस,अर्ली जोरोस्ट्रिअनिज्म, पृ.424–30, माल्टन ने वस्तुतः गॉथिक "मगुस्" और प्राचीन आइरिश "मग" से इसे सम्बन्धित करते हुए इसका मूल अर्थ "किशोर बालक" माना है । परवर्ती अवेस्ता में "मगव"(अविवाहित) शब्द से भी इसकी पुष्टि होती है । द्रष्टव्य, गया चरण त्रिपाठी, वैदिक देवता, भाग–1, पृष्ठ 60 ।
3. ब्रग्मन – 2.228, अन्यत्र (2.317) ब्रग्मन ने गॉथिक मग–उ–स् और प्राचीन स्लाव मग–उ का अर्थ माना है "बालक"–प्राचीन ईरानी "मग" इनसे सम्बंधित होकर दास, भृत्य अर्थ देता है ।
4. सी. डी. बक, ए डिक्शनरी ऑफ सेलेक्टेड सिनोनिम्स इन द प्रिन्सिपल इण्डो–यूरोपियन लैंग्वेजेज, 1942, पृ. 1332

में ध्वनि–साम्य ईरानी शब्द मग् का भी अर्थ किया है । अर्थ है – अन्न । अन्यत्र[1] मग का अर्थ आदरणीय किया गया है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मग के यद्यपि अनेक अर्थ किये गए परन्तु इसका सर्वाधिक प्रयोग देव–पूजक एवं सेवक अर्थ में हुआ । यूनानी स्रोतों से हमें ज्ञात है कि हखामनीष काल में "मगुः मागी" ईरानी समाज में पौरोहित्य, देवपूजा–कर्म के विशेषज्ञ थे । पूजा–कर्मकाण्ड–ज्ञान में वे स्तुत्य थे । ज्ञातव्य है कि न केवल पौरोहित्य अपितु, भविष्य–वक्तृत्व, मंत्र–तंत्र–ज्ञान आदि आभिचारिक क्रियाओं से भी मगों का घनिष्ठ सम्बन्ध था[2] । मग का सेवक अर्थ में प्रयोग दो सम्भावनाओं की ओर इंगित करता है – एक तो यह कि वे थे देवताओं के सेवक, पुरोहित के समान तथा दूसरे वे थे उस प्राचीन समुदाय से सम्बन्धित जिसका ईरानियों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति ने ऐतिहासिक काल में अपने में समाहार कर लिया था ।

सेमेटिक भाषा में प्रचलित "मग" शब्द का ध्वनि साम्य, एक शब्द था "इम्ग", उसका अर्थ था "आदरणीय" । बेबीलोन में रहने वाले अ–सामी (Non–Semetic) मूल के प्रबुद्ध व देवपूजक वर्ग को बेबीलोन में इम्ग कहा जाता था । इससे ध्वनित होता है बेबीलोन में वर्ग विशेष को इम्ग संज्ञा प्राप्त थी और यह अ–सामी मूल की भाषा से हमें ज्ञात है । इम्ग और मग भले ही सगोत्र न हों, ध्वनि साम्य अवश्य लगते हैं[3] ।

किन्तु उपर्युक्त भाषा वैज्ञानिक विवेचन से कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता जिससे मग का मूलार्थ – अभिज्ञान स्थापित किया जा सके । वस्तुतः "मग" शब्द का अर्थ–विकास किस प्रकार हुआ, यह भी उक्त विवेचन से स्पष्ट नहीं है । मॉल्टन की यह धारणा इसको और भी विवादास्पद बनाती है कि मग न तो आर्य थे और न सेमेटिक । मॉल्टन के सिद्धान्त के अनुसार मग अथवा मागी किसी एक अनार्य जाति से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं[4], किन्तु मॉल्टन का यह सिद्धान्त भ्रामक अतः त्रुटिपूर्ण है । उपलब्ध सम्बद्ध सन्दर्भ–स्रोत के आधार पर (जिसका विवेचन हम आगे करेंगे) भारत–ईरानी मघ शब्द पर विचार न करने के कारण ही मॉल्टन को यह भ्रान्ति हुई ।

अपने शोध कार्य के निमित्त सामग्री–संकलन और उसके विश्लेषण के दौरान हमारा ध्यान बरबस ही मग के ध्वनि साम्य ऋग्वेदीय "मघ" की ओर चला जाता था किन्तु अधिकांशतः इन्द्र के विशेषण रूप में प्रचलित यह शब्द, सम्यक् विवेचन के पूर्व,

1. एटिमोलॉजिकल डिक्शनरी ऑफ इंगलिश लिटरेचर, पृ. 301
2. द्रष्टव्य : प्रस्तुत पुस्तक का अध्याय 2
3. तत्रैव ।
4. अवेस्ता में धार्मिक विचारों का जो सम्मिश्रण दिखाई देता है उसमें दो पृथक् धाराओं की बात की जाती है । एक प्राचीन आर्य धर्म के देवताओं तथा देवकथाओं की तथा दूसरी जरथुस्त्र तथा मागियों के आर्येतर धर्म की । मॉल्टन, ई.आर.ई. 7, पृ.498, विस्तार के लिए द्रष्टव्य वैदिक देवता, उद्भव एवं विकास, भाग–1, पृ. 65-66

विशेषण मात्र ही प्रतीत होता था । इसमें संदेह नहीं कि यह शब्द ऋग्वेद में अपने अर्थ–विकास के त्रिविध चरणों का द्योतन करता है । अतः प्रथमतः मघ की अर्थवत्ता व उसके अर्थ–विकास के अन्तिम चरण में मग से उसके अभिज्ञान की समस्या विवेचनीय है। संयोगात् इसी अवधि में प्रो. वि.श.पाठक का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शोध, "पुरोवाक्" रूप में एक ग्रन्थ (बौद्ध संघ का आरम्भिक विकास : सीताराम दुबे, पूर्वा प्रकाशन, गोरखपुर, 1988) में प्रकाशित हुआ है। तदनुसार "ऋग्वेदीय–आवेस्तिक मघ : मोघु ही मग का प्राक्रूप हैं" । इसमें सन्देह नहीं कि इस नवीन दृष्टि से हमें मगों की अवधारणा व उनका मघों के साथ तादात्म्य स्थापित करने में प्रामाणिक बल प्राप्त हुआ । अभिज्ञान की पुष्टि के लिए ऋग्वेदीय "मघ" पर किंचित् विस्तार से प्रकाश डालना अभीष्ट है ।

मघ : मोघु

ऋग्वेद में मघ[1] अनेक रूपों में (यथा–मघवन् या मघवा, मघोनी, मघत्ति, मघवत् या मघवंत जैसे शब्द) परिज्ञात है । 'मघवा' पुल्लिग है, जो अधिकांशतः इन्द्र के लिए प्रयुक्त है, अर्थ है मघ–युक्त । 'मघोनी' स्त्रीवाची है, वहाँ अर्थ है, मघवती अथवा मघ–युक्ता । ये शब्द मनुष्यों व देवताओं दोनों के लिए विशेषण रूप में प्रयुक्त हैं[2] ।

जहाँ तक मघ के मूल अर्थ का प्रश्न है, निघण्टु (2.10) की धन नाम सूची में "मघ" की गणना हुई है और निरुक्त (1.7.1) में इसी अर्थ की अभिव्यक्ति है – "मघमिति धननाम धेयं मंहतेर्दान कर्मणः" यहाँ मघ शब्द दानार्थक मंह् से निष्पन्न माना गया है । एतदर्थ पुष्टि के लिए कतिपय वैदिक मन्त्रों का उद्धरण दिया जाता है यथा स्तोतृभ्यो मंहते मघम् (1.11.3) मंहिष्ठासो मघोनाम् (8.1.30), शूरो मघा च मंहते (9.1.90) आदि । एक ऋग्वेदीय ऋचा[3] जिसे कि यास्क ने उद्धृत किया है, में उल्लिखित है दक्षिणा मघोनी । मन्त्र इस प्रकार है:–

> नूनं सा ते प्रतिवरं जरित्रे
> दुहीयदिन्दुः दक्षिणा मघोनी ।
> शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्
> भगोनो वृहद्वदेम विदथे सुवीराः ।।

---

1. वैदिक इण्डेक्स, भाग–2, पृ. 118, 296 एवं 465 मैक्डॉनेल एवं कीथ मघ का अर्थ मानते हैं, धन और मघवन् का अभिप्राय पुजारियों के लिए, उदारदाता । मघवन कोई विशिष्ट पद था अथवा यह वैदिक समाज के एक वर्ग विशेष को ध्वनित करता है, वैदिक इण्डेक्स के लेखकों को यह संदिग्ध लगता है । देखिए, तत्रैव, भाग–2, पृ.118
2. वैदिक इण्डेक्स, यथोपरि निर्दिष्ट ।
3. ऋग्वेद, 2.11.21, व्याख्या के लिए द्र. निरुक्त का पाँचवां अध्याय, पृ. 100–103

"इन्द्र तुम्हारी जो "मघोनी" दक्षिणा स्तोता का मनोरथ पूरा करती है, उसे हमें दो । तुम यजनीय हो । हमें छोड़कर और किसी को भी नहीं देना । पुत्र–पौत्र युक्त हम यज्ञ में प्रभूत स्तुति करेंगे।"

इस मंत्रार्थ का मन्तव्य है कि दक्षिणा मघवती इसलिए है क्योंकि वह देव–स्तुति से प्राप्तव्य है । साधारणतया 'मघोनी' को धनार्थक मघवती माना जाता है । उपर्युक्त मन्त्र में मघोनी दक्षिणा का प्रयोग यज्ञ कराने के पारिश्रमिक के रूप में ऋत्विज को दिये जाने वाले धन[1] को प्रकट करता है । इस सन्दर्भ से इतना तो स्पष्ट ही है कि दक्षिणा दी जाती थी धर्म–कृत्य के निमित्त और धर्म–कृत्य कराने वालों का एक वर्ग था, एक समुदाय था जो पीढ़ियों से यह कार्य करता चला आ रहा था, उक्त मंत्र के उत्तरार्द्ध में यही कामना अगली पीढ़ियों के लिये की गयी है । ध्यातव्य है कि यह वर्ग सम्बद्ध दिखाई देता है मित्रावरुण[2] से –

> युवं मित्रेमं जनं सं च नयथः ।
> मा मघोनः परिख्यातम् ।।

"हे मित्रा वरुण, इस जन की नियति निर्धारित करो, हम मघो का परित्याग मत करों"।

मंह् पूजार्थक भी है (मंह पूजायाम्–पाणिनि, 1.627)[3] इस प्रकार मघ शब्द की निष्पत्ति यदि दानार्थक मंह् धातु से मान ली जाय तो मघ उस वर्ग के सदस्य (पुरोहित अथवा ऋत्विज) को कहेंगे जो देव–पूजा कर्म के लिए सेव्य (वृत्ति) प्राप्त करता था, किन्तु ऐसा नहीं लगता कि "मघ" साधारण दान (प्राप्तव्य) को ध्वनित करता है । मघ में व्यंजना है सेव्य की। पाणिनीय धातु पाठ समीक्षा में मण्डनार्थक मंघ् (मघि) धातु (1.158) का निर्देश है[4] और इसी के अन्तर्गत मण्डनार्थक मंग् (मगि) तथा पूजार्थक मह् (महपूजायाम्) उपवर्णित है; 'मघवा'शब्द इसी धातु से सम्बद्ध है । अस्तु इस बात की सम्भावना अधिक है कि मघः मग मूलतः मंघ् धातु से निष्पन्न हुए हों । इस तरह ऋग्वेदीय ऋचाओं में प्रयुक्त "मघ" प्रारम्भ में सेवक–सेव्य अर्थ को ध्वनित करता था, ऐसा प्रतीत होता है ।

यह शब्द (मघ) अर्थ–विकास के दूसरे चरण में सेवक या देव–पूजक अर्थ व्यक्त करने लगा जैसा कि उपरिनिर्दिष्ट ऋग्वेदीय मंत्र (5.65.6) से स्पष्ट है । मघ के अर्थ–विकास का तीसरा व अन्तिम चरण सम्प्रदाय–बोधक है जिसका संकेत हमें, ऋग्वेद या अन्य

---

1. शतपथ ब्राह्मण, 4.3.4.7 में चार प्रकार की दक्षिणा का उल्लेख है – "चतस्त्रो वै दक्षिणाः हिरण्यं, गौ :, वासोऽश्वः" ।
2. ऋग्वेद – 5.65.6
3. पाणिनीय धातु पाठ समीक्षा, पृ. 345
4. पाणिनीय धातु पाठ समीक्षा, पृ. 348

संहिताओं में नहीं, अवेस्ता में प्राप्त है । ऋग्वेदीय मघ का सगोत्र अवेस्ता (यस्न–65.7) में कहलाता था "मोघु" । इस शब्द का प्रयोग यद्यपि वहाँ विरल है पर यह ऋग्वेदीय मघ का ही रूपान्तर है । आगे यह स्पष्ट होगा कि आवेस्तिक "मोघु" ही हखामनीष–सासानी काल में मगुस् : मगु रूप प्राप्त करता है, सम्प्रदाय अर्थ में[1] । ध्यातव्य है कि मघ : मोघु का सम्प्रदाय बोधक अर्थ भी ऋग्वेदीय–आवेस्तिक वाङ्मय में अस्पष्ट रूप से ही सही, विद्यमान है । हाँ, उत्तर वैदिक वाङ्मय में इसका अभिधार्थ अधिक स्पष्ट हुआ जब इसके एक गुण विशेष को प्रकट करने के लिए मघों की नहीं, अपितु अरुर्मधों की चर्चा हुई, एक गाथा में। वहाँ अरूस् या अरून् विशेषण के साथ मघ इन्द्र का विरोधी माना गया । इस शब्द और इसके रूपान्तर की अर्थवत्ता को स्पष्ट करने के लिए ध्यातव्य है कि मघ, मख और मह प्रायः समानार्थक दिखाई देते हैं । शतपथ ब्राह्मण की एक गाथा (14.1.1.13) के अनुसार इन्द्र के प्रत्यक्षतः मखवान् और परोक्षतः मघवान् होने का संकेत है – ....स उ एव मख सः विष्णुः । तद् इन्द्रो मखवानभवन्मखवान् ह वै तं मघवानित्या चक्षते परीक्षम् । मेरी बॉयस[2] ने आवेस्तिक मॅघु या मोघु को जाति सूचक माना है और अवेस्ता के यश्न 65.7 में प्रयुक्त पद "मोघु–त्बिस"की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, जिसका अभिप्राय है "मॅघु के प्रतिकूल"[3] । इस सन्दर्भ में प्रो. विश्वम्भर शरण पाठक[4] के विचार समीचीन प्रतीत होते हैं जिनके अनुसार "शाकद्वीपीय "मग–जन" के प्राचीन साक्ष्य अवेस्ता के गाथा भाग में सुरक्षित हैं। इन्हें वहाँ मॅघु और ऋक् संहिता में मघ कहा जाता था । यह परम्परा भारत–ईरानी है । कुछ पश्चाद्वर्ती पूजा–तत्वों को छोड़कर मूल परम्परा भारतीय आर्यों की ही एक शाखा की देन है ।"

इस शब्द का कई चरणों में अर्थ–विकास हुआ । मूल स्तर प्राक् ऋग्वेदीय अथवा प्राक् भारतेरानी माना जा सकता है । "मघ" का प्राथमिक अर्थ था सेवक–वृत्ति तदनंतर इसका अर्थ हुआ "सेवक", यह सेवा–कार्य देव–पूजन था जिसके लिये उन्हें पारिश्रमिक रूप में दक्षिणा प्राप्त होती थी । यह शब्द अंततः सम्प्रदाय बोधक हो गया, जिसका स्पष्ट स्वरूप परिलक्षित होता है । प्राचीन ईरान में (प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्यत्र जिसका विस्तृत विवेचन है)। ध्यान देने की बात यह है कि यह वर्ग प्रारम्भ से सूर्य–अग्नि–पूजक रहा है । मघ–मगु के प्रारम्भिक वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि प्राचीन आर्यों के अनेक वर्गों में एक वर्ग ऐसा भी था जो भेषज्य विद्या, जादू–टोना, ज्योतिष इत्यादि विधाओं से अत्यन्त पुरातन युग से जुड़ा था । इन कृत्यों के लिए वे धन प्राप्त करते थे अस्तु उनको मघ नाम देना सार्थक–समीचीन प्रतीत होता है । अपने अभिचार–कर्म और ऐश्वर्यशाली होने

---

1. द्र., सगोत्र शब्द–तालिका ।
2. मेरी बॉयस, हिस्ट्री ऑफ ज़ोरोस्ट्रियनिज्म, भाग–2, पृ. 19
3. यस्न–65.7 मा नो आपो दुश्मनङ् हे मा नो आपो दुज़्वचङ् हे मा नो आपो दुश्श्यओथनाई मा दुज़्दअेनाई मा हषि–त्विषे मा मोघु–त्विषे मा वरॅज़ानो–त्विषे मा नाफ़्यो–त्विषे ।
4. द्र. पुरोवाक् : बौद्ध संघ का आरम्भिक विकास, (सीताराम दुबे) ।

के कारण वे आर्यों के बीच में ही द्वन्द के कारण बने और असुर समर्थक त्वाष्ट्र, विश्वरूप, वृत्र आदि के साथ उनकी परिगणना इन्द्रद्विषों के वर्ग में हुई । एतदर्थ ध्यातव्य है समस्त पद अरुर्मघ, जो वस्तुतः अद्यावधि एक अव्याख्यात पद रहा है ।

अरुर्मघ : भिषग् : मग

यह विशेष रूप से अवधेय है कि ऋग्वेदीय 'मघ' क्लैसिकल संस्कृत काव्यों तक अपने मूल अर्थ में ही मिलता है । उसका अर्थ–विकास ईरान में सम्प्रदाय से सम्बद्ध हुआ यद्यपि उसकी पृष्ठभूमि भारतेरानी रही है । हाँ, उत्तर वैदिक वाङ्मय में इस वर्ग के एक स्वरूप का संकेत स्पष्ट है । इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए ऐतरेय तथा कतिपय अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित अरुर्मघ पर विचार करना अनिवार्य प्रतीत होता है । इस समस्त पद के तीन रूपान्तर मिलते हैं – अरुर्मघ (ऐतरेय ब्राह्मण 7.22), अरुर्मख (जैमिनीय ब्रा.2.134, शां. आ. 5.1) और अरुन्मुख (कौषीतकि उप. 3.1) जैसा कि हमने आरम्भ में ही कहा, यह एक अतिशय विवादास्पद अस्तु भ्रामक अर्थ रखने वाला पद समझा गया है जिस पर अभी हाल ही में सर्वप्रथम सार्थक विचार प्रस्तुत किया प्रो. पाठक ने, जिनका निष्कर्ष है कि "अरुर्मघ" भारतेरानी देवोपासक थे और वे ऐसे भिषग् थे जो विशेष रूप से रक्त–स्राव की चिकित्सा करते थे[1] । उक्त त्रिविध समस्त पदों में दो शब्दों का योग है यथा – अरुस् + मघ अथवा अरुस् + मख अथवा अरुन + मख या मुख । इन तीन रूपों में एक ओर पूर्वार्द्ध अरुस् या अरुन है जिसका अर्थ है घाव या प्रण[2] तो उत्तरार्द्ध है मघ, मख अथवा मुख । "मुख" शब्द निरर्थक प्रतीत होता है और मघ एवं मख (समानार्थक धातु वाले शब्द) पर हम विचार कर ही चुके हैं । समस्त पद "अरुर्मघ" में पहला पद है, "अरुस्"– इसके "उस्" प्रत्यय के "स" का वैदिकी भाषा में कभी–कभी लोप हो जाता है यथा 'अरुस्राण' शब्द में (द्र. अथर्ववेद 2.3.3 पर ह्विटने की टिप्पणी) और कहीं पर "न्" का आगम हो जाता है उदाहरण के लिए अरुन् पद में (द्र. टी. बरो, संस्कृत, पृ. 160) । मैक्डॉनल ने वैदिक भाषा के व्याकरण पर विमर्श करते हुए इस पद को पुल्लिग और विशेषण रूप में प्रयुक्त माना है (द्र. ए वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडेन्ट्स : 83 : 2 : द्र., पृ. 60) । अरुस् का सामान्य अर्थ है – घाव या व्रण (द्र. आप्टे : संस्कृत – इंगलिश – डिक्शनरी) ।

अब इस समस्त पद "अरुर्मघ" के अभिधार्थ के अभिज्ञान के लिए कतिपय उद्धरणों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है । प्रसंगवश यह संदर्भ एक विशिष्ट गाथा के रूप में है। ऐतरेय ब्राह्मण (7.28) में उल्लिखित गाथा इस प्रकार है – "यत्रेन्द्रं देवताः पर्यवृन्जन

---

1. प्रो.वी.एस. पाठक, तत्रैव ।
2. लौकिक संस्कृत में अरुस्, अरुस्क, अरुस्कर आदि शब्द मिलते ही हैं । एक शब्द अमरकोश 3.1.83 में प्राप्त है "अरुन्तुद" (अरुषि तुदति) अर्थ है घावों को दुखने वाला, मर्मस्पृक । पाणिनि का एक सूत्र है अरूद्विषत् । "अरुस्" या "अरुन" प्रव्रण, घाव या अंग का वह स्थान जहाँ त्वचा न हो । उदाहरण के लिए "अरुर्वै पुरुषस्याक्षि" (शतपथ ब्राह्मण, 3.1.3.10) ।

विश्वरूपं त्वाष्ट्रमभ्यमंस्तु वृत्रमस्तृत यतीन सालावृकेभ्यः प्रादादरुर्मघानवधीद, वृहस्पतेः प्रत्यवधीदिति, तत्रेन्द्रं सोमपीथेन व्यार्ध्यतेन्द्रस्यानु ...." ।

"(एक बार) देवताओं ने इन्द्र को यज्ञ में परिवर्जित कर दिया तब वहाँ इन्द्र सोम–पान से वियुक्त हो गए । (अपराध थे) त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार डाला और वृत्र का वध किया, यतियों को भेड़ियों के सामने डाल दिया और अरुर्मघों का वध किया ...."।

उपर्युक्त गाथा में इन्द्र को सोम–पान से परिवर्जित किये जाने की घटना कम महत्वशाली नहीं है, अस्तु ध्यातव्य है कि इन्द्र प्रमुख वैदिक सोमपायी देव हैं । उक्त परिवर्जना इन्द्र के कतिपय दुष्कृत्य के कारण देवताओं द्वारा ही की गई । इन्द्र ने त्वाष्ट्र विश्वरूप का वध किया, वृत्र की हत्या की, यतियों को शस्त्र से छिन्न–भिन्न करके भेड़ियों के आगे डाल दिया, अरुर्मघों का वध किया और वृहस्पति को वाक्–विमर्श से पराजित, अतः अपमानित किया ।

इस गाथा की व्याख्या करने वाले प्रायः सभी भाष्यकारों व आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में उक्त सभी वर्ग के इन्द्र–शत्रु ब्राह्मण थे अथवा वे असुर या यति सम्बद्ध थे । सायणाचार्य ने उपने भाष्य में यतियों को असुर वेषान् यतीन् और अरुर्मघों को ब्राह्मण वेषान् असुरान् कहा है । सायण भाष्य को आधार बनाकर कुछ विद्वानों ने अरुर्मघों को अनार्य घोषित कर दिया है[1] । ऋग्वेदिक इण्डिया के लेखक विद्वान् डॉ. अविनाश चन्द्र दास (ऋग्वेदिक इण्डिया पृ. 154–156) ने अरुर्मघ को असुरमघवा प्रमाणित करना चाहा है । डॉ. विश्वम्भर शरण ने तैत्तिरीय संहिता (2.5.1.1) का एक उद्धरण दिया है जो विश्वरूप को देवपुरोहित सिद्ध करता है – विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत् स्वस्त्रीयो सुराणाम् ....स प्रत्यक्षे देवेभ्यो यागमवदत् परोक्षमसुरेभ्यः..... ।

"त्वष्ट्रा का पुत्र विश्वरूप देवों का पुरोहित था तथा असुरों का भागिनेय । वह प्रत्यक्ष रूप से देवों को बलि देता था और परोक्ष रूप से असुरों को" ।

---

1. द्र.ए.बी. कीथ, ऋग्वेदिक ब्राह्मणाज, पृ.314 । ब्राह्मण ग्रन्थों के अंग्रेजी–अनुवादक जे. एगलिंङ् (एस.बी.ई., भाग–12, पृ. 57 पा.टि. 1) ने बड़ी हिचकिचाहट से अरुर्मघों की पहचान "अरुरु" नामक दैत्य से कर डाली है । गाथा–संदर्भ पर वेबर (इंस्टु., 1.411), ए.सी.दास, ऋग्वेदिक इण्डिया, पृ.154-156 की टिप्पणियाँ भी द्रष्टव्य हैं । इन सभी विद्वानों ने अरूर्मघों को असुर, दैत्य अथवा अनार्य मान लिया है । ऐसा प्रतीत होता है कि ईरानी तत्वों के मागी परम्परा में, कालान्तर में समाविष्ट हो जाने के कारण यह धारणा बद्धमूल या रूढ़ होती गयी क्योंकि "वाचस्पतयम्" और 'शब्दकल्पद्रुम' के कोशकारों ने "मघ" शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए "मग नामके म्लेक्षदेश भेदे" अथवा सतु मग नामक म्लेच्छानां स्थानम् रूप में व्याख्यात किया है और मघों को म्लेक्ष माना है "मग"की याद दिलाते हुए । जो भी हो मघ और मग को समानार्थक मानने की परम्परा रही है ।

उल्लेखनीय है कि यही स्थिति (विश्वरूप की स्थिति) अरुर्मघ /अरुर्मख, यतियों की भी रही है । इस प्रकार त्वाष्ट्र, विश्वरूप, यति तथा अरूर्मघ पुरोहित और असुर-सम्बन्धी माने गए । प्रो. पाठक के विचार से यहाँ पर असुर से तात्पर्य अहुरोपासक प्राचीन ईरानियों से है।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ "मग" शब्द "मघ" रूप में मूलतः वैदिक अस्तु भारतीय रहा है । हम यह अनुभव करते हैं कि मागी प्रवृत्तियों का मूल उत्स भारतेरानी कालीन था । उत्तर वैदिक वाङ्मय और उत्तरवर्ती अवेस्ता काल में इस वर्ग विशेष की सांस्कृतिक प्रतिध्वनि किसी न किसी रूप में व्यक्त है ही, कम से कम "अरूर्मघ"कहकर ब्राह्मणकारों ने इनका सूत्र-संकेत भी दिया है । ध्यातव्य है कि अवेस्ता में जो मघु था वही आगे चलकर हखामनीष-सासानी काल में मगुस < मग होता गया, उक्त प्रवृत्ति से जुड़े वर्ग के सम्बोधन रूप में । हाँ, ऋग्वेदीय "मघ" अपने मूल अर्थ में ही विद्यमान रहा और इस शब्द का सम्प्रदाय बोधक अर्थ-विकास ईरान में ही फलीभूत हुआ ।

तालिका

मग : मागी : सगोत्र अथवा ध्वनिसाम्य शब्द

भाषा	शब्द	अर्थ	संदर्भ-स्रोत
छान्दस्	मघ	सेवक-सेव्यवृत्ति, सेवक	ऋग्वेद व अन्य संहिताएँ
अवेस्ता	मोघु	सेवक	यस्न 65.7
ब्राह्मण	अरुर्मघ	भिषग्	ऐतरेय ब्राह्मण 7.28
हखामनी-ससानी	मगुस्	पुरोहित अथवा पुजारी	बेहिस्तून अभिलेख
सेमेटिक	इम्गु	आदरणीय	चैम्बर्स इन्साइक्लोपीडिया, खण्ड – 8, पृ. 791
नॉन सेमेटिक	सग, संगु	प्रधान या प्रमुख	ई.आर.ई. खण्ड-10, पृ. 285
यूनानी	मगोस्, मगोइ	मगुस् का यूनानी रूप-पुजारी अर्थ में मगोई = जाति विशेष	हेरोडोटस 1.105

लातीनी	मगुस्	पुरोहित या पुजारी	ई.आर.ई., खण्ड–8, पृ. 242
गोथिक	मग्–उ–स्		ब्रग्मन 2.317
सीरियाई	मगुसाई	ऐन्द्रजालिक, भविष्यवक्ता	ई.बी., खण्ड–14, पृ.570
संस्कृत	मग, मगाः	ब्राह्मण भूयिष्ठ सूर्योपासक	साम्ब, भविष्य, अन्य पुराणों एवं अभिलेखों में वर्णित
अरबी	मजुज़	ईरानी पुरोहित	मेयर हॉफर 2.544

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि मग, जो शाकद्वीपीय ब्राह्मण रूप में ख्यात हैं, मूलतः आर्यों की एक भिन्न प्रवृत्ति से अभ्युदित हुए जिनकी अपनी विशिष्ट धार्मिक पहचान बनी उस क्षेत्र में जहाँ आर्यों की ईरानी शाखा पल्लवित हुई । इस अभिज्ञान के कतिपय समर्थित साक्ष्यों पर हम ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं ।

(1) उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मघ शब्द के अर्थ–विकास का अन्तिम रूप मगुस सम्प्रदायवाचक व्यक्ति (अथवा वर्ग) ईरान में फलीभूत हुआ पर इस वर्ग विशेष की झलक ऋग्वेदीय ब्राह्मण–गाथा में प्रतिबिम्बित है । "अरुर्मघ" की पहचान से सम्बन्धित विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि वे (अरुर्मघ)रक्त–स्राव के चिकित्सक अतः भिषग् थे – सम्भवतः भिषग् ब्राह्मण ।

(2) ऐसा प्रतीत होता है ऋग्वेदीय काल में, 'सोम' पर जिस किसी प्रकार उस ब्राह्मण वर्ग का वर्चस्व होता गया था जो इन्द्रोपासक नहीं थे । इन्द्र द्वारा (पूर्वोल्लिखित) ब्रह्महत्या–दोष के कारण देवताओं द्वारा सोम–पान की परिवर्जना आखिर क्या है? कुछ इसी प्रकार की स्थिति ईरान में जरथुस्ट्रीय धर्म के अभ्युदय काल में दिखाई देती है । इस तरह एक प्रवृत्तिगत द्वन्द्व की समानता परिलक्षित है ।

यह सुविदित है कि भारतेरानी परम्परा में "सोमःहओम" को समान रूप से अतिशय महत्वपूर्ण और अमरत्व साधन में समर्थ माना जाता था, तथापि जरथुस्त्र ने इसका अपने धर्म में पूर्णतः बहिष्कार किया । अवेस्ता के गाथा–भाग में कम से कम दो स्थल ऐसे हैं जहाँ जरथुस्त्र ने हओम के प्रति घृणा व्यक्त की है[1] ।

1. यस्न, 48.10 कदा मज्दा मॉनरोइश् नरो वीसॅते ।
कदा अजॅन मूथ्रॅम् अह्या मदह्या ।
या अइरया करपनों उरूपयेती ।
याचा खतू दुशॅ–क्षथ्रा दख्युनॉम् । ।

"जरथुस्त्र अहुरमज्दा से प्रार्थना करता है कि तुम इस मादक द्रव्य के भ्रष्टाचार को कब दूर करोगे जिससे कर्पन (मागी पुरोहित) दुष्कर्म करते हैं" ।

यहाँ यद्यपि हओम शब्द नहीं है पर संकेत स्पष्ट है। सम्भवतः मागी पुरोहितों के बुद्धि–कौशल के कारण हओम के प्रति जरथुस्त्र की घृणा का कारण यह था कि उस समय तक हओम रस का मागियों के अनेक यातविक (आभिचारिक) कृत्यों में प्रयोग होता था । इस सन्दर्भ में वृष–हन्ता मिथ्र की उपासना की परम्परा उल्लेखनीय है[1] । ज्ञातव्य है कि जरथुस्त्र ने अहुरमज्दा की प्रतिष्ठा करके एकेश्वरवादी धर्म के प्रचार–प्रसार के साथ ही मिथ्र की उपासना का पूर्णतः बहिष्कार कर दिया था[2] और मिथ्र के स्थान पर अश्–बहिश्ता (ऋत) नामक अमेसस्पेन्ता की प्रतिष्ठा कर दी थी । मनोरंजक तथ्य यह है कि मग मिथ्रोपासक थे, किन्तु आरम्भ में मिथ्रोपासना ज़रथुस्त्र के द्वारा बहिष्कृत हुई, येन–केन प्रकारेण मगों का वर्चस्व बना रह गया । अन्ततः जरथुस्त्रीय परम्परा में ही मगों का अभ्युदय भी हुआ । यहाँ सबसे बड़ा प्रमाण अवेस्ता के मिहिर यस्त में 'मिथ्रः मिहिर' की प्रशस्ति का सुललित वर्णन है । मगों के मूल कर्म भैषज्य इत्यादि जब इनके सम्प्रदाय विशेष में जुड़ गए और मिथ्र < मिहिर एवं अग्नि इनके इष्ट देवता बन गए तो देव पूजक मग इस सम्प्रदाय (मागी मत) के प्रमुख बने, पुरोहित रूप में । देव–पूजन से अर्जित धन ही पहले "मघ" कहलाता था और इस मूलार्थ की अनुगूंज देने के साथ नवीन स्थिति को व्यक्त करने के लिए इस वर्ग को मगुःमग और इनकी जाति को मगोइ कहा गया । ये अपने गुण से ब्राह्मण थे, फलतः इन्हें बार–बार ब्राह्मण ही कहा–समझा गया । इस सन्दर्भ में रोचक बात यह है कि भारतीय परम्परा की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के प्रमुख अंग ब्राह्मण, मग ब्राह्मणों को हेय दृष्टि से देखते रहे पर शास्त्रों में इन्हें वेद वादी वर्ग में ही रखा गया है – अष्टादशकुलानीह मगानां वेदवादिनाम् (सा.पु. 26.48) । साम्बपुराण में मगों को वेद वादी परम्परा में रखा गया है । अन्यत्र भी इन्हें ब्राह्मणों के समान ही विशेष महत्व एवं सम्मान दिया गया है[3] । द्वितीय शताब्दी ई. में प्रसिद्ध भूगोल विद टॉलमी द्वारा उल्लिखित ब्राह्मनोइ मगोइ को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जा सकता है । वस्तुतः असुर यति से सम्बद्ध मघः अरूमघ ब्राह्मणों के ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे जो इन्द्रोपासक आर्य ब्राह्मणों से भिन्न थे[4] ।

---

1. गयाचरण त्रिपाठी, वैदिक देवता, भाग–1, पृ. 107; यूनानी भाषा में इस कृत्य को 'वाउफोनिया' कहा गया है । यह परम्परा उत्तर कालीन अवेस्ता के भाग में ज्ञात है । विस्तार के लिए द्रष्टव्य माता प्रसाद त्रिपाठी, भारतीय संस्कृति में वृषभ का प्रतीकत्व, (1967) गोरखपुर विश्वविद्यालय), अप्रकाशित शोध कृति ।
2. वैदिक देवता, भाग–1, पृ. 99
3. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अध्याय–3
4. तत्रैव ।
5. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, प्रो. पाठक, पूर्वोद्धृत ।

द्वितीय अध्याय

मग : स्रोत, इतिवृत्त एवं वैशिष्ट्य

मिहिरोपासक "मग" संस्कृत वाङ्मय (महाकाव्यों–पुराणों) से ज्ञात होकर भी संस्कृत भाषा का शब्द नहीं है। हमने प्रथम अनुच्छेद में एतत् सम्बन्धी मूल स्रोत ऋग्वेद व अवेस्ता के सन्दर्भों (मघ, मोघु, मग) के विश्लेषण के आधार पर पाया कि यह मूलतः प्राग्भारतेरानी परम्परा से ही सम्बद्ध रहा है। यद्यपि जिस वर्ग विशेष अथवा समुदाय के लिए भारतेरानी परम्परा में मघ : मोघु और कालान्तर में ईरानियों द्वारा ''मगुःमग" आदि सम्बोधन मिलते हैं, आवश्यक नहीं कि वह वर्ग अथवा समुदाय मूलतः भारोपीय रहा हो। इस वर्ग की मूल प्रवृत्तियों के अध्ययन के प्रसंग में अपेक्षा है समग्र स्रोत–सन्दर्भों के परीक्षण की। स्रोत–सन्दर्भों को सुविधानुसार निम्न कोटियों में विभाजित किया जा सकता है –

(1) **भारतीय सन्दर्भ स्रोत –** साम्ब पुराण की परम्परा के विविध वेदोत्तर भारतीय स्रोत ।

(2) **ईरानी–यूनानी स्रोत –** हखामनीष एवं अवान्तर परम्परा के स्रोत ।

(3) **सेमेटिक एवं नॉन सेमेटिक –** मेसोपोटामिया की पुरातन भाषाओं के स्रोत ।

(4) **भारतेरानी परम्परा –** ऋग्वेदीय एवं अवेस्तीय परम्परा में मग के मूल स्रोत।

भारतीय सन्दर्भ स्रोत

प्रस्तुत शोध–अध्ययन के प्रमुख आधार–स्रोत वस्तुतः भारतीय हैं । अस्तु महाकाव्यों, पुराणों, उपपुराणों और ऐतिहासिक युगों के अन्य विविध (प्रमुखतः साहित्यिक) साक्ष्यों से मग–परम्परा ज्ञातव्य है । बाल्मीकि कृत रामायण (2.95.7)में उर्ध्वबाहुओं की चर्चा है, जिसे कुछ विद्वानों ने सूर्योपासक वर्ग के रूप में पहचानने की चेष्टा की है यद्यपि अधिक सम्भावना इस बात की है कि यह संदर्भ वेदों से चली आ रही आकाशस्थ सूर्य–मण्डल को अर्घ्य देने की परम्परा की सूचक है । हाँ, महाभारत, कर्ण–पर्व (7.82.16) में अवश्य ही महत्वपूर्ण संकेत उपलब्ध हैं, जहाँ सौरान् (प्रभूत संख्या में सूर्योपासकों) का वर्णन संभवतः उस विशिष्ट वर्ग की ओर संकेत है, जो सूर्योपासक सम्प्रदाय को प्रतिबिम्बित करता है और जिसे बाद में पुराणों में मग संज्ञा मिली । महाकाव्यों–पुराणों में सूर्य–स्तोत्र व सूर्य–उपासना सम्बन्धी सामग्री प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है[1]। इस सन्दर्भ में विष्णु (2.10), अग्नि (51.13.99), कूर्म (40.42), गरुड़ (7,16,17,39), भविष्य (ब्राह्म पर्व 139–191),

---

1. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, खण्ड–5, पृ. 148–51

मत्स्य (74.80) एवं स्कन्द (प्रभास–खण्ड) जैसे महापुराणों के वर्णन और साम्ब, सौर धर्म, सौर धर्मोत्तर एवं सूर्य नामक उप पुराणों में वर्णित साम्बोपाख्यान, ध्यातव्य है । सौर उपपुराणों में मात्र साम्ब पुराण उपलब्ध है अन्य तीन लुप्त हैं[1] ।

महाकाव्यों–पुराणों के अतिरिक्त अन्य अनेक विध साहित्यिक साम्बोपाख्यान कृतियों, उदाहरण के लिये सम्मोहन तंत्र एवं तंत्रसार जैसे तंत्र–ग्रन्थों, वराहमिहिर कृत वृहत्संहिता, एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण में बर्णित मागी प्रतिमाशास्त्र, बाणभट्ट कृत हर्षचरित, मयूर कृत सूर्यशतक (सातवीं शताब्दी ई.) तथा भवभूति के नाटक मालती माधव के सन्दर्भ सौर सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण स्रोत प्रस्तुत करते हैं । प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्रादर[2] (F. otto shrader) द्वारा उल्लिखित तथा नेपाल में संरक्षित पाण्डुलिपि सौर संहिता भी अत्यन्त महत्वपूर्ण कही जा सकती है, जिसकी संभावित तिथि 941 ई. मानी जाती है तथा जिसमें सौर सम्प्रदाय के अत्यंत महत्वपूर्ण वर्णन उपलब्ध हैं । कुछ विद्वानों ने इसे और भी पुरातन[3] माना है। कृष्णमिश्र कृत प्रबोध चन्द्रोदय (11 वीं शती) में सौर सम्प्रदायानुयायियों की गरिमा का वर्णन उपलब्ध है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से 11 वीं–12वीं शताब्दी तक भारत वर्ष में विशेषकर उत्तरी भारत में सूर्योपासकों के एक विशिष्ट वर्ग के उत्तरोत्तर विकासमान रूप का परिचय मिलता है । दूसरे शब्दों में सौर सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा उसके अभ्युदय तथा विकास का हमें परिज्ञान होता है जिसकी पुष्टि अभिलेख, मुद्रा, अर्चाशास्त्र तथा स्थापत्य के माध्यम से भी होती है । इस सम्प्रदाय विशेष के मूल प्रतिपादक मग कहलाते रहे हैं।

उपर्युक्त भारतीय वाङ्मय–स्रोत के आधार पर मगों के दो वैशिष्ट्य हमें ज्ञात होते हैं। प्रथम यह कि मगों की वर्ण व्यवस्था प्राचीन भारतीय वर्ण–व्यवस्था की भाँति चतुर्धा विभाजित थी । इनमें प्रथम वर्ग "मग" कहलाता था – ब्राह्मण की तरह। इसी वैशिष्ट्य से जुड़ा है, साम्बोपाख्यान जिसके अनुसार कुष्ठ रोग से ग्रस्त श्री कृष्ण पुत्र साम्ब ने भगवान् सूर्य देव के आदेशानुसार चन्द्रभागा (आधुनिक चिनाब) नदी के तट पर स्थित मूलस्थान (मुल्तान–पाकिस्तान) में सूर्य–प्रतिमा प्रतिष्ठा–नैमित्तिक कर्मकाण्ड के सम्पादन हेतु शक स्थान (सीस्तान) से मगों (पुरोहितों, ब्राह्मणों) को आमंत्रित किया था। साम्बोपाख्यान का सम्यक् परिचय हमने अन्यत्र दिया है । तदनुसार स्पष्ट है कि सूर्योपासक मग, विष्णु पुराण के काल तक निश्चय ही "ब्राह्मण भूयिष्ठ" रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। विष्णु पुराण में (2.4.69) मग, मागध, मानस एवं मन्दग इन चातुवर्णों का जो वर्णन उपलब्ध है, उसकी विष्टितः "मगाः ब्राह्मण भूयिष्ठाः" की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी ने लिखा है – पूर्वोक्तेषु

1. तत्रैव
2. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, खण्ड–5, पृ. 149–50; जे.एन. फरक्यूहर, ऐन आउटलाइन ऑफ द रेलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, पृ. 205
3. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, खण्ड–5, पृ. 149

सर्वेषु ब्राह्मणेषु मध्ये श्रेष्ठाः अर्थात् पूर्वोक्त सभी ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ।इस तरह मगों की ख्याति इस समय तक उच्चस्तरीय ब्राह्मण वर्ग के रूप में हो चली थी । जैसा कि हम ईरानी–यूनानी साक्ष्यों के विवेचन में देखेगें इस विशिष्ट समुदाय का मध्य एशिया में भी समानान्तर विकास हुआ, जहाँ इन्हें "मगोई" कहा गया। मगों का दूसरा वैशिष्ट्य उनका मूलतः मिहिराग्नि–उपासक होना है।

ईरानी–यूनानी स्रोत

जिन्हें हम मग कहते हैं, सामान्यतः यह शब्द हमें ज्ञात है, यूनानी भाषा मगुस, मगोस (बहु-गामी) के रूप में जो अन्य भाषाओं में किन्चित् रूपान्तर के साथ ग्रहण किया गया । हेरोडोटस[1] के लेखन से ज्ञात होता है कि ग्रीक भाषा में यह शब्द मीडियायी सन्दर्भों द्वारा प्रचलित हुआ । मीडिया में निवास करने वाले एक वर्ग का नाम मगोइ (Magoi) था। इस वर्ग का प्रत्येक सदस्य कहलाता था मगोस् (Magos)एवं उन्हीं के रहस्यमय कृत्य कहलाए मैजिक (MAGIC) (अभिचार)। हेरोडोटस के अनुसार यह वर्ग मीडिया का प्रबुद्ध वर्ग था, जो धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का अधिकारी था । हेरोडोटस के विवरण अन्यत्र[2] इस वर्ग के द्वारा ईरानी समाज में भी पौरोहित्य करने की सूचना देते हैं । दूसरे शब्दों में मीडिया का पुरोहित वर्ग कालान्तार में ईरानी समाज में भी पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित होता गया । इसकी पुष्टि अन्य ग्रीक इतिहासकार–लेखक भी करते हैं।

मगों से सम्बधित एक अन्य महत्वपूर्ण साक्ष्य है, ऑक्सस निधि[3] (Oxus treasure) के रूप में ख्यात स्वर्ण पत्र । ऑक्सस नदी के दूसरे तट पर स्थित तखत–ए–कोबाद (Takht–e–kobad) के उत्खनन से अनेक स्वर्ण पत्र प्राप्त हुए हैं, जिन पर मानवाकृतियाँ अंकित हैं । कई पत्रों पर वरसम लिए मागी आकृतियाँ अंकित है (चित्र सं. 1–2) इसका काल सातवीं–छठी शताब्दी ई.पू. है । ईरानी साक्ष्यों में महत्वपूर्ण हैं, हखामनीषी शासक डेरियस (Derius) का बेहिस्तून[4] अभिलेख (522 ई.पू.) जिसमें एक मगुस के द्वारा किए गये विद्रोह की सूचना है । दूसरे साक्ष्य पर्सिपोलिस से प्राप्त कीलाक्षर (क्यूनिफार्म) लिपि की मृत्पट्टिकाएँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर एलमी भाषा में लेख उत्कीर्ण हैं । ये लेख डेरियस एवं अर्तजरक्सीज (Arta xerexes) के शासन काल से सम्बन्धित हैं । इन लेखों में मगुस शब्द का प्रयोग विभिन्न सन्दर्भों में हुआ है जिनमें अधिकांश व्यापारिक संदर्भ हैं ।

1. हेरोडोटस, 1.101
2. हेरोडोटस, 1.131–32
3. बेरोनिका आयन्स, वर्ल्ड माइथॉलॉजी इन कलर, पृ.62; आर.घर्समन, पर्सिया, पृ–84; आर.डी. बारनेट, द आर्ट ऑफ बैक्ट्रिया एण्ड द ऑक्सस ट्रेजर, ईरानिका एन्टीक्वा, खण्ड–8, पृ–36–37
4. ओल्ड पर्सियन ग्रामर–टेक्सट्स, टेक्सिकॉन, खण्ड–33, जेम्स बी प्रीचर्ड एवं रोलैण्ड जी केन्ट द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, पृ 116–20

यथा –'मगुस = अन्न संग्राहक, भाण्डारिक' । इसी तरह यहाँ नुत्तिम और मगुस दो भाण्डारिक रूप में उल्लिखित हैं[1] । एलमी भाषा का म–कु–इश[2] निश्चय ही ईरानीमगुस का एलमी रूप है । मगुस के ये सन्दर्भ उसे धर्म के क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी प्रभावी होने की बात कहते हैं । मेरी बॉयस[3] के विचार में 'ये व्यक्ति मागी कुलोत्पन्न' अवश्य होंगे, किन्तु उन्होने वंशानुगत पुरोहित पद को स्वीकार न कर अन्य व्यवसाय अपनाये होंगे या फिर मगुस एक उपनाम हो सकता" है । यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या राजकीय लेखों में उपनाम का प्रयोग समीचीन है? अतः यह प्रासंगिक नहीं लगता कि मगुस उपनाम होगा जिसका प्रयोग इन एलमी लेखों में हुआ है । हाँ, यह जातिगत नाम अवश्य हो सकता है । अर्सासिड[4] व पह्लवी काल में "मगु"पुरोहित पद का सूचक था पर ससानी काल में मगु के दो रूप होते गए। मोग (Mog), जो सामान्य पुरोहित के लिए प्रयुक्त होने लगा और मगु सम्मान्य पुरोहित हेतु । इसी कालक्रम में सीरियायी[5] भाषा में एक शब्द प्रचलित था मगुसाई जिसका अर्थ था भविष्यवक्ता एवं अभिचार के ज्ञाता । सीरियायी भाषा का यह प्रयोग प्रथम शताब्दी के बाद प्रचलन में आया । इस प्रकार सातवीं शताब्दी ई. तक मगु ईरानी संस्कृति में जाति सूचक अर्थ में प्रयुक्त होता रहा । ऐसा प्रतीत होता है कि अरबी भाषा में प्रचलित मजुज[6] शब्द मगुस का ही रूपान्तर है।

सेमेटिक एवं नॉन सेमेटिक

बेबीलोनी सेना का एक पदाधिकारी रब मगी[7] कहलाता था । मेरी बॉयस[8] का कथन है कि यह विरुद अन्यत्र कीलाक्षर लिपि द्वारा भी प्रमाणित है, जो अब अक्कादी विरुद रूप में मान्य है ।अन्यत्र[9] यह सूचना मिलती है कि खाल्दी वंशीय (Chaldean) बेबीलोनी शासक नेबूचेडरेज़्ज़र की राज–सभा (591 ई.पूर्व) में रब मग एक अधिकारी था । रब मग सम्भवतः विरुद था और इस विरुद से युक्त अधिकारी व्यक्ति अभिचारिक क्रियाओं में दक्ष होता था । इस प्रकार रब मग जो अभिचारक होता था, बेबीलोनी राज सभा में बाहरी आपदाओं से राजा की रक्षा हेतु नियुक्त था । तंत्र मंत्रअभिचार भेषज से मग कालान्तर में भी

1. मेरी बॉयस, हिस्ट्री ऑफ जोरोस्ट्रिअनिज्म, खण्ड–2, पृ 137
2. मेरी बॉयस, हिस्ट्री ऑफ जोरोस्ट्रिअनिज्म, खण्ड–2, पृ. 137
3. मेरी बॉयस, तत्रैव ।
4. मेरी बॉयस, जोरोस्ट्रियन्स दी रेलिजस बीलिफ्स एण्ड प्रैक्टिसेज, पृ. 102
5. इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, खण्ड– 14, पृ. 570
6. मेयर हाफर, द कोन्साइज एटिमोलाजिकल संस्कृत डिक्शनरी, 2.544
7. एच.डब्लू.एफ. सैगस, द ग्रेटनेस दैट वाज बेबीलोन, पृ. 260
8. मेरी बॉयस, हिस्ट्री ऑफ जोरोस्ट्रिअनिज्म, खण्ड–2, पृ. 66
9. ई.आर.ई., खण्ड–8, पृ. 242–43

सम्बद्ध रहे । मगों के सम्बन्ध में प्लूटार्कका विवरण इस विचारधारा को और पुष्ट करता है कि अभिचार क्रिया मगों के विशेष कृत्यों में थी । रब मग से तात्पर्य सम्भवत श्रेष्ठ मग से रहा होगा क्योंकि सेमेटिक भाषा में पुरोहित के लिए प्रचलित शब्द था संगु[1] तथा संगु रबु कहते थे श्रेष्ठ पुरोहित को । अतः रब मग रहा होगा श्रेष्ठ मग। सेमेटिक भाषा में एक अन्य शब्द प्रचिलत था इम्ग[2] आदरणीय अर्थ में। इम्ग कहते थे, बेबीलोन व मीडिया में रहने वाले अ–सामी (Non–Semetic)निवासियों के प्रबुद्ध व पुरोहित वर्ग को। अर्थात अ– सामी मूल के विद्वज्जन या पुरोहित सेमेटिक समाज में स्वीकृत आदरणीय थे। यह इम्ग नाम उनकी मनीषा के अनुरूप था क्योंकि वे थे देव और मानव के सम्पर्कसूत्र और थे ज्योतिष के ज्ञाता एवं भिषग् ।

भारतेरानी परम्परा

भारतेरानी परम्परा में दो शब्द मिलते हैं, अवेस्ता का मोघु और ऋग्वेदीय परम्परा का मघ । मेरी बॉयस का कहना है कि अवेस्ता[3] में मोघु का प्रयोग जाति सूचक अर्थों में है । यहाँ (अवेस्ता में) प्रयुक्त शब्द मोधुत्सि का अर्थ है मगु के प्रतिकूल। इस प्रकार अवेस्ता का मोधु एवं मीडियायी मगु समानार्थक प्रयोग[4] प्रतीत होते हैं । मघ - मोघु की अर्थवत्ता एवं उसके अभिज्ञान पर हम प्रथम अनुच्छेद में विचार कर चुके हैं । अतः यहाँ मात्र यह संकेत देना ही प्रासंगिक होगा कि ऋग्वेदीय मघ और आवेस्तिक मोघु ही हखामनीष सासानी मगुस का प्राक्‌रूप है ।

इतिवृत्त

उपलब्ध साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि मग = मघ–जन की कई शाखाएँ हो गयी थीं जिनका आर्य–जन–प्रवाह के साथ–साथ ही यत्र–तत्र विस्तार होता गया। उसी का क्रमबद्ध विवरण यहाँ प्रस्तुत है ।

मध्य एशिया में मगों के इतिवृत्त का निर्धारण करने वाले स्रोतों में महत्वपूर्ण है हेरोडोटस एवं अन्य ग्रीक लेखकों के विवरण। डेरियस का बेहिस्तून अभिलेख और प्राचीन बाइबिल के अतिरिक्त कतिपय अन्य स्रोत भी हैं, जो भिन्न भिन्न क[illegible]में मागी इतिवृत्त के निर्धारण में सहायक हो सकते हैं । इन स्रोतों के आधार पर मगों [illegible]ध्य एशिया में क्रमबद्ध इतिहास कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है ।

---

1. ई.आर.ई. खण्ड–10, पृ. 285
2. चैम्बर्स इन्साइक्लोपीडिया, खण्ड-8, पृ. 791
3. मेरी बॉयस, हिस्ट्री ऑफ जोरोस्ट्रिअनिज्म, खण्ड–2, पृ.–19, यस्न 65.7
4. मेरी बॉयस हिस्ट्री, ऑफ जोरोस्ट्रिअनिज्म, खण्ड–2, पृ. 19

जग्रोस पर्वत के पूर्व में स्थित प्रदेश को असीरिया निवासी माद मीडिया के नाम से जानते थे, जैसा कि असीरियायी सैन्य अभियानों से सम्बन्धित प्रलेखों दस्तावेजों से ज्ञात होता है[1] । बेबीलोन निवासी भी अपने उत्तरी पड़ोसियों को मादी मीडियायी नाम से ही जानते थे। यही नाम परवर्ती काल में उस भूभाग में निवास करने वाले सिम्मेरी एवं स्कीथजन के लिए भी मान्य रहा[2]। हेरोडोटस[3] के अनुसार डेरियस के पूर्व ही स्कीथो ने मीडिया पर विजय प्राप्त कर लिया था। डेरियस के द्वारा आक्रान्त होने के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ही स्कीथों के राज्य की स्थापना हो चुकी थी । डेरियस का अभ्युदय काल लगभग 522 ई.पू. है । अस्तु स्पष्ट है कि मीडिया में शक या स्कीथ जाति का प्रादुर्भाव लगभग 1500 ई.पू. में हुआ होगा । आधुनिक विद्वान[4] भी शक स्कीथो के मीडिया में प्रवेश का यही समय स्वीकार करते हैं ।मीडिया में स्कीथों के आगमन के पूर्व कई जन जातियाँ[5] निवास करती थीं, जिनमें से मागी[6] भी एक थी । स्कीथो के आगमन के पश्चात मीडिया के कुछ जन मीडिया छोड़कर चले गये एवं कुछ ने नवागन्तुक निवासियों के साथ साथ रहना स्वीकार कर लिया। इसी तरह मीडिया के स्कीथ निवासियों ने मीडियायी मागी जन को समाज के अपने समाज के प्रबुद्ध वर्ग के रूप में स्वीकार कर लिया ।

विद्वानों के अनुसार साइरस की मीडिया विजय के पश्चात मागी विचार धारा का प्रारम्भ ईरानी राजधर्म में हुआ[7] किन्तु यह विचार समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि मग = मघ उस आर्य धारा के भी सदस्य थे जो ईरान में पल्लवित हुई । हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि तब तक मागियों को राज्याश्रय प्राप्त नहीं था । इस लिए ये उतने महत्वपूर्ण नहीं दिखते । कालान्तर में साइरस की मिडिया विजय के पश्चात या मिडियायियों के प्रभाव से मागी-जनों का ईरानी राज-धर्म में प्रवेश हुआ । तत्पश्चात् शताब्दियों तक ससानी काल तक मग ईरान के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी रहे ।

---

1. मेरी बॉयस, जोरोआस्ट्रियन्स देयर रेलिजस बीलीफ एण्ड प्रैक्टिसेज, पृ. 48
2. स्ट्रैबो, 11-254
3. हेरोडोटस, 1-105
4. सत्यश्रवा, शकाज इन इण्डिया, पृ. 4
5. पी.एम. साइक्स, हिस्ट्री ऑफ पर्सिया, पृ. 103
6. हेरोडोटस, 1.101 हेरोडोटस ने मीडिया में निवास करने वाली 6 जातियों का उल्लेख किया है बसाई (Basae), परेतसेनी (Paretaceni), स्त्रूकेतस (struchates), अरिजान्ति (Arizanti), बुदाई (Budae) तथा मगोई (Magoi)
7. एफ क्यूमॉट, द मिस्ट्रीज ऑफ मिथ्र, पृ. 9

डेरियस के बेहिस्तून अभिलेख से मगों से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है । लगभग 522ई.पू. के इस अभिलेख[1] में मागी गोमात द्वारा किये गये एक विद्रोह का उल्लेख है"। अभिलेख में डेरियस कहता है "उस समय न तो कोई मनुष्य फारस में था न माद मीडिया में और न ही हमारे कुल में कोई था जो उस गोमात नामक मग की तथा उस राज्य को जीत लेता । यह विचारणीय हो सकता है कि उस षडयन्त्र की पृष्ठभूमि क्या थी जिसके फलस्वरुप गोमात नामक मग ने हाखामनीष सम्राट के विरुद्ध षडयन्त्र करने का दुस्साहस किया । उपलब्ध आधुनिक समीक्षाओं के आधार पर हमें ज्ञात है कि साइरस की मृत्यु के पश्चात उसके पुत्र कम्बुजिय ने उत्तराधिकार प्राप्त किया । विभिन्न स्रोतों से ज्ञात होता है कि उसका एक भाई और था, बरदिय[2] (Bardiya) । साइसरस की मृत्यु के पश्चात कम्बुजिय ने बरदिय को बन्दी बना लिया और बाद में उसकी हत्या कर दी । इस घटना के कुछ समय बाद कम्बुजिय के मिस्र की तरफ विजय अभियान में चले जाने पर गोमात नाम के मग ने जो कम्बुजिय का विश्वस्त था और संयोग से जसका रूप बरदिय के समान ही था अपने आपको साइरस का दूसरा पुत्र वरदिय घोषित कर दिया और ईरान का शासक बन बैठा[3] । इस घटना की सूचना हेरोडोटस[4] के वृतान्त में भी है । बेहिस्तून[5] अभिलेख का निम्न विवरण ध्यातव्य है --"यह राज्य जिसे गोमात नामक उस मग ने कम्बुजिय से जीत लिया था । यह राज्य बहुत पहले से हमारे कुल का था बाद में इसे गोमात नामक उस मग ने कम्बुजिय से जीत लिया था । उसने फारस को और माद को (मीडिया को) और अन्य प्रदेशों को जीत लिया था । उसने उन प्रदेशों को अपना लिया था और उन पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया था वह राजा हो गया" ।

---

1. ओल्ड पर्सियन ग्रामरटैक्सट्स, लेकिस्कॉन, खण्ड-33 पृ. 116 20
जेम्स वी. प्रीचर्ड एवं रोलैण्ड जी केन्ट द्वारा सम्पादित द्वितीय संस्करण
थातिय दारयवौश खशायथिय नेय आह मरितय
नेय पार्स नेय् माद नेय् अमाखम् तोमाया कश्चिय हय अवम गो
मातम् त्यम् मगुम् खशषम् दीत्म चखरिया कारशिम् हचा दर्शम ह--
पंक्ति 48-50

2. आर. घर्समन, ईरान, पृ. 138
3. कैम्ब्रिज एन्शेन्ट हिस्ट्री, खण्ड- 4, पृ. 173
4. हेरोडोटस 3.61
5. ओल्ड पर्सियंन ग्रामर टेक्स्टस, लेक्सिकॉन खण्ड- 33 पृ. 116 20,
जेम्स बी. प्रीचर्ड एवं रोलेण्ड जी. केन्ट द्वारा सम्पादित द्वितीय संस्करण, थातिय दारयवौश खशयाथिय एत खशषम त्य गोमात हयमगुश अदीना कबुजियम एत खशषम् हचा पशुवियत अमाखम तोमाया आ ह पसाव गोमात हय मगुस अदीन कबुजियम उता पारसम उता मादम उता अनिया दहयाव होव आयसता उवै पशियम अकुता हो व खशायथिम अबब--।
पंक्ति 43-48

इस आभिलेखिक साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि मागी गोमात ने कुछ महीने सफलतापूर्वक शासन भी किया था । ज्ञात स्रोतों के अनुसार साम्राज्य के सभी प्रदेशों ने इस नये शासक को स्वीकार कर लिया था और शासक गोमात ने अपनी नयी शासन नीति के अन्तर्गत जनता को तीन वर्ष के लिए समस्त करों से मुक्त कर दिया था । उसके शासन की अवधि सम्भवतः नौ महीने की रही[1] । उपर्युक्त आभिलेखिक साक्ष्य यह स्पष्ट करता है कि छठीं शताब्दी ई. पू. में ईरान में मगों का सुस्थापित संघ अस्तित्व में था और मग वहाँ के राजनैतिक सामाजिक जीवन के आधार थे। राजकुमारों की शिक्षा दीक्षा जैसे महत्वपूर्ण कार्य का दायित्व इन्हीं का था[2] । हेरोडोटस[3] का वृतान्त मगों से सम्बन्धित एक विलक्षण उत्सव की सूचना देता है । हेरोडोटस ने इस उत्सव कृत्य को मगोफोनिया (मग मेध) कहा है। विवरण के अनुसार मगों के विद्रोह की परिणति व्यापक नर संहार में हुई थी, अस्तु इस घटना की स्मृति में हर वर्ष मगोफोनिया की प्रथा का प्रचलन हुआ । किन्तु हेरोडोटस का यह विवरण अतिरंजित प्रतीत होता है क्योंकि मागी ईरानी समाज के प्रतिष्ठित जन थे। मगोफोनिया[4] वास्तव में वार्षिक त्यौहार था, जिसे यूनानी लेखकों ने मगोफोनिया नाम दिया । कतेसियस चतुर्थ शती ई. पू. में जरक्सीज का चिकित्सक था । ईरान में उसने काफी समय व्यतीत किया था । वह लिखता है कि यह उत्सव उसी दिन मनाया जाता था जिस दिन गोमात की हत्या हुई थी[5] । यह वार्षिकोत्सव वस्तुतः नववर्षोत्सव था जो वहॉ पहले मिहरजान के नाम से मनाया जाता था । यह सम्भवतः सकइअ[6] (Sacaea) के समान मनाया जाता था इस कृत्य की मुख्य घटना होती थी दण्डित अपराधियों को मृत्यु दण्ड दिया जाना। इस तरह इस उत्सव का मगोफोनिया नाम होने का कारण सम्भवतः उस दिन मगुस गोमात का मारा जाना था । गोमात समाज के प्रतिष्ठित एवं महत्वपूर्ण वर्ग से सम्बन्धित था तथा डेरियस के विवरण के अनुसार गुरुतर अपराध का दोषी था । यह घटना ईरानी इतिहास की विलक्षण घटना थी अतः इसका वर्णन करते समय यूनानी लेखक ने इसे नाम दिया मगोफोनिया । नाम साम्य के आधार पर यूनानी कल्प बाउफोनिया[7] को इसके नामकरण का आधार माना जा सकता है।

आभिलेखिक साक्ष्य के अनुसार यूनानी समर्थित साक्ष्य गोमात नामक मग को तत्कालीन इतिहास का एक राजनीतिक आक्रान्ता तथा बाद में ईरानी शासक डेरियस द्वारा

---

1. आर. घर्समन, ईरान, पृ. 139
2. आर. सी. जैनर, द डॉन एण्ड ट्वीलाइट ऑफ जोरोस्ट्रीयनिज्म, पृ. 164
3. हेरोडोटस 3.79 एवं आगे
4. मेरी बॉयस, हिस्ट्री ऑफ जोरोस्ट्रीयनिज्म, खण्ड– 2, पृ. 87
5. तत्रैव
6. आर. पी. चंदा, इण्डो आर्यन रेसेज, पृ. 209
7. जेम्स फ्रैजर, द गोल्डेन बाउ, खण्ड– 1, पृ. 611. 14

उसकी पराजय को द्योतित करते हैं । मागी गोमात के कृत्य मूलतः राजनैतिक विचारों से प्रेरित प्रतीत होते हैं । गोमात के दमन के पश्चात यह विवाद वहीं समाप्त हो गया क्योंकि ऐसा नहीं लगता कि डेरियस ने गोमात के कृत्य का प्रतीकार करने के लक्ष्य से समस्त मागी समुदाय के उन्मूलन का प्रयास किया। गोमात के पश्चात भी ईरानी समाज में मागी गौरवपूर्ण पदों का उपभोग करते रहे। उदाहरण के लिए हाखामनीष काल के भित्तिचित्रों में विभिन्न "अवसरों पर मागी" के अंकन हैं[1] । ग्रीक परम्परा में जरक्सीज के साथ मागी औसटैनस के भी यूनान जाने का विवरण सुरक्षित है । इस घटना के बाद मगों के राजनैतिक अधिकारों में सम्भवतः ह्रास हुआ, परन्तु उनके धार्मिक अधिकार पूर्ववत बने रहे[2]। मॉल्टन के विचार से प्रतीत होता है कि इरानी आर्यों से राजनैतिक स्पर्धा में पीछे रह जाने के कारण मगों ने धर्म के क्षेत्र मे अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास किया[3] । माल्टन का यह विचार निराधार प्रतीत होता है क्योंकि हमारे साक्ष्य यह सूचना देते हैं कि मग–मघ सुदूर अतीत से ही धार्मिक कृत्यों के सम्पादन, ज्योतिष, भविष्य वक्तृत्व भेषज इत्यादि से सम्बद्ध रहे हैं और न तो गोमात के पूर्व और नहीं उसके बाद ही इस प्रकार की राजनैतिक महत्वाकाँक्षा का प्रमाण मिलता है।

मागी गोमात की हत्या चूँकि समाज के विशिष्ट आदरणीय वर्ग के सदस्य के विरुद्ध एक राजकीय अभियान था, अतः गोमात के अपराधों का अतिरंजित विवरण उस स्थान पर उट्टंकित स्थापित किया गया, जो वस्तुतः प्राचीन मीडियायी देवस्थान था । बेहिस्तून प्रारम्भ में मादी क्षेत्र में स्थित एक पर्वतीय प्रदेश था, जो असीरिया के व्यापारिक मार्ग पर स्थित था। मीडियायी जन इसे बगस्तान (देवस्थान) कहते थे। प्रत्येक वर्ष किसी निश्चित तिथि पर यहाँ धार्मिक आयोजन हुआ करता था, जिसमें सम्मिलित होने के लिए देश–विदेश में बिखरे समस्त मागी समुदाय के प्रतिनिधि आया करते थे[4]। सिकन्दर के समकालीन इतिहासकारों ने साइरस की समाधि का वर्णन किया है । इस समाधि के संरक्षक मागी थे। मगों को यह कार्य वंशानुक्रम के अनुसार प्राप्त हुआ था[5]। तात्पर्य यह कि मागियों के अधिकारों में ह्रास नहीं हुआ था और तत्कालीन समाज के महत्वपूर्ण पदों पर मागी आसीन थे।

जहाँ तक जरथुस्त्र की मज्दावादी विचारधारा और मगों की स्थिति का प्रश्न है, वह कुछ संशयपूर्ण जान पड़ती है । परवर्ती काल में मग यद्यपि मज्दावाद से पूर्णतया सम्बद्ध होते गये ज्ञात होते हैं, किन्तु पाँचवी शताब्दी ई.पू. का हेरोडोटस का आख्यान इससे भिन्न

---

1. मेरी बॉयस, हिस्ट्री ऑफ जोरोस्ट्रिअनिज्म, खण्ड– 2 पृ. 118 पर एक भित्ति शिल्प का विवरण है जिस पर मागी आकृतियाँ अंकित हैं।
2. आर.के.अरोरा, द मगाज एण्ड द भविष्य पुराण, पुराणम्, खण्ड– 13, सं.1, पृ. 57
3. जे.एच.मॉल्टन, द ट्रेजर ऑफ मागी पृ. 13
4. मेरी बॉयस, हिस्ट्री ऑफ जोरोस्ट्रिअनिज्म, खण्ड–2, पृ. 99
5. ए.टी. ऑल्मस्टीड, हिस्ट्री ऑफ पर्सियन एम्पायर, पृ–66; क्लेमेन्ट हुअर्ट, एन्शेन्ट पर्सिया एण्ड ईरानियन सिविलाइजेशन, पृ. 91

साक्ष्य प्रस्तुत करता है । हेरोडोटस के विवरण में ईरानी धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने का श्रेय मगों को दिया गया है । ये मग निश्चय ही मज्दावादी नहीं प्रतीत होते । इसके विपरीत डेरियस एवं जरक्सीज के अभिलेख मज्दावाद के प्रभाव को सूचित करते हैं । इन लेखों में अहुरमज्दा के प्रति असीम श्रद्धा व्यक्त की गयी है । ऐसी स्थिति में प्रतीत होता है कि ईरान में मगों के दो वर्ग थे – (1) वे जो परम्परागत मागी धर्मक्रिया–विचारों से सम्बद्ध थे तथा (2) वे जो मज्दावादी विचारधारा के थे ।

कालान्तर में मग मज्दावाद के प्रतीक बन गये । हालाँकि प्रारम्भ में मज्दावाद में मागी तत्वों का निषेध किया गया था, किन्तु बाद में मज्दावाद में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, जिन्हें विशुद्ध मागी कहा जा सकता है । इसके विपरीत जरथुस्त्र के सुधार का लक्ष्य मागी प्रभाव से मुक्त होना था । इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय बहुत से मागी पुरोहित मारे गये । उस काल में जब पुरोहित जीवित पुस्तक होते थे, तथा समस्त धार्मिक कार्यकलाप उनकी स्मृति के आधार पर ही हुआ करते थे । ऐसी स्थिति में पुरोहितों के मारे जाने से अनेक परम्पराएँ नष्ट हो गयीं तथा तमाम नई परम्पराएँ ईरानी धर्म में स्वीकृत हो गयी[1] जिनमें से अधिकतर मागी थीं ।

मज्दावाद की विशेषता उसका द्वन्द है[2], जो अहुरमज्दा एवं दइवों के संघर्ष के रूप में है। मॉल्टन की यह धारणा समीचीन लगती है कि अच्छाई–बुराई, प्रकाश–अंधकार अथवा विद्या–अविद्या के द्वन्द की यह परिकल्पना जरथुस्त्र के सिद्धान्तों की मागी[3] व्याख्या के फलस्वरूप अस्तितव में आयी प्रतीत होती है ।

जरथुस्त्र के बाद मागी तत्व मज्दावाद में स्वीकृत होते गये । ससानी काल मागी प्रभाव के चरमोत्कर्ष का काल था । इस युग में मज्दावाद को ईरान के राज–धर्म की मान्यता मिली। इस समय मग–जन अनेक उच्च राजकीय पदों के अधिष्ठाता[4] थे – यथा न्यायाधिकारी, वित्त अधिकारी आदि । इस प्रकार कुछ अर्थों में प्रशासक भी । अमीनस मारसेलीनस के अनुसार मागी स्वायत्त संगठन थे । उनकी पृथक् आचार–संहिता थी । राज्य के नियम उन पर लागू नहीं होते थे[5] । प्राचीन ईरानी साम्राज्य क्षेत्र से प्राप्त मगों के व्यक्तिगत अभिलेख, मारसेलीनस की अवधारणा की पुष्टि करते हैं । सोवियत पुरातत्ववेत्ताओं ने कार–टेप (प्राचीन तरमेज, कुषान शहर) में कुछ बौद्ध गुफाएँ खोजी हैं, जिनका काल द्वितीय शताब्दी ईसवी है । गुफा सं. 2 के एक लेख में (लेख सं. 62) उस गुफा का मागी द्वारा निरीक्षण करने की चर्चा है । ये बौद्ध गुफाएँ सम्भवतः जरथुस्त्रीय उपासना गृहों में परिवर्तित हो गयी थीं[6]।

1. मेरी बॉयस, जोरोस्ट्रिअन्स देयर रेलिजस बीलीफ एण्ड प्रैक्टिसेज, पृ. 78–79
2. इ.ओ.जेम्स, द एन्शेन्ट गॉड्स, पृ. 279
3. जे.एच.माल्टन, अर्ली जोरोस्ट्रिअनिज्म, पृ. 182–83
4. इ हर्जफील्ड, जोरोअस्टर एण्ड हिज वर्ल्ड, खण्ड–1, पृ. 124
5. क्लेमेन्ट हुआर्ट, एन्शेन्ट पर्सिया एण्ड ईरानियन सिविलाइजेशन, पृ. 153
6. बी.एन.मुकर्जी, सेन्ट्रल एण्ड साउथ एसियन डाक्यूमेन्ट्स ऑन ओल्ड शक एरा, पृ. 47–48

दूसरा ज्ञात अभिलेख[1] कार्तिर का है । कार्तिर ससानी काल में मागी प्रमुख (मगु–पति) था, जिसका चित्र नक्श–ए–रुस्तम के शिलापट्टों पर उट्टंकित है (चित्र सं. 3) । कार्तिर वहाँ का धर्म प्रमुख था । वह लगभग तीस वर्षों तक इस पद पर रहा, यद्यपि इस काल में देश की राजनैतिक स्थिति में कई परिवर्तन हुए । कार्तिर के कार्यकाल के समयान्तराल में ईरान में शापुर प्रथम, हरमज्द प्रथम, बहराम प्रथम और बहराम द्वितीय का शासन रहा । इस काल में उसने मज्दावाद को पुनर्संगठित किया और अन्य धर्म के प्रचारकों को साम्राज्य से निर्वासित कर दिया । ये उसके कार्य–काल की प्रमुख घटनाएँ थीं जिसकी सूचना पर्सिपोलिस से प्राप्त उसके एक व्यक्तिगत लेख से मिलती हैं । यह लेख ओरियंटल स्टडीज, शिकागो के पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा 1939 में प्रकाश में लाया गया था । अपने लेख में कार्तिर कहता है कि "मज्दावादी धर्म का मैने पुररुद्धार किया, अस्तु साम्राज्य में सुधी जन प्रभुतासम्पन्न हुए । इस धर्म के विरोधी और वे मागी, जो इस धर्म के मूलभूत नियमों का पालन नहीं करते थे, मेरे द्वारा दण्डित किये गये । उन्होंने अपना रास्ता (विरोध का मार्ग) बदला और पुनः (इस धर्म में) स्वीकार कर लिये गये । मेरे द्वारा अनेकविध पवित्र अग्नियों की प्रतिष्ठा हुई, मागी नियुक्त किये गये और यह व्यवस्था देवताओं, राजा और मेरे द्वारा की गयी । जिन्होनें दइबों के सिद्धान्तों का अनुपालन किया मेरे कारण बहिष्कृत कर दिए गए और देवताओं में आस्था किया..... । धर्म का सर्वांदिक् विस्तार हुआ, देवताओं के कृत्य में वृद्धि हुई.... ।" कार्तिर आगे कहता है – "अग्नि पूजा–स्थलों की प्रतिष्ठा सर्वत्र हुई, जहाँ–जहाँ राजाओं के राजा की सेना गयी"।

मगों के अत्यधिक शक्तिशाली होने के मात्र यही कारण नहीं थे कि वे धर्म के क्षेत्र में सर्वोच्च थे या राज्य के न्याय और वित्त पर उनका आधिपत्य था, बल्कि उनके महत्वपूर्ण होने का एक और भी कारण था । धर्म से जुड़ा हुआ व्यक्ति चूँकि समाज का महत्वपूर्ण व्यक्ति होता था, इसलिए वह राज्य एवं सामान्यवर्ग दानों तरफ से अधिक सुविधाओं, साधनों का उपभोग करता था । दूसरे शब्दों में वह इतना साधन सम्पन्न होता था कि राज्य के समानान्तर राज्य स्थापित कर सके। इसलिए पुरोहित राजनैतिक दृष्टि से भी शक्तिशाली होता था और एक प्रकार से उसका वर्चस्व समाज में स्थापित था[2] । उसकी महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह राजा के दैनिक कार्यों में भी हस्तक्षेप कर सकता था[3] । बाइबिल में तीन मागी राजाओं की सूचना संग्रहीत है[4] । इन मगों को शिशु क्राइस्ट के लिए उपहार लाने वाला बताया गया है तथा इन्हें "पूर्व देश के तीन प्रबुद्ध व्यक्ति"

1. आन्द्रे गोडार्ड, द आर्ट ऑफ ईरान, पृ. 229-230
2. इ. हर्जफील्ड, जोरोअस्टर एण्ड हिज वर्ल्ड, खण्ड–1, पृ. 123
3. आन्द्रे गोडार्ड, आर्ट ऑफ ईरान, पृ. 230
4. ओल्ड टेस्टामेन्ट, मैथ्यू, 2.1

की संज्ञा दी गयी है । इनके नाम थे गस्पर, मेल्शियर (Melshior) तथा बाथासर (Batthasar) । परम्परा में एक मागी राजा का नाम मिलता है, कस्पर (Kaspar) जिसने ई. 19 में सत्ता ग्रहण की थी [1]। ई. 62 में पार्थियन शासक बोलगेसस (Volgeses) या बलख (Valakh) ने अपने छोटे भाई त्रिदतस को आरमीनिया का शासक नियुक्त किया । आरमीनिया पर उस वंश का शासन ससानी वंश के शासन के प्रारम्भ तक रहा । त्रिदतस मज्दावाद का अनुयायी था । रोमन सूत्र त्रिदतस को मागी[2] मानते हैं।

लेखक ने कस्पर की तुलना पार्थियन शासक गोण्डोफर से की है, जिसे गाथास्पर और गोदास्पर भी कहा गया है ।

ईरान की प्रारम्भिक व्यवस्था में पुरोहित का पद प्राप्त था, अथ्रवन को । अथ्रवन अतर (अग्नि) से व्युत्पन्न है और इंगित करता है उस परम्परा को, जिसमें अग्निपूजकों को विशेष स्थान प्राप्त था । अथ्रवन की उपाधि एवं कृत्य भारतेरानी युग के अवशेष थे । ईरानी साम्राज्य में मगों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण अथ्रवन विस्मृत होते गये । अथ्रवन की जगह ले ली मगुस (मगु) ने एवं उन समस्त कर्मकाण्डों के सम्पादन के अधिकारी मग होते गये।

ईरानी समाज में हाखामनीष काल से ही मागी महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं । राजनैतिक स्थितियों के परिवर्तन का मगों की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । परवर्ती राजवंशों के काल में भी मग अपनी उत्तरोत्तर प्रवर्धमान महत्ता का उपभोग करते प्रतीत होते हैं । ईरानी समाज के समस्त धार्मिक आयोजनों में मग की उपस्थिति अनिवार्य थी[3] । मग की अनुपस्थिति में सम्पन्न हुआ कोई भी पूजा-कार्य पूर्ण नहीं माना जाता था[4] । धर्म के क्षेत्र में प्रभुत्व प्राप्त मागी राज-काज एवं न्याय-व्यवस्था से भी जुड़े हुए थे। ससानी काल मगों की प्रभुता का चरमोत्कर्ष काल था । उस समय उन्हें राज्याभिषेक के अधिकार भी प्राप्त थे । राजनैतिक क्षेत्र के अतिरिक्त वे अपनी परम्परागत गतिविधियों से भी जुड़े थे । परम्परा में अवेस्ता के प्रथम संकलनकार का नाम तन्सर (Tansar) प्राप्त होता है, जो मागी था[5] । ईरानी पुरोहित प्रमुख को मगुपति कहा जाता था । यह नाम पुराहितों के प्रशासनिक संगठन की ओर इंगित करता है । मगुपति कालान्तर में मोबेद, मग बद, बग्नपत, अरबद और हरबद के रूप में प्रचलन में रहा ।

1. सैक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट, खण्ड-4, पृ. 34
2. विलियम एस.हास, ईरान, पृ. 17.
3. हेरोडोटस, 1.132
4. गेनार्डो ग्नोली, जोरोअस्टर्स टाइम एण्ड होम लैण्ड, पृ. 207
5. जॉन रिप्का, हिस्ट्री ऑफ ईरानियन लिटरेचर, पृ. 17

अरब लेखक याकोबी[1] ने ससानी कालीन ईरानी राज्यसभा के प्रमुख पदों का विवरण प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है – राजा, मंत्री (Grand Vizier), प्रमुख मोबेद (Cheif Priest), हरबद (अग्न्याधान का पुरोहित), दिविर अथवा मुख्य प्रलेखक[2], स्पाह वद अथवा सेनापति । किन्तु दूसरे अरब लेखक मसूदी[3] ने दूसरा क्रम प्रस्तुत किया है । इसमें राजा के बाद मुख्य पुरोहित का स्थान है । तत्पश्चात् मंत्री (Grand vizier) है । मसूदी के स्रोत अपेक्षाकृत पश्चाद्वर्ती और मागी के उत्तरोत्तर बढ़ती महत्ता के परिचायक हैं ।

मगों के धार्मिक कार्यों का विस्तृत वर्गीकरण (ईरानी परिप्रेक्ष्य) वेन्दिदाद[4] से प्राप्त होता है । यह वर्गीकरण परम्परागत न होकर धार्मिक कर्मकाण्ड के आधार पर था । पूजा के कार्य आठ चरणों में विभाजित थे जिनके अधिकारी आठ पुरोहित[5] होते थे (1) प्रथम था जओतर–यह गाथा–पदों का उच्चारण करता था (2) हावनम पद का अधिकारी पुरोहित एक विशेष पौधे से हओम (या सोम) रस तैयार करता था जो धार्मिक कर्मकाण्ड का विशेष अंग था । (3) अतरवख्श–इनका कार्य पवित्र अग्नि को प्रज्वलित रखना,अग्निवेदिका की सुरक्षा करना एवं स्वच्छता की व्यवस्था करना था । मन्त्रोच्चार में जओतर की सहायता करना भी इनका कार्य था । अग्निवेदिका के चतुर्दिक सफाई करने का जो विधान था उसके अनुसार अतरवख्श तीन तरफ की सफाई करता था जबकि शेष का उत्तरदायित्व सम्हालता था फ्रबएतर । (4) पूजाके काम आने वाले उपकरणों के रख–रखाव का दायित्व फ्रबएतर का था,(5) अस्नतर का कार्य हओम को साफ करके छानना था जबकि (6) रथविस्कर हओम को दूध के साथ मिलाकर मिश्रण तैयार करता था, (7) अब्रेत नामक पुरोहित सम्पूर्ण आयोजन के लिए जल की व्यवस्था करता था । इन्हें दानजव्वाज भी कहा जाता था ।(8) आठवां पद स्रओशवरेज था,जो समस्त पूजा कार्य का निरीक्षणकर्ता होता था ।

वर्तमान पारसी (मज्दावादी)जन के समस्त धार्मिक अनुष्ठान आठ के स्थान पर दो पुरोहितों द्वारा सम्पन्न कराये जाते हैं । जओतर या जोत मुख्य पुरोहित होता है और रास्पी या रथवी उसका सहायक ।

कालक्रमानुसार मगुस के कार्य परिवर्तित होते गये। हेरोडोटस[6] केविवरण केआधार पर मगु का कार्य केवल बलि–कर्मों में मन्त्रोच्चारण करना प्रतीत होता है । अन्य कार्य

---

1. क्लेमेन्ट हुअर्ट, एन्शेन्ट पर्सिया एण्ड ईरानियन सिविलाइजेशन, पृ.141
2. माता प्रसाद त्रिपाठी, दिविर : प्रशासनिक लेखक एवं लिपिक, इण्डियन प्लेस–नेम्स सोसायटी(मैसूर)की गोरखपुर संगोष्ठी (1983)में प्रस्तुत एवं यथाशीघ्र प्रकाश्य–एन्शेंट इण्डियन टिट्यूलेचर सं.,पूर्वा संस्थान,गोरखपुर ।
3. क्लेमेन्ट हुअर्ट,एन्शेन्ट पर्सिया एण्ड ईरानियन सिविलाइजेशन,पृ.141
4. वेन्दिदाद– 5.161;ई.आर.ई. प्रीस्टहुडईरानियन),खण्ड–10,पृ.319–322
5. जी.एम.पाटिल,प्रीस्टहुड इन अवेस्ता एण्ड ऋग्वेद,बी.डी.सी.आर.आई.,खण्ड–18,पृ.225
6. हेरोडोटस,1.131–32

यथा, बलि देना एवं बलि के बाद प्रसाद का वितरण इत्यादि कार्य बलि लाने वाला करता था । परन्तु स्ट्रैबो[1] के विवरण से मागी के विस्तृत कार्यक्षेत्र का पता चलता है । दिओजिनस लैक्रटियस मगों के बारे में लिखता है कि–"मग आभूषण नहीं धारण करते थे। भूमि उनकी विश्राम–स्थली थी, साग–सब्जी, पनीर एवं रोटी उनका मुख्य भोजन था" । मागी मांसभक्षी नहीं थे एवं व्यक्तिगत शुचिता को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे[2] ।

मागी प्रतीक

(1) **पइतिदान–** मागी के कुछ विशेष प्रतीक चिन्ह थे, जिनमें पहला था पइतिदान जो प्रतीक रूप में वस्त्र का एक टुकड़ा होता था और मागी कर्मकाण्ड का एक महत्वपूर्ण अंग था । धर्मकृत्य के सम्पादन, विशेषकर मन्त्रोच्चारण अथवा अग्न्याधान के समय मागी पुरोहित पइतिदान से मुख ढक लेता था, ताकि अग्नि की पवित्रता नष्ट न हो । प्रारम्भ में मागी का शिरोवस्त्र ही पइतिदान का कार्य करता था। यह शिरोवस्त्र मीडियायी[3] प्रकार का था, जिसमें साइड फलैप्स बने होते थे, जिन्हें हवा या धूप से बचाव के लिए चेहरे पर बाँधा जाता था । आगे चल कर यह धार्मिक कर्मकाण्डों का विशेष अंग बन गया । फ्रैन्ज क्युमोन्ट[4] ने एक चित्र प्रकाशित किया है, जो मागी कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है । चित्र में भूमि पर जल, शहद एवं तेल के अर्घ्य देने एवं मन्त्रोच्चार का दृश्य है, मागी पुरोहित का मुख शिरोवस्त्र ढका है ।

(2) **ख्रफ्रस्त्रघ्न -** ख्रफ्रस्त्रघ्न[5] उस वस्त्र को कहते थे, जिसका उपयोग मग कीड़े–मकोड़े को मारने के लिए करते थे ।

(3) **उर्वर–** उर्वर का तात्पर्य है, दण्ड।

(4) **अस्त्रमइरि–** अस्त्रमइरि का अर्थ है, क्षुरिका या चाकू । इन दोनों की आवश्यकता पड़ती थी, सर्प इत्यादि विषैले जन्तुओं से रक्षा कार्य के लिए ।

(5) **बरसम–** किसी विशेष पौधे की पतली–पतली टहनियों के गुच्छे को बरसम कहा जाता था, जिन्हें मागी पूजा–उपासना के समय अपने पास रखते थे । बैक्ट्रिया में आमू दरिया(प्राचीन ऑक्सस) के तट पर स्थित तख्त–ए–कोबद के उत्खनन से अनेक स्वर्ण–पत्र प्राप्त हुए हैं, जिनका काल सातवीं–छठीं शताब्दी ई. पू. है । इस पर हाथ में बरसम लिए हुए मानवाकृतियों का अंकन है[6] ।

---

1. स्ट्रैबो, 15.3.12–14
2. एम. एन. धल्ला, जोरोस्ट्रिअन थियोलॉजी, पृ. 186
3. मेरी बॉयस, हिस्ट्री ऑफ जोरोस्ट्रिअनिज्म, खण्ड–2, पृ. 20
4. फ्रैन्ज क्यूमॉन्ट, रेलिजस ओरिएण्टल्स, चित्र सं.10
   इन्साइक्लोपीडिया अमेरीकाना, खण्ड–18, पृ. 117 द्वारा उद्धृत
5. बेन्दिदाद, 18.1–4
6. इसी अनुच्छेद में पूर्वोद्धृत ।

मागी वैशिष्ट्य

सहज प्रकृतिनिष्ठ ईरानी कर्मकाण्डों की जो जटिल व्याख्या प्रस्तुत की गयी उसका श्रेय मागी जनों को है । इन समस्त कर्मकाण्डों को देवता के द्वारा अधिगत रूप दिया गया। इस तरह आराध्य और आराधक के मध्य वे माध्यम बन गये । तात्पर्य यह कि मागी समस्त ईरानी तंत्र पर प्रभावी होते गये । ईरान में मगों के दो वर्ग प्रतीत होते है-(1)वे जो पारम्परिक मागी धर्म से सम्बद्ध थे जिसमें प्रकृति-पूजन, ज्योतिष व अभिचारों का समावेश था । (2) वे, जो मज्दावाद के अनुयायी थे । मॉल्टन[1] के अनुसार मागी व्यवस्था मज्दा वादियों के समानान्तर थी । इस प्रकार के दो समानान्तर कार्य-पद्धतियों के कारण ही द्वन्द्व की कल्पना अस्तित्व में आयी प्रतीत होती है। ज्योतिष व स्वप्न-विचार मगों के प्रमुख कृत्य थे, जबकि अवेस्ता में ये तत्व नहीं पाये जाते हैं । ज्योतिष के अतिरिक्त गूढ़ आभिचारिक क्रियाएँ भी मागी कृत्यों में सम्मिलित थीं । रहस्यमयता, विचित्रता, मागी कर्मकाण्डों की पहचान थी । उक्त गूढ़ क्रियाओं के अतिरिक्त मागी संस्कृति का एक अन्य पक्ष भी था, जो विशुद्ध दार्शनिक था । थियोपोम्पस[2] ने मागी के पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों की चर्चा की है । स्पूनर ने भी उसका समर्थन किया और कहा कि मागी फ्रवशी (पितृ)की कल्पना में पुनर्जन्म के विकसित सिद्धान्त के सूत्र निहित हैं,जबकि माल्टन[3] के अनुसार फ्रवशी का सिद्धान्त भारतीय विचारों से अभिप्रेरित प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत है मागी विशेषताओं का एक संक्षिप्त आकलन-

ज्योतिष

अपने ज्योतिष ज्ञान के लिए मागी जन प्रसिद्ध रहे हैं । ज्योतिष के प्रयोग मगों के प्रमुख कार्य-कलापों में थे[4] । ईरान के धार्मिक,सामाजिक जीवन में ज्योतिष के दोनों पक्ष-भविष्य ज्ञान एवं नक्षत्र-समान रूप से महत्वपूर्ण थे । धर्म और ज्योतिष परस्पर इतने अधिक सम्बद्ध थे कि यूनानी विचारकों-लेखकों ने जरथुस्त्र को धर्म-सुधारक न मानकर ज्योतिर्विद माना[5] । प्लिनी[6] ने मागी को अनेक क्षेत्रों के विशेषज्ञ होने की चर्चा की है । मागी भविष्यवाणियों का आधार बलि दिये गये पशु का यकृत होता था । शताब्दियों पूर्व से समय-समय पर बलि दिये गये पशु के यकृत का प्रतिरूप एवं उनसे सम्बन्धित महत्वपूर्ण

---

1. जे एच. माल्टन, ट्रेजर आफ मागी, पृ.76
2. ए.बी.कीथ, मागी, जे.आर.ए.एस., पृ.795,1915
3. जे.एच. माल्टन, ट्रेजर ऑफ मागी, पृ. 82
4. जे.एच. माल्टन, ट्रेजर ऑफ मागी, पृ. 76
5. जैक्सन द्वारा उद्धृत जोरोअस्टर द प्रॉफेट ऑफ एन्शेन्ट ईरान, पृ.226-275
6. प्लिनी, नैचुरल हिस्ट्री, डब्लू.एच.जोन्स द्वारा सम्पादित, खण्ड-6,पृ.

घटनाओं के पूर्वानुमानों का विवरण इन मागी कुलों में सुरिक्षत रखे जाते थे[1]। भविष्यवाणियों का यह प्रकार बेबीलोन में भी प्रचलित था। मक्लू[2] के उत्खनन से इस प्रकार के अनेक प्रतिरूप प्रकाश में आये हैं । बेबीलोन में उस प्रकार के कार्यो हेतु पुरोहितों के दो वर्ग थे, जिन्हें अशिपु तथा मश्मशु[3] कहते थे ।

ईरानी सम्वत्सर में बारह महीने और महीने में तीस दिन की मान्यता प्रचलित थी । चन्द्रमा की गति के अनुसार पूरा महीना तीन भागों में विभाजित था, जिसे मिस्त्री प्रभाव माना जा सकता है । परवर्ती हाखामनीष काल में सम्वत्सर का नया रूप व्यवहार में आया । अब पूरे महीने को चार भागों में विभाजित किया गया । समय के इस प्रकार के विभाजन को यद्यपि मागी प्रभाव माना जाता है[4], फिर भी विद्वानों के विचार में मागी नक्षत्र विज्ञान पर बेबीलोनी प्रभाव है[5]।

स्वप्न-विचार : भविष्य-वक्तृत्व

मगों का एक महत्वपूर्ण कार्य था स्वप्न-विचार[6] करना एवं उसके द्वारा भविष्यफल का निर्धारण करना[7] । ग्रीक इतिहासकारों के विवरण रूप में एतद्विषयक प्रभूत साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर स्वप्न-विचार को मगों की महत्वपूर्ण वृत्ति माना जा सकता है । हेरोडटस[8] ने एस्टिएजेज के सपने की व्याखया मागी के द्वारा करने की चर्चा की है । इस सम्बन्ध में हेरोडोटस[9] का एक और सन्दर्भ उल्लिखित है जिसमें साइरस के एक स्वप्न की व्याख्या का वर्णन है । अन्यत्र[10] हेरोडोटस लिखता है कि यूनान पर अपने आकमण के पूर्व जरक्सीज ने तीन स्वप्न देखे थे, जिन पर मागी द्वारा विचार किया गया । पहलवी साहित्य कारनामा-ए-अर्तक्सिर-ए-पापकान में ससानी वंश के संस्थापक पापक के एक स्वप्न का उल्लेख है, जिसके व्याख्याकार मगुस ने ससानी वंश के सुखद भविष्य की घोषणा की थी। प्रकारान्तर से शाहनामा[11] में भी इसकी चर्चा है ।

---

1. रॉवर्ट कॉलिन्स, मीडिज एण्ड पर्सियन्स, पृ. 28
2. बेद्रिख ह्रोजनी, एन्शेन्ट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न एशिया इण्डिया एण्ड क्रीट, पृ. 90-93
3. **एच.डब्लू.एफ.** सैग्स, द ग्रेटनेस दैट वाज बेबीलोन, पृ. 305
4. मेरी बॉयस, जोरोस्ट्रिअन्स दियर रेलिजस विलीफ एण्ड प्रैक्टिसेज, पृ. 71
5. क्लेमेन्ट हुआर्ट, एन्शेन्ट पर्सिया एण्ड ईरानियन सिविलाइजेशन, पृ.114
6. ग्नार्डो ग्नोली, जोरोअस्टर्स टाइम एण्ड होमलैण्ड, पृ. 207
7. जे. एच. मॉल्टन, ट्रेजर ऑफ मागी, पृ. 64
8. हेरोडोटस, 1.107
9. हेरोडोटस, 1.209 एवं आगे
10. हेरोडोटस, 7.12 एवं आगे
11. शाहनामा, 5.218 एवं आगे

मैजिक : अभिचार

अभिचार या मैजिक पुरातन काल से जन जीवन में व्याप्त महत्वपूर्ण क्रिया रही है । मैजिक शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द (arEia = मागिया)से हुई है, जिसे यूनानी लेखकों के द्वारा मागी कार्यकलापों को पारिभाषित करने हेतु प्रयुक्त किया गया[1]। कोष ग्रन्थों में इसका अर्थ–धर्म, ज्ञान एवं मगों के गुप्त रहस्यात्मक प्रयोग–किया गया है । इस प्रकार मैजिक अपने शाब्दिक अर्थ द्वारा ही मगों से सम्बद्ध प्रतीत होता है । धर्म और अभिचार यद्यपि दो अलग–अलग धाराएँ हैं, किन्तु इनका एक दूसरे में अन्तः प्रवेश इतना अधिक है कि इनकी पृथक् पहचान करना कठिन है । सुमेरी, बेबीलोनी एवं असीरियायी सभ्यताओं के अवशेष–स्वरूप प्राप्त मृत्पट्टिकाओं से एतद् विषयक पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है । अनेक मृत्पट्टिकाओं पर अभिचार सम्बन्धी सूत्र एवं विधि–विधान[2] अंकित हैं । जैसा कि विदित है,मागी अभिचार में दक्ष होते थे । इन्हीं कार्यकलापों के आधार पर प्लूटार्क ने इनकी विशेष पहचान की थी । प्लूटार्क[3] ने मागी की अनेक निगूढ़ क्रियाओं की चर्चा की है,जिनमें इनके द्वारा बुराई के देवता को वृक की बलि देना भी था । यह बलि निर्जन एवं अंधेरे स्थान पर दी जाती थी । प्रकटतः यह एक अभिचारिक क्रिया थी । यह मान्यता प्रचलित थी कि रोग, मृत्यु इत्यादि आपदायें प्रकृति की आधिभौतिक शक्तियों के कारण आती है, अतः निदान हेतु प्रयत्न करने का माध्यम अभिचार था । ईरानी परम्परा में ऐसी अनेक क्रियाएँ हैं जिन्हें अभिचार माना जा सकता है । शुद्धिकरण, बलि–अर्पण एवं रोग–निदान आदि प्रक्रियाओं में अभिचार की महत्वपूर्ण भूमिका है। वेन्दिदाद[4] में वर्णित शुद्धिकरण "बर्शमुम्नू शअब"अभिचारों का वृहद संकलन है। शुद्धिकरण की भाँति बलि–अर्पण भी एक आभिचारिक क्रिया है ।

भेषज–क्रियाओं में अभिचार का महत्वपूर्ण स्थान रहा है । तन्त्र–मन्त्र द्वारा चिकित्सा की परम्परा प्रचलित थी । बेन्दिदाद[5] में तीन प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों का निर्देश है जिनमें एक मन्त्र बयशज (मन्त्र–भेषज)पद्धति भी है,जिसके लिए कहा गया है कि यह रोग एवं आधिभौतिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न कष्टों के लिए समान रूप से प्रभावकारी है । इन अभिचार क्रियाओं के प्रणेता मग थे,जो शताब्दियों से अभिचारक के रूप में जाने जाते रहे थे[6] ।

---

1. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, खण्ड–3, पृ 570
2. वी ह्रोज्नी, एन्शेट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न एशिया इन्डिया एण्ड क्रीट,पृ.94
3. जे.एच. मॉल्टन,ट्रेजर ऑफ मागी, पृ 63
4. वेन्दिदाद– 9
5. वेन्दिदाद– 20
6. आर.पी.चंदा,इन्डो आर्यन रेसेज,पृ.211–12

मगों के आभिचारिक कर्मकाण्डों से सम्बन्धित एक भित्ति–शिल्प[1] का अंश एशिया माइनर में मनियास झील के पास एरगिलि गॉव से प्राप्त हुआ है, जिस पर देवता को बलि अर्पित किये जाने का दृश्य है । इसमें एक श्मश्रु–युक्त मानवाकृति एक अलंकृत ताखे के पास खड़ी है । दो अन्य व्यक्ति पूजा की मुद्रा में खड़े हैं । इनका दाहिना हाथ खुला और फैला हुआ है तथा बायें हाथ में बरसम परिलक्षित है । उनके सामने घास पर एक भेड़ तथा एक बैल के सिर रखे हुए है । मागी और उसका सहायक अपने शिरोवस्त्र से अपना मुख ढके हुए हैं । इस शिल्प का काल पॉचवीं शताब्दी ई. पू. का उत्तरार्द्ध है । यह सम्भवतः यूनानी कलाकारों द्वारा बनाया गया है, जो ईरानियों के लिए कार्यरत थे । ये मागी कुछ कर्मकाण्डों के विशेषज्ञ होते थे,जो गुह्य होते थे। उनमें यह ज्ञान अत्यन्त पुरातन काल से चला आ रहा था, सम्भवतः प्रागैतिहासिक काल से। उस काल से, जब ईरानी और भारतीय एक होते थे ।

विवाह–रीतियॉ

मग जनों में प्रचलित विवाह प्रथा कुछ विलक्षण कही जा सकती है । समाजशास्त्रीय शब्दावली इसे आदिम प्रथा मानेगी क्योंकि उनमें पारिवारिक विवाह सम्बन्ध होते थे। अर्थात् पिता–पुत्री,भाई–बहन,माता–पुत्र के वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलन में थे और गौरवपूर्ण माने जाते थे[2] । यह प्रथा प्राचीन ईरानी मान्यताओं के विपरीत और मागी के अनेक गूढ़ कृत्यों में एक थी[3]।

अवेस्ता में इससे सम्बन्धित अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है । जरथुस्त्र के बाद मज़्दावाद में अनेक ऐसे तत्वों का प्रवेश हुआ,जिनका जरथुस्त्र ने निषेध किया था । यह प्रथा भी उनमें एक थी । मज्जदावाद में इस ख्वएत्वदथ कहा गया है और इसे गौरवपूर्ण माना गया है[4]। विशेषप्रकार के धार्मिक उत्सवों में ख्वएत्वदथ के लिए चुनाव होता था। मज्जदावादी अनेक कर्मकाण्डों के लिए व्यक्ति विशेष आवश्यक होते थे, जिन्होंने ख्वएत्वदथ सम्पन्न किया हो[5]। जहॉ तक ख्वएत्वदथ का ईरानी समाज में प्रचलन का प्रश्न है, इस समाज के लिए यह प्रथा अज्ञात थी । इस सम्बन्ध में हेरोडोटस[6] का विवरण मिलता है कि हाखामनीष शासक कम्बुजिय अपनी बहन से विवाह करना चाहता था, किन्तु समाज में इस प्रकार की प्रथा का प्रचलन नहीं था, अतः उसने अपने राज–पुरोहित एवं

1. क्लीमेन्ट हुअर्ट, एन्शेन्ट पर्सियाएण्ड ईरानियन सिविलाइजेशन,पृ 83
2. मॉल्टन, अर्ली जोरोस्ट्रिअनिज्म,पृ. 205;एम.एन.डाउसन,द एथिकल रेलिजन ऑफ जोरोअस्टर,पृ. 152
3. मॉल्टन, ट्रेजर ऑफ मागी, पृ 112
4. यस्न– 12.9
5. वैन्दिदाद– 8.13
6. हेरोडोटस, 3.31

न्यायाधिकारियों से परामर्श किया । निष्कर्ष यह निकला कि यह प्रथा न तो धार्मिक मान्यता प्राप्त है, न ही परम्परा में है, किन्तु राजा के लिए कोई बन्धन नहीं है । हेरोडोटस आगे कहता है कि उस शासक से पूर्व किसी ने ऐसा नहीं किया था । मगों के मज्जदावाद पर अत्यधिक प्रभाव के कारण ख्वएत्वदथ मज्जदावादी नीतिशास्त्र में समन्वित कर लिया गया । इसे पवित्र व श्लाघ्य माना गया तथा इसका दैवीकरण करने के लिए अहुरमज्दा से सम्बन्धित कर दिया गया[1] । इसके मूल में मागी रीति-रिवाजों को ईरानी समाज में लोकप्रिय करना था । मॉल्टन[2] के विचार में यह प्रथा न तो सेमेटिक है और न ही भारोपीय,अपितु मागी है।

अन्त्येष्टि

ईरान के मज्दावाद के प्रसाद के पूर्व अन्त्येष्टि सम्बन्धी संस्कारों का स्वरूप भिन्न था,जैसा कि अनेक स्थानों पर किये गये उत्खननों में प्राप्त शवाधानों से ज्ञात होता है । अंत्येष्टि की मागी परम्परा ईरानी परम्परा से भिन्न थी । यूनानी इतिहासकारों के विवरण यह स्पष्ट करते हैं कि मज्जदावाद में प्रचलित अन्त्येष्टि का प्रकार मागी परम्परा का अनुकरण है । हेरोडोटस[3] और स्ट्रैबो के वृत्तान्तों में इस विषय से सम्बन्धित अनेक साक्ष्य हैं । विवरण मिलता है कि,मागी अपने मृतकों को किसी निर्जन स्थान पर डाल देते थे,जहाँ जंगली पशु-पक्षी उन्हें खा जाते थे । सिकन्दर का समकालीन इतिहासकार एरिस्टोव्युलस[5] ने मागी प्रकार की अन्त्येष्टि की चर्चा की है । वर्तमान मज्जदावाद में इसे दख्म कहते है[6] ।

---

1. यस्न- 14.4
2. मॉल्टन, जे.एच.,मागी,ई.आर.ई., खण्ड-8,पृ. 242
3. हेरोडोटस, 1.140
4. स्ट्रैबो, 15.1.62
5. बी.एन.पुरी, इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई अर्ली ग्रीक राइटर्स, पृ.94
6. राजेन्द्र लाल मित्र,इण्डो आर्यन्स, खण्ड-2,पृ. 116

तृतीय अध्याय

मग : अभ्युदय एवं प्रसार की धाराएँ

भारतीय सन्दर्भ में "मग" से बोध होता है ब्राह्मणों की एक विशेष शाखा का । मग ब्राह्मणों को कहा जाता है, साकलदीपी यानी शाकद्वीपी। मगों के शाकद्वीप से सम्बन्धित होने की गाथा पौराणिक है किन्तु इसके सूत्र पौराणिक काल से प्राचीन हैं । "मग" शब्द भारतीय वाङ्मय में सर्वप्रथम महाभारत[1] में मिलता है, जहाँ इसे शाकद्वीपीय विद्वत् वर्ग के लिए प्रयुक्त किया गया है । इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है पौराणिक सन्दर्भ, जिनमें शकस्थानीय मग ब्राह्मणों के कथा–प्रसंग विस्तार से मिलते हैं । सर्वप्रथम भविष्य पुराण[2] से परिज्ञात शाकद्वीपी मगों के आगमन की घटना उल्लेखनीय है, जो पृथक् रूप में साम्ब पुराण[3] में भी उपवर्णित है । तदनुसार एक बार श्री कृष्ण–पुत्र साम्ब कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो गए, अस्तु रोगमुक्ति के लिए पूजा अनुष्ठान हेतु उन्होंने द्वारका से इतर एक स्थान शाकद्वीप के ब्राह्मणों को आमंत्रित किया, जिनके द्वारा सम्पन्न सौर अनुष्ठान द्वारा साम्ब रोग–मुक्त हुए ।

इस पौराणिक कथा के ब्याज से इस बात का संकेत मिलता है कि मग सुदूर अतीत में कभी भारत से इतर किसी अन्य स्थान से जुड़े रहे हैं और वह स्थान था शाकद्वीप । शाकद्वीपीय ब्राह्मणों की यही कथा थोड़े अन्तर के साथ ब्रह्म, कूर्म, स्कन्द इत्यादि पुराणों में भी प्राप्त है । पुराणों में वर्णित इस शाकद्वीपीय प्रसंग के साथ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मग यदि शाकद्वीपी थे तो शाकद्वीप[4] कहाँ था ? शाकद्वीप पर यथा प्रसंग विचार किया जाएगा पर प्रथमतः इस पर विचार करना समीचीन होगा कि मागी प्रभाव के प्रसार के कितने चरण थे। मागी प्रसार के निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, किन्तु वैदिक समाज की अनेक परम्पराओं में इसके संकेत विद्यमान हैं । पूर्व के अध्यायों में यह निश्चित हो चुका है कि 'मग' मूल वैदिक धारा के ही सदस्य थे, किन्तु वैदिक धारा के ये सदस्य कार्यगत तथा वैचारिक वैषम्य के कारण अपनी मूल धारा से पृथक् पहचान रखते थे । इस विषमता के स्फुट साक्ष्य हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त हैं, जिस पर पूर्व के अध्यायों में विचार किया जा चुका है । अब यह विचारणीय प्रश्न है कि मग यदि मूल धारा के ही सदस्य थे तो पौराणिक काल में उन्हें भारतेतर क्यों माना गया ?

---

1. महाभारत, भीष्म पर्व, 12.34
2. भविष्य पुराण, अध्याय, 139.
3. साम्ब पुराण, अध्याय, 3, 24 एवं 26
4. द्र. परिशिष्ट– एक

मगों की भारतीय और ईरानी शाखाओं का विकास पृथक्-पृथक् सांस्कृतिक परिवेश में हुआ जिसके फलस्वरूप इनमें परिवेशगत विशेषताओं का भी समाहार होता गया । इसी कारण इनमें भिन्नता दिखाई देती है । मगों की भारतीय धारा समय के साथ–साथ मूल वैदिक धारा में समाहित होती रही, किन्तु समय–समय पर होने वाले सामाजिक–राजनैतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप मगों की इरानी व भारतीय शाखाओं का सम्पर्कहोता रहा, जिससे एक दूसरे की विशेषताओं का परस्पर अन्तःप्रभाव भी होता रहा । इन्हीं प्रभावों के कारण एक समय ऐसा आया जब उन्हें पूर्णतया विदेशी ही मान लिया गया । यह अन्तर्प्रभाव काल प्रवाह के साथ होता रहा । इन काल खण्डों में साहित्य और पुरातत्व में कुछ नवीन प्रवृत्तियों के सूत्र मिलते हैं, जो संकेत करते है–एक पृथक् सांस्कृतिक प्रभाव की ओर ।

सूर्योपासना से सम्बद्ध मगों के इतिवृत्त को सामान्यतः सूर्यपूजा की भारतेतर परम्परा के परिपार्श्व में ही परखा जाता रहा है । यद्यपि यह अर्ध सत्य है क्योंकि मागी प्रवृत्तियॉ बहुविध रही हैं । उपलब्ध पुरातात्विक साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर बौद्ध काल, शक–कुषाण एवं गुप्तोत्तर युग में मागी प्रभाव की सूचना स्पष्ट है, किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है सुदूर अतीत में मागी संस्कृति की पृष्ठभूमि । इस दृष्टि से, जैसा कि हम पूर्ववर्ती अनुच्छेद में विचार कर चुके हैं, वैदिक वाङ्मय के स्रोत उल्लेखनीय महत्व के हैं। इस परिपार्श्व में हम कह सकते हैं कि हाखामनीष स्रोतों से ज्ञात जिन प्रबुद्धजनों को हम "मग"नाम से जानते हैं, उनका पुरावृत्त और भी पुरातन है तथा उनकी सांस्कृतिक स्मृति के स्वर भारत में भी कम से कम वैदिक वाङ्मय में विद्यमान रहे हैं । जैसा कि मग अभिप्राय के विश्लेषण से हमने स्पष्ट किया कि मग, मघ मूलतः भारतेरानी परम्परा के शब्द हैं । अस्तु अच्छा हो कि प्रस्तुत परिच्छेद में हम मगों की तीन धाराओं पर विचार करें । प्रथम धारा के स्रोत विशुद्ध साहित्यिक हैं और वस्तुतः वे ही हैं मगों की प्राचीनता बताने वाले स्रोत ।

अन्ततः भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा में समाविष्ट होने वाली मागी प्रवृत्तियों की तीन धाराएँ ज्ञातव्य हैं ।

1. वैदिक युगीन
2. बौद्ध कालीन
3. शक–कुषाण कालीन

ध्यातव्य है कि वैदिक कहने से मात्र इन्द्रादि देवों की उपासना या उनके यज्ञ सम्बन्धी आचार का ही बोध नहीं होता अपितु वैदिक वाङ्मय में आर्य परम्परा की ही अनेक धाराओं का बोध होता है । इतना ही नहीं, वेदों में प्रमुखतः ऋग्वेद, कतिपय ब्राह्मण वचनों और अथर्ववेदीय मंत्रों में ऐसे सूत्र–संकेत विद्यमान हैं जो अति पुरातन है, वैदिक काल से भी पुराने । इस काल खण्ड को ही हम, सुविधा के लिए प्राक् ऋग्वेद कहेंगे। "मघ"की परम्परा

इसी प्राक् ऋग्वेदीय वर्ग विशेष की याद दिलाता है, जिस पर प्रथम अध्याय में हमने सतर्क विश्लेषण किया है ।

यहाँ उत्तर वैदिक वाङ्मय विशेषतः अथर्ववेद से परिज्ञात कतिपय ऐसी प्रवृत्तियों की चर्चा की जाएगी, जो मूल आर्य–धर्म से अलग रही है या यह कहना अधिक युक्ति संगत होगा कि मागी प्रवृत्तियों का प्रमाण रही हैं । अथर्ववेद वस्तुतः यज्ञ–कर्म की अपेक्षा गृह्य विषयक कर्म से अधिक सम्बद्ध है और इसका सम्पूर्ण अभिप्राय उन तत्वों का वैदिकीकरण है, जो वेदत्रयी में समाविष्ट नहीं है । इसमें यज्ञ सम्बन्धी मंत्रों के अतिरिक्त जीवन को सुखमय बनाने हेतु अनेक साधनों की सिद्धि के लिए नाना अनुष्ठानों–विधानों का समावेश है । अथर्वांगिरस ऋषियों द्वारा परिदृष्ट मंत्रों के इस संग्रह को अभिचार नियमों का कोष भी कहा जा सकता है ।

अथर्ववेदीय विषय मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं, जो दो ऋषिकुलों अथर्वण एवं आंगिरस के द्वारा प्रणीत हैं । अथर्ववेद इसीलिये अथर्वाङ्गिरस[1] भी कहा गया है । आथर्वणिक क्रियाओं का अभिप्राय भेषज से सम्बन्धित क्रियाओं से है तथा आंगिरस द्योतक हैं उन क्रियाओं का जो अनिष्ट मूलक हो सकती हैं । अर्थात् जो "घोर" हैं ।

ज्ञातव्य है कि अथर्ववेद[2] के अथर्वण मंत्रों में पौरोहित्य एवं भिषग् का पर्याप्त समन्वय है । विवरण के अनुसार अनेक रोग व्याधियों के, मंत्र द्रष्टा के स्पर्श मात्र से दूर हो जाने की चर्चा है ।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में अन्य अनेक विषयों का परिचय मिलता है, जो ऋक–परम्परा में नहीं है । अथर्ववेद[3] सूर्योपासना की नवीन व्याख्या करता है एवं सूर्य की पूर्वाह्न उपासना के अतिरिक्त सायं उपासना का भी संकेत देता है ।

अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त मेखला[4] की स्तुति में है । मेखला निश्चय ही, एक आभिचारिक उपकरण है । परवर्ती काल के संस्कार–विधानों में मेखला को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ(भारत–ईरानी सौर परम्परा में एक शब्द प्रचलित रहा है, अव्यंग अव्योधेन।

---

1. एम.विंटरनित्ज, भारतीय साहित्य, अनुवादक लाजपत राय, खण्ड1,भाग 1, पृ. 19, 1961
2. अथर्ववेद, 4.3.67

   अयं मे हस्तो भगवानय मे भगवत्तरः ।
   अयं मे विश्वभेषजो यं शिवाभिमर्शनः ।
3. ए.सी.दास, प्री पुरानिक फॉर्म ऑफ सन वर्शिप इन अथर्ववेद संहिता, वी. आई. जे. खण्ड–19, भाग1–2, पृ.21; अर्थर्ववेद, 19.17.5,

   सूर्यो मा द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिंञ्छये तां पुरं प्रैमि ।
   स मा रक्षतु समा गोपायतु तस्मा आत्मानं परिददे स्वाहा ।।
4. अथर्ववेद, 6.133

गुप्त काल में इसे मूर्तिकला की मागी धारा का विशेष लक्षण माना गया) ।अथर्ववेदीय मेखला सूक्त में पाँच मंत्र हैं । प्रथम मंत्र में कहा गया है कि अपने शत्रु की हिंसा के निमित्त देवताओं ने इस मेखला को स्थापित किया था । दूसरे मंत्र[1] में अभिप्राय अधिक स्पष्ट है। उसे आहुतियों से सिद्ध तथा ऋषियों की अस्त्र रूपा कहा गया । पुनः इसे मंत्र सिद्ध एवं अभिचार के दोष को मिटाने वाली कहा गया है । अभिप्राय स्पष्ट है । यह मंत्र-पूत-तन्तु, निश्चय ही अभिचार से सम्बन्धित होता था और आभिचारिक क्रियाओं से रक्षा हेतु इसे उपनीत ब्रह्मचारी के साथ सम्बद्ध किया जाने लगा । इस प्रकार मेखला-सूक्त-संदर्भों की पृष्ठभूमि में कहा जा सकता है कि सूर्योपासना में कालान्तर में जो अव्यंग की महत्ता चल पड़ी उसके आधार सूत्र अथर्ववेद में सुरक्षित हैं । उल्लेख्य है कि भाषा शास्त्रियों ने "मेखला"और "मित्र" (सूर्य)की व्युत्पत्ति एक ही मूल धातु से माना है । ये दोनों ही शब्द भारोपीय भाषा परिवार के हैं और इनकी भारोपीय धातु हैं मेइ' । गौतम (1.15), बौधायन गृह्य सूत्र (2.5.13), मनुस्मृति (2.42)में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये क्रमशः मुंज, दूर्वा एवं पटुआ की मेखला का विधान है । मेखला का प्रयोग सूत्र-ग्रन्थों में भी वर्णित है । वहाँ अश्वमेध के सन्दर्भ में अश्व को पवित्र जलों से अभिषिक्त करने के पश्चात मुंज या दर्भ की मेखला पहनाये जाने का उल्लेख है[2] ।

उपर्युक्त क्रियाओं, मन्त्रों के अतिरिक्त अथर्ववेद में कुछ नवीन संस्कारों के सूत्र विद्यमान हैं, जो ऋग्वेद में नहीं मिलते । ऋग्वेद से दो प्रकार की अंत्येष्टि परम्परा[3] का स्वरूप स्पष्ट होता है । अथर्ववेद[4] में इन दो प्रकारों के अतिरिक्त एक नवीन प्रकार का विवरण प्राप्त होता है-काष्ठ के सामान त्यागे गये--- । ध्यातव्य है कि समान प्रथा का चलन मगों में भी था जिसके उदाहरण ग्रीक इतिहासकारों के वृत्तान्तों में प्राप्य है । इस परम्परा के अनुरूप (इस पर पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है) शव को ऐसे निर्जन स्थान पर डाल दिया जाता था, जहाँ माँस-भक्षी पशु-पक्षी आते हों । अथर्ववेदीय काल (1500ई.पू.)में इस प्रकार के शवाधान के अवशेष भी प्राप्त होते हैं । एक और परम्परा भृगु-आंगिरस कुल में प्रचलित थी जो मागी परम्परा के समान प्रतीत होती है । भृग्वांगिरसों

---

1. अथर्ववेद, 6.133.2
2. आपस्तम्ब, 20.5.1.9
3. छंदा चक्रवर्ती, कॉमन लाइफ इन द ऋग्वेद एण्ड अथर्ववेद, पृ.84-85
4. अथर्ववेद, 18.2.34

   ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिता ।
   सर्वास्तानग्न आ वह पितृन हविषे अत्तवे । ।

(ऋषियों) की एक शाखा में सगोत्रीय विवाह प्रथा का प्रचलन था, इन्हें केवल भृगु एवं केवलांगिरस कहते थे[1] । वैदिक आर्यों में विवाह सम्बन्धी जो नियम प्रचलित थे, उनमें केवल भृगु एवं केवलांगिरस गोत्रजों का आचरण अपवाद था-- । भृगु-आंगिरस की अन्य शाखाओं में वैदिक आर्यों के अनुकूल वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलित थे । केवल भृगु में यस्क, मित्रयु (वाध्य्रश्व) वैन्य (श्येन) और शुनक (गृत्समद) एवं केवलांगिरसों में हरित, कुत्स, कण्व, विष्णु, वृद्ध, मुद्गल एवं संकृति गोत्रजों का उल्लेख मिलता है[2]।

वैदिक काल के पश्चात् पुनः बौद्ध काल में भी कुछ नीवन प्रवृत्तियों के साक्ष्य मिलते हैं । इस काल की मुख्य विशेषताओं में सूर्याग्नि पूजा थी और इनकी विशेषज्ञता मुख्यतया ज्योतिष के क्षेत्र में प्रतीत होती है । यही कारण है कि बौद्ध काल[3] में ज्योतिष के ज्ञाता हेय दृष्टि से देखे जाते थे । सूर्य पूजकों की इस धारा के संक्रमण के कारण ही सूर्य के अंकन की परम्परा का सूत्रपात हुआ प्रतीत होता है । वैदिक परम्परा में सूर्य के अर्घ्य, आचमन का प्रचलन था, जिसका निमित्त था दृश्यगत सूर्य (मण्डल) । सूर्य की यह पारम्परिक उपासना वैष्णव, शैव एवं शाक्त धर्मानुयायियों में भी प्रचलित थी । यह किंचित् आश्चर्य का विषय है कि दृश्यमान सूर्य के होते हुए भी सूर्य के अंकन की आवश्यकता क्यों हुई । ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में एक वर्ग ऐसा था जो पूर्णतया सूर्य-उपासना से सम्बद्ध था और समकालीन अन्य प्रचलित मतों की तुलना में अपनी मान्यताओं को स्थापित करने में प्रयासरत था । सूर्य के प्राचीनतम अंकन पाटलिपुत्र, भाजा, बोधगया, मथुरा से प्राप्त हुये हैं, जो क्रमशः मौर्य एवं शुंग[4] काल के हैं, जबकि मौर्यकाल में बहुप्रचलित उपासना प्रकारों में सूर्य पूजा नहीं थी, क्योंकि जिन देवों के मन्दिर-निर्माण के निर्देश अर्थशास्त्र[5] में हैं, उनमें सूर्य-मन्दिर नहीं है ।

बौद्ध ग्रन्थ दीघ- निकाय के अन्तर्गत ब्रह्मजाल सुत्त[6] (जिसकी सम्भावित तिथि[7] चौथी शताब्दी ईसा पूर्व है) में जीवन यापन के निषिद्ध साधनों में सूर्य उपासना एवं ज्योतिष भी है । डॉ. पाठक[8] ने इन सूर्यपासकों को मग माना है । इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि

1. जॉन ब्रफ, द अर्ली ब्राह्मैनिकल सिस्टम ऑफ गोत्र एण्ड प्रवर, इन्ट्रोडक्शन, पृ. 29
2. तत्रैव ।
3. गोपीनाथ राव, एलिमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्रोग्राफी, खण्ड-1, भाग-2, पृ. 301
4. जे.एन.बनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्रोग्राफी, पृ. 432 एवं आगे
5. अर्थशास्त्र, 2.4
6. एन.एन.बसु द्वारा उद्धृत, आर्कियोजॉजिकल सर्वे ऑफ मयूरभंज, पृ.IX
7. एस.के.बेलवलकर एण्ड आर.डी.रानाडे, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड-2, पृ. 298
8. वी.एस.पाठक, स्मार्त रेलिजस ट्रेडिशन, पृ. 8

बौद्धकालीन समाज में स्पष्टतः एक वर्ग ऐसा था, जो सूर्य-उपासक के रूप में स्थापित था और जिनसे बौद्धों की स्पर्धा थी ।

चौथी शताब्दी ई.पू. के उत्तरार्द्ध में भारत आने वाला यूनानी नौसैनिक नियार्क्स (जो सिकन्दर की सेना में था) अपनी नौका का लंगर ऐसे स्थान पर गिराने का उल्लेख करता है, जहाँ के निवासी सूर्य के प्रति श्रद्धा भावना रखते थे[1] । यूनानी यात्री मेगस्थनीज[2] अपने यात्रा विवरण इण्डिका में विद्वज्जनों के दो समुदायों का उल्लेख करता है-ब्राह्मनोई एवं सरमनोई , जिन्हें अशोक के अभिलेखों में ब्रह्मन-समन (ब्राह्मण-श्रमण) कहा गया है । यूनानी यात्री पुनः "ब्रम्हन" - ब्राह्मणों के लिए लिखता है कि वे प्रतिदिन स्नान के पश्चात् सूर्य के प्रकाश में उपासना करते थे । मैक्रिण्डल[3] के अनुसार ये वहीं ब्राह्मण थे, जिनको फिलोस्ट्रैटस ने सूर्य-पूजक, एरियन और स्ट्रैबो ने जन सामान्य एवं राजकीय बलिकर्मों का सम्पादन करने वाला बताया है । मेगस्थनीज ने एक अन्य प्रजाति सुराई[4] का उल्लेख किया है, जो सिन्धु के तटवर्ती क्षेत्र में निवास करती थी एवं जिन्हें संस्कृत सौराः[5] के समकक्ष माना जा सकता है । अन्यत्र[6] मगध में विदेशियों के निवास की सूचना मिलती है । मेगस्थनीज उनको राज्य की ओर से प्राप्त होने वाली सुविधाओं एवं उनके उत्सवों की चर्चा करता है, जिनके मागी होने की सम्भावना प्रतीत होती है ।

अर्थशास्त्र[7] में एक स्थान पर मातृ-पितृ हीनों के लिए स्पष्ट निर्देश है कि उन गृहहीनों को राज्य की ओर से भरण-पोषण मिलना चाहिये, जो विज्ञान, हस्त रेखा विज्ञान, ज्योतिष, अभिचार एवं धर्म की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करते हों । अन्यत्र (अर्थशास्त्र-9) में यह उल्लेख है कि राजा के मुख्य पुरोहित को अथर्वण क्रियाओं में निष्णात होना चाहिए । इसके विपरीत बौधायन गृह्य सूत्र (2.1.2.16) में ज्योतिष के प्रयोग का निषेध किया गया है ।

बौधायन धर्म सूत्र[8] में कुछ नवीन कर्मकाण्डों का उल्लेख है । बौधायन ने दक्षिण भारत में प्रचलित सगोत्रीय विवाह सम्बन्धों की चर्चा की है । पुनः बौ.ध.सू. में (1.87) ऊँचे स्थान

1. इण्डियन एक्टिक्वरी, मार्च-1876, पृ., 101, ट्रान्सलेशन ऑफ द इण्डिका ऑफ एरियन, बाई-मैक्रिण्डल
2. एम मैक्रिण्डल, एन्शेन्ट इण्डिया (मेगस्थनीज एण्ड एरियन फ्रैगमेन्ट 40-3 एवं आगे) पृ. 105
3. एम. मैक्रिण्डल, एन्शेन्ट इण्डिया (मेगस्थनीज एण्ड एरियन फ्रैगमेन्ट), पृ. 145-46
4. तत्रैव ।
5. आर.ए.जयराजवॉय, फॉरेन इन्फलूएन्स इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ. 35-47
6. तत्रैव ।
7. अर्थशास्त्र, 12,
8. सुधाकर चट्टोपाध्याय, द अखामेनिडस इन इण्डिया, पृ. 30

पर शवाधान करने का विधान है । ये प्रथाएँ मगों में ज्ञात थी[1] । बौधायन धर्मसूत्र का काल, कीथ[2] के अनुसार, तीसरी शताब्दी ईसा–पूर्व हो सकता है, पर सुधाकर चट्टोपाध्याय[3] ने उसे अशोक के पूर्व माना है । आधुनिक पाकिस्तान[4] में एक स्थान बालम्बाट में हुए उत्खनन में सूर्य–प्रतीकों के साथ–साथ अग्नि–वेदिकाएँ भी प्राप्त हुयी है । इनका काल हाखामनीषकाल सम्भावित है । ये अग्नि–वेदिकाएँ हाखामनी काल में इस क्षेत्र में अग्नि व सूर्य–उपासना सम्बन्धी मत के प्रचलित होने की सम्भावना को पुष्ट करती हैं । इसके अतिरिक्त तक्षशिला में शवाधान के मागी प्रकार के प्रचलन[5] की सूचना मिलती है ।

रामायण से एक ऐसे क्षेत्र का ज्ञान होता है, जो सूर्य या सूर्योपासना से सम्बद्ध था । विवरण के अनुसार एक पर्वतीय प्रान्त[6] का उल्लेख है । यह प्रान्त सुराष्ट्र एवं वाह्लीक (पंजाब) के सन्धि क्षेत्र में स्थित था । विश्वकर्मा[7] ने यहीं पर सहस्त्रार चक्र का निर्माण किया था एवं वशुओं ने सूर्य की पूजा की थी । यह मूलस्थान (वर्तमान मुल्तान पाकिस्तान) के निकट स्थित प्रतीत होता है, जहाँ सूर्य उपासना का मूल अधिष्ठान था । महाभारत[8] के भीष्मपर्व में शाकद्वीप नामक स्थान का उल्लेख मिलता है, जहाँ शाकद्वीपीय चातुर्वर्णों में प्रथम, मगों की चर्चा है ।

उपर्युक्त समस्त साक्ष्य उस अन्तर्प्रभाव की ओर की ओर इंगित करते हैं, जिसका श्रेय सम्भवतः हखामनी आक्रमणों को जाता है । मग एवं मिथ्रोपासना ईरान के सैनिक वर्ग में पर्याप्त लोकप्रिय थी[9] । इसके प्रभूत साक्ष्य हैं कि प्राचीन काल से ही ईरान व भारत के राजनैतिक व्यापारिक सम्बन्ध[10] थे । साथ ही भारत के पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में विदेशी मुख्यतः मागी प्रभाव[11] भी व्याप्त था । यह वही क्षेत्र है, जहाँ हमें मागी प्रभाव के अन्तर्गत

1. मॉल्टन, अर्ली रेलिजस पोयट्री ऑफ पर्सिया, पृ. 75–77
2. ए.वी. कीथ, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ. 439
3. सुधाकर चट्टोपाध्याय, द अखामेनिड्स इन इण्डिया, पृ.29
4. ए.एच.दानी.एन्शेन्ट पाकिस्तान, खण्ड–3
5. आर.धर्समन, ईरान, पृ. 156
6. बाल्मीकीय रामायण 42/27

    चतुर्भागे समुद्रस्य चक्रवान नाम पर्वतः ।
    तत्र चक्रं सहस्त्रारं निर्मितं विश्वकर्मण । ।
7. तत्रैव 42/6 सौराष्ट्रान सहवाह्लीकांश्चन्द्रचित्रांस्तथेव च ।
8. महाभारत, भीष्म पर्व – 11.35–38
9. आर.घर्समन, ईरान, पृ.–156; आर.सी. मजूमदार, क्लैसिकल एकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया, पृ.–280
10. जैक्सन, सी, एच.आई. खण्ड–1, पृ.331
11. एस.चट्टोपाध्याय, अखामेनिड्स इन इण्डिया, पृ. 22–23; देबाला मित्रा, फॉरेन एलीमेन्ट इन इण्डियन पापुलेशन, सी.एच.आई. खण्ड–2, पृ.613–15

प्रथम सूर्य मन्दिर की स्थापना की सूचना मिलती है[1] । इसके अतिरिक्त पॉचवी शताब्दी ईसा–पूर्व में भारत ईरानी सम्बन्धों पर पुरातत्व से भी प्रकाश पड़ता है ।

शक–कुषाण काल से भारतीय संस्कृति में पुनः कुछ नवीन प्रवृत्तियों का परिचय मिलने लगता है, जब कला में सूर्य–प्रतिमाओं के अस्तित्व का ज्ञान होता है एवं साहित्य शाकद्वीपी सूर्यपूजकों की चर्चा करने लगते हैं । शक–कुषाण काल से आधुनिक काल तक इन प्रवृत्तियों की चर्चा साहित्य एवं अभिलेखों में प्राप्त होती है । शाकद्वीप की कल्पना, शाकद्वीपीय वर्ण–व्यवस्था की कल्पना, मूल स्थान की प्रतिष्ठा, सूर्य–प्रतिमाओं–मन्दिरों का निर्माण इत्यादि कुछ नवीन प्रवृतियॉ है, जो इस काल में दिखायी पड़ती हैं । भारत के इतिहासकारों की यह सामान्य धारणा रही है कि भारत में मगों का प्रवेश शक–कुषाण युग में हुआ[2] । अर्थात् मग दूसरी शती ई.पू. से पहली शताब्दी ई. की अवधि में भारत आये[3]। किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता । यह ठीक है कि शक–कुषाण काल में मागी मत की महत्ता के महत्वपूर्ण साक्ष्य ज्ञात हैं । तदनुसार यह कहना भी युक्तिसंगत है कि यह परंपरा अतीत में शक समुदाय के साथ शक–स्थान में रही होगी । ध्यातव्य है कि महाभारत[4] में मगों के निवास स्थान शाकद्वीप एवं वहॉ के चतुर्धा विभक्त समाज के संकेत विद्यमान हैं । भारतीय चातुर्वर्णों की तरह शाकद्वीपीय समाज में भी चार वर्ण थे – मग, मशक, मानस एवं मन्दक नाम से । महाभारत[5] में ही एक स्थान पर सौराः शब्द का उल्लेख है, जो निश्चय ही सूर्य–पूजकों की अभिव्यक्ति करता है । महाभारत के इन सन्दर्भों से मगों के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं – (1) महाभारत काल में मगों के मूल स्थान के रूप में शाकद्वीप की कल्पना अस्तित्व में आ चुकी थी । (2) सूर्य– पूजक मगों का एक सुस्थापित संगठन अस्तित्व में था सौराः अथवा सौर सम्प्रदाय नाम से । मग भारतीय समाज के लिये अपरिचित न थे और उनकी पहचान सूर्य–पूजक के रूप में स्थापित हो चुकी थी । महाभारत के साक्ष्य वस्तुतः मग–संस्था का संकेत देते हैं । महाभारत के बाद के साहित्य मग या

---

1. स्कन्द पुराण, 6.76
   साम्ब पुराण, 26.14
   भविष्य पुराण, 1.72.4–6
2. सुधाकर चट्टोपाध्याय, हखामेनिड्स इन एनशेन्ट इण्डिया, पृ.30–31; आर.के.अरोरा, द मगाज एण्ड द भविष्यपुराण, पुराणम्, खण्ड–13,संख्या–1, पृ.53
3. ए बार्थ,रेलिजन्स ऑफ इण्डिया, पृ.–285, एच.डी.भट्टाचार्य, द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ.465
4. महाभारत, भीष्म पर्व, 12.9,12.33.35
   तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोक सम्मताः ।
   मगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा । ।
5. महाभारत, 7–85–15

शाकद्वीप सम्बन्धित विवरण के लिए मौन हैं । अंतराल बाद साहित्य में मगों का उल्लेख पुनः विष्णु पुराण[1] में प्राप्त होता हैं । जिसका काल[2] तीसरी–चौथी शताब्दी माना जा सकता हैं । इस अन्तराल में (शक–कुषाण में)मागी प्रभावों को व्यक्त करने वाले पुरातात्विक साक्ष्य हमें ज्ञात होते हैं । कुषाण काल[3] की अनेक सूर्य प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जो स्पष्टतः मागी प्रभाव के अन्तर्गत निर्मित हैं । शाकद्वीप एवं मग सम्बन्धित उक्त साहित्यिक साक्ष्य तथा उपलब्ध मागी पुरावशेष इस बात के सूचक हैं कि भारत में शक–कुषाण काल में मागी प्रभाव की एक धारा का संक्रमण अवश्य हुआ । विवेच्य सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि भारतीय समाज इस परम्परा को अब तक स्वीकार करने लगा था । साहित्य व पुरातत्व के साक्ष्य निश्चय ही पूर्व प्रचलित मान्यताओं के दस्तावेज होते हैं । शक–कुषाण कालीन मागी धारा का भारत में प्रसार निश्चय ही एक अति महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है, क्योंकि इसकी भारतीय धर्म एवं समाज पर गहरी छाप दिखाई देती है । इतना ही नहीं इस संस्था ने अवान्तर युगों में ज्ञान–विज्ञान की अनेक विधाओं पर प्रभाव डाला । शक–कुषाण युग भारत में मग संस्था की प्रतिष्ठा की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है, अस्तु यहाँ सर्व प्रथम उक्त अवधि के महत्वपूर्ण साक्ष्यों तदनंतर अवान्तर कालीन सन्दर्भों की चर्चा प्रासंगिक होगी ।

अवन्ती से प्राप्त ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से दूसरी शताब्दी ई. के कालक्रम से सम्बन्ध रखने वाले कुछ सिक्कों पर सूर्य का प्रतीकात्मक अंकन देखा जा सकता है । कालान्तर में वराहमिहिर [4] के विवरण अवन्ति को मग परम्परा से प्रभावित दर्शित करते हैं । पांचाल शासक सूर्य मित्र एवं भानुमित्र के सिक्कों पर भी सौर प्रतीक अंकित है[5] । पुनः यूनानी यात्री अपोलोनियस फिलोस्ट्रैटस[6] तक्षशिला में सौर मन्दिर की उपस्थिति की सूचना देता है । कुषाण शासक विम कैडफिसेज[7] के सिक्कों पर अग्नि वेदिका का अंकन है । प्रकट है कि यह अंकन किसी समुदाय विशेष को ध्यान में रखकर किया गया होगा । दूसरी तरफ हमें ज्ञात है कि मग सूर्य एवं अग्नि उपासक थे और भारतीय परम्परा में अग्नि से सम्बन्धित

---

1. विष्णु पुराण, 2.4.60–70
2. विष्णु पुराण की तिथि विवादपूर्ण है । विद्वानों ने अलग–अलग तिथियों की गणना की है । इनमें हाज़रा का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है । उनके अनुसार विष्णु पुराण का काल तीसरी चौथी शताब्दी ई. है ।
3. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ. 269
4. वृहद् जातक, 28.3
5. बी.सी.श्रीवास्तव, सोलर सिम्बल्स ऑन सूर्य मित्र एण्ड भानुमित्राज क्वायन्स, जे.एन.एस.आई, खण्ड 31, भाग–1, पृ.9
6. एतद् सम्बन्धित विस्तृत विवरण कला के प्रसंग में अध्याय 6 में हैं ।
7. जे. एन.बनर्जी, डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइक्रोग्राफी, पृ.198–99

कोई सम्प्रदाय अस्तित्व में नही था । कनिष्क की मुद्राओं पर सर्वप्रथम सूर्य का अंकन मिहिर (मीरो) नाम से हुआ, जो ईरानी मिथ्र का ही एक रूप है । अमरकोष[1] के अनुसार मिहिर सूर्य के बारह नामों में एक है । कालान्तर में मिहिर नाम का उल्लेख निरमंद ताम्र पत्र[2] में हुआ है । इसके अतिरिक्त कुषाण काल की अनेक कला कृतियों में स्पष्ट रूप से मागी प्रभावों का अंकन है[3] । इन अंकनों में सूर्य–प्रतिमाएँ उपानह सहित निर्मित की गयी हैं, जिसे आगे चलकर मागी परम्परा का प्रमुख प्रतीक माना गया । गान्धार क्षेत्र[4] से स्लेटी पत्थर की एक सूर्य प्रतिमा प्राप्त हुयी है, जो कुषाण काल से पूर्व की है । प्रतिमा में अन्य अंकनों के साथ–साथ उपानह का अंकन मागी प्रभाव की स्पष्ट सूचना है । उससे यह भी स्पष्ट होता है कि पश्चिमोत्तर सीमा में ईरानी प्रभाव की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी । कालान्तर में यह प्रभाव ही कुषाण सम्राटों के सिक्कों में दृष्टिगत होता है ।

प्रसिद्व ग्रीक भूगोलविद् टॉलमी[5] ने दूसरी शताब्दी का एक विवरण दिया है, जिसके अनुसार दक्षिणी भारत के किसी प्रान्त में मगों की उपस्थिति की सूचना मिलती है । टॉलमी ने इन्हें ब्राह्मनोइ मगोइ (ब्राह्मण मग) कहा है । इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि द्वितीय शताब्दी तक मगों का उत्तर भारत में ही नही अपितु दक्षिण भारत में भी प्रसार हो चुका था । तीसरी चौथी शताब्दी की रचना विष्णु–पुराण[6] में मगों का मूल निवास–स्थान शाकद्वीप एवं शाकद्वीपीय वर्ण–व्यवस्था का परिचय है । इसके अतिरिक्त यह पुराण इस सम्बध में और कोई सूचना नही देता । पॉचवी छठी शताब्दी की रचना भविष्य पुराण[7] एवं साम्ब पुराण[8] में प्रथम बार शाकद्वीपीय सूर्योपासक मगों पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है । भविष्य पुराण भारतीय समाज पर मगों के उत्तरोत्तर बढ़ते प्रभाव का प्रमाण है, जिसके फलस्वरूप कालान्तर में सौर सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ । भविष्य पुराण[9] एवं साम्ब पुराण[10] में वर्णित साम्ब के द्वारा सूर्य पूजा हेतु मग पुरोहितों को बुलाये जाने की कथा इस प्रकार है –कृष्ण जाम्बवती के पुत्र साम्ब को कुष्ठ हो गया था । रोग का कारण पिता द्वारा दिया गया शाप था । रोग

---

1. अमरकोष, पृ.23
2. कॉर्पस इन्सक्रिप्सनम् इण्डिकेरम्, खण्ड–3,पृ.200–10
3. जे.एन.बनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ.438 एवं आगे
4. तत्रैव, पृ.434
5. जे.डब्लू. मैक्रिण्डल, एंशण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्डबाई टॉलमी, पृ. 170
6. आर.सी. हाजरा, पुराणिक रिकॉर्डस, पृ.19–26
7. तत्रैव, पृ.167–73 (500–1200ई.)
8. आर.सी. हाजरा, स्टडीज इन द उप पुराणाज, खण्ड–1, पृ.93(500–1500ई.)
9. भविष्य पुराण, अध्याय–139
10. साम्बपुराण, अध्याय–3 24 एवं 26, इसके अतिरिक्त यह कथा ब्रह्म पुराण अध्याय–20 में भी वर्णित है ।

के निवारणार्थ साम्ब ने सूर्य की उपासना की एवं मूल स्थान में चन्द्रभागा नदी के तट पर सूर्य के मन्दिर का निर्माण कराया किन्तु मन्दिर के निर्मित होने पर, भारतीय पुरोहितों द्वारा उस मन्दिर में पौरोहित्य कार्य करने से इन्कार कर देने पर, साम्ब ने उग्रसेन के पुरोहित गौरमुख से विमर्श किया । तदनुसार साम्ब के द्वारा शाकद्वीप से सूर्य–पूजक मग निमन्त्रित किये गये । साम्ब के निमन्त्रण पर शाकद्वीप से सूर्य–पूजकों के अठारह कुल[1] नव निर्मित सूर्य–मन्दिर में पूजाअर्चना कार्य के सम्पादन हेतु आये। साम्बोपाख्यान का यथार्थ जो भी हो विदेशी यात्रियों के वृत्तान्तों में भी मूल स्थान के सूर्य मन्दिर का उल्लेख प्राप्य है ।

हर्ष वर्धन के काल (सातवीं शताब्दी) में भारत आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग[2] के विवरण में मूल स्थान के मन्दिर का उल्लेख है । ग्यारहवीं शताब्दी में भारत आने वाले अरब यात्री अल–बेरूनी[3] ने मूल स्थान के मन्दिर एवं वहाँ के मगों की चर्चा की है । मूल स्थान की पहचान आधुनिक मुल्तान (पाकिस्तान) से की गयी है[4] । यह मन्दिर मुगल काल तक अस्तित्व में रहा और औरंगजेब द्वारा ध्वस्त करा दिया गया । मुल्तान संस्कृत के मूलस्थान का अपभ्रंश है । इस स्थान को यह नाम इसलिए दिया गया होगा क्योंकि सूर्य की नवीन पूजा परम्परा को सम्भवतः सर्वप्रथम यहीं प्रवर्तित किया गया था[5] । इस तरह यह सूर्योपासना के नवीन प्रकार का अधिष्ठान था ।

मिहिरकुल के शासन काल में गोप पर्वत पर एक सूर्य मन्दिर[6] के निर्मित होने का उल्लेख है । निश्चय ही इस सूर्य मन्दिर के साथ मगों का अस्तित्व होगा क्योकि वराहमिहिर ने जिनका काल छठी शताब्दी है, वृहत्संहिता[7] में यह व्यवस्था की है कि सूर्य पूजा के लिए मग पुरोहितों को नियुक्त करना चाहिए । इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि वराहमिहिर स्वयं मग थे[8] ।

---

1. साम्ब–पुराण, 26.48– अष्टादश कुलानीः मगा नाम वेद वादिनाम 26.49–गरुडे साम्बस्त्वारिताः पुनरुभ्यागत आरुह्य ।
2. एस.बील.ट्रेवेल्स ऑफ व्हेनसांग, खण्ड–4, पृ.463
3. इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, खण्ड–1,पृ. 11, 223,27
4. ए.कनिंघम,द एन्शेन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ.194–199, एन.एल.डे. ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शेन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया,पृ.133–34
5. अजयमित्र शास्त्री, इण्डिया ऐज सीन इन द वृहत्संहिता ऑफ बराहमिहिर, पृ. 20
6. वी.सी.श्रीवास्तव, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ. 323
7. वृहत्संहिता 60.19, विष्णोर्भागवतान् मगांश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजान
8. डी.के.विश्वास, द मग एन्सेस्ट्री ऑफ वराहमिहिर, आई. एच. क्यू, खण्ड–25 (1947) पृ.175–83, एफ.सी. दावर, ईरान एण्ड इण्डिया थ्रू द एजेज, पृ.66

नेपाल[1] से प्राप्त एक लेख में जिसकी तिथि 550 ई.है, मगों एवं अन्य ब्राह्मणों को समान स्थान दिया गया है । देववरणार्क से प्राप्त उत्तर गुप्त शासक नरसिंहगुप्त बालादित्य और जीवित गुप्त द्वितीय के एक लेख में[2] भोजक ब्राह्मणों को भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है । 774 ई. का हुंडा अभिलेख[3] सूर्य द्विज की चर्चा करता है । घटियाला अभिलेख[4] जिसकी तिथि 861 ई. है, से विदित होता है कि उसका रचनाकार मग वर्ग से सम्बन्धित था । गोण्डपुर[5] से प्राप्त शक सम्वत् 1059 के एक लेख में मगों को सूर्यदेव से उत्पन्न बताया गया है । बिहार में गया जिले के गोविन्दपुर[6] से प्राप्त एक लेख में (जिसका समय 1137–38ई. है) साम्ब द्वारा मगों के लाये जाने की घटना (उपाख्यान) का उल्लेख है । संस्कृत ग्रन्थ सदुक्ति कर्णामृत[7] जिसका संकलन 1205 ई. में हुआ था । इस कृति में6 मग विद्वानों की रचनाओं का उल्लेख है । उड़ीसा के बलसोर जिले में स्थित गाँव जिसका नाम सोरो था, वर्तमान सूर्यपुर है[8] । वहाँ सूर्य पूजक ब्राह्मणों की प्राचीन बस्तियाँ हैं । सोरो के निकट प्राप्त एक लेख में (जो पन्द्रहवीं शताब्दी ई.का है) सूर्य के लिए एक मन्दिर बनवाने का उल्लेख है। ध्यातव्य है कि शंकर ने दसवीं शताब्दी में इस क्षेत्र में सौर सम्प्रदाय का उल्लेख किया है ।

उपर्युक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि शक–कुषाण काल से मगों की एक स्पष्ट पहचान बनने लगी थी और मग अपनी प्रवृत्तियों (विशेषताओं)की अपेक्षा अपने उद्भव से अधिक जाने पहचाने जाने लगे थे । कला एवं साहित्य में इस पहचान के विम्ब अधिक स्पष्ट हैं तथा पुराण इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण स्रोत हैं । उपपुराणों में विशेषकर भविष्य एवं साम्ब पुराण में मग–परम्परा का विशद विवेचन है या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ये पुराण मागी प्रभाव के अन्तर्गत ही रचे गये हैं । एतद् विषयक मूल गाथा भविष्य व साम्ब पुराण में सुरक्षित है। प्रियव्रत के पुत्र ने सूर्य केलिये एक मन्दिर का निर्माण करवाया। किन्तु ऐसा कोई व्यक्ति शाकद्वीप में नहीं था, जो सूर्य के पूजा–विधानों का सम्पादन कर सके । ऐसी स्थिति में सूर्य ने अपनी शक्ति से आठ व्यक्ति उत्पन्न किये और उन्हें सूर्य पूजा का निर्देश दिया । इन्हीं के वंशज आगे चलकर मग कहलाये । साम्बोपाख्यान में साम्ब द्वारा

1. आर.ए. जयराज भाय फॉरेन इन्फलूऐन्यस इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.–153
2. एपिग्रैफिआ इण्डिका खण्ड–1 पृ.4
3. एपिग्रैफिआ इण्डिका, खण्ड–9, डी.आर. साहनी, पृ.98
4. एपिग्रैफिआ इण्डिका, खण्ड–9 पृ.279
5. आर.के. अरोरा द्वारा उद्धृत, हिस्टारिकल एण्ड कल्चरल डाटा फ्राम द भविष्य पुराण, पृ.36
6. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय अभिलेख , पृ.77, एपिग्रैफिआ इण्डिका खण्ड–2, पृ.333
7. एफ.सी.दावर, ईरान एण्ड इण्डिया थ्रू द एजेज, पृ.63-64
8. आर.के.अरोरा, हिस्टारिकल एण्ड कल्चरल डाटा फ्राम द भविष्य पुराण, पृ.48

शाकद्वीप से इन्हीं मग पुरोहितों के मूल स्थान ले आये जाने का वर्णन है । इस प्रकार शक कुषाण काल से मध्य काल तक के अन्तराल में मग भारतीय समाज में पूर्णतया स्वीकृत हो गए प्रतीत होते हैं । मगों के इस अभ्युदय के फलस्वरूप कुछ नवीन विशेषताओं का ज्ञान होता है, जो इसके पूर्व दिखाई नहीं पड़ती । इनमें मुख्य हैं सूर्य प्रतिमाओं एवं मन्दिरों के निर्माण का शुभारम्भ जिसकी प्रथा परम्परा में नहीं थी । इसके साथ ही ज्योतिष के नवीनीकरण की सूचना भी प्राप्त होती है । इसके अतिरिक्त अन्य अनेक विशेषताएँ भी दिखती हैं, जिनकी विवेचना आगे के अध्यायों में की जायेगी ।

इस प्रकार उपर्युक्त भिन्न कालावधियों में मगों की मागी प्रवृत्तियों की उपस्थिति से यह स्पष्ट होता है कि मागी प्रभाव का विस्तार अनेक चरणों में हुआ । इनकेकाल पृथक थे एवं इनकी विशेषताएँ भी भिन्न थीं जो मध्य एशिया में उनकी सांस्कृतिक स्थितियों में परिवर्तन के फलस्वरूप थीं । ऐसा प्रतीत होता है कि मागी प्रसार का पहला चरण वैदिक काल था, जिसके कतिपय स्रोत ब्राह्मण, संहिताओं एवं अथर्ववेद में सुरक्षित है । इनकी मुख्य विशेषताएँ भेषज एवं अभिचार थी, जिनके पर्याप्त साक्ष्य अथर्ववेद एवं उस परम्परा के ब्राह्मण ग्रन्थों में सुरक्षित है ।दूसरा चरण साइरस के द्वारा भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में आक्रमण के काल छठी शती ईसा पूर्व का उत्तरार्द्ध था । मगों के इस समूह ने सर्वप्रथम अपने आपको सूर्य–उपासना के क्षेत्र में स्थापित करने का प्रयत्न किया । इस प्रकार भारत में सौर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ । सूर्य के मानवीकृत रूपों के अंकन का प्रारम्भ इसी के प्रभाव में हुआ तथा ज्योतिष की नवीन शाखाओं का सूत्रपात भी । तीसरा चरण शकों के भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में वास्त्रव्य के समय स्पष्ट है । इनका केन्द्र मूल स्थान था । ये मग चूँकि अतीत में शकों के साथ रहा करते थे, अस्तु आदि स्थान के रूप में शकस्थान या शाकद्वीप की कल्पना इनके मानस में थी । भविष्य, साम्बादि पुराण इनके प्रभाव में रचे गए, जिसके द्वारा साम्ब की गाथा का प्रारम्भ हुआ । इस संघ का महत्वपूर्ण योगदान कला के क्षेत्र में रहा। इसी काल में सूर्य की प्रतिमाओं और मन्दिर के निर्माण का प्रारम्भ हुआ ।

चतुर्थ अध्याय

मागी प्रभाव : धर्म एवं समाज

मागी परम्परा के आरम्भिक इतिवृत्त और ईरानी धर्म–संस्कृति के विश्लेषण से हमें परिज्ञात है कि सूर्य एवं अग्नि–पूजा, मिथ्र धर्म के प्रमुख वैशिष्टय थे। मगों ने मिथ्र की उपासना सूर्याग्नि उपासना के रूप में विकसित किया था । उत्तर अवेस्ता–काल से इस मागी परम्परा में अनेक विध आचारतत्वों का समन्वय हुआ जिनके संक्रमण का प्रभाव भारतीय संस्कृति की प्रवर्त्तमान धारा पर कम नहीं, फलतः भारतीय समाज व धर्म के उन तत्वों पर हमें विचार करना ही चाहिए जिन्हें हम मागी तत्व कह सकें । मागी मत, वस्तुतःसूर्याग्नि पूजक होकर भी प्रख्यात देवपूजक आर्य–धारा से विलग था । यह मत कुछ विशेष प्रकार के ऐन्द्रजालिक कृत्यों तथा जादू टोने आदि से युक्त था । इस विशिष्ट संस्कृति के अनेक तत्वों को प्रारम्भ में ईरानी आर्य शाखा ने, तत्पश्चात् भारतीय आर्य परम्परा ने स्वीकार कर लिया था । इस सन्दर्भ में यह कहना ही अभीष्ट व समीचीन प्रतीत होता है कि बहुत समय तक संस्कृति धर्म की ये दो धाराएँ पृथक्–पृथक् बहती रहीं[1] किन्तु अन्त में जाकर एक हो गईं[2] ।

मागी मत का मूल भारतेरानी देवता मित्र–मिथ्र मूलतः आचार अधिष्ठाता देव के रूप में प्रतिष्ठित रहा है।अस्तु इस धर्म में एक विशिष्ट अधिष्ठातृ देव की परिकल्पना स्वाभाविक थी । ध्यातव्य है कि पारसीक धर्म में द्वैतात्मकता की जो प्रबल धारणा दिखाई देती है, वह वस्तुतः मागी देन ही प्रतीत होती है । किन्तु कालान्तर में, विशेषतः भारत में मागी तत्वों का जो अनेकविध विस्तार हुआ वह भारतीय संस्कृति के अनेक पक्षों पर इसके प्रभाव की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है । इसमें सन्देह नहीं कि भारत में सौर सम्प्रदाय का अभ्युदय तथा सामाजिक व्यवस्था के कतिपय पक्ष ही स्पष्टतः मागी प्रभाव द्योतित करते हैं तथापि कुछ विद्वानों ने धर्म व समाज के कुछ अन्य पक्षों पर भी मागी प्रभाव की झलक देखी है । प्रस्तुत परिच्छेद में स्पष्ट प्रभाव मूलक सन्दर्भों पर विस्तार पूर्वक विवेचन के पूर्व आवश्यक है कि कतिपय गौण पक्षों पर यत्किंचित् प्रकाश डाला जाय। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में डॉ. स्पूनर[3] ने "शक्ति" की अवधारणा की उत्पत्ति पारसीक अस्तु मागी माना था। एतदर्थ पुष्टि के लिए आपने हर प्रसाद शास्त्री के मत को उद्धृत किया था कि शाकद्वीपी

---

1. मॉल्टन जे.एच., अर्ली जोरोस्ट्रीयनिज्म, पृ.182 एवं आगे, एफ.क्यूमॉन्ट, दि मिस्ट्रीज ऑफ मिथ्र, पृ. 33 एवं आगे ।
2. गया चरण त्रिपाठी, वैदिक देवता उद्भव एवं विकास, भाग–1, पृ.61
3. स्पूनर डी.बी. द जोरोस्ट्रीयन पीरियड ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जे.आर.ए.एस., 1915, पृ.81

ब्राह्मण शक्ति पूजा से सम्बद्ध रहे हैं[1] । महाभारत में प्राग्ज्योतिषपुर (कामरूप) के राजा भगदत्त को यवन,असुर कहा गया है । डॉ.स्पूनर का कथन है कि भगदत्त ईरानी नाम है और प्राग्ज्योतिषपुर था मागी केन्द्र । इसके अतिरिक्त देवी "ईश्तर" का मागी जनों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । डॉ.राम प्रसाद चंदा ने स्पूनर के मत की आलोचना करते हुए याद दिलाया कि ईश्तर पारसीक नहीं, बेवीलोनी देवी थी और इस देवी का अनाहित देवी के साथ तादात्म्य हो गया तभी यह पारसीक कहलाई[2]। यह समीकरण तब हुआ जब भारोपीय-मीडियावासियों व पारसीकों ने एलम-विजय कर लिया[3] । चंदा का यह कथन भी सत्य है ।

पारसीक शाक्त व भारतीय शाक्त परम्परा में अन्तर हैं[4] । वास्तव में न तो शास्त्री ने और न ही स्पूनर ने कोई प्रमाण दिया कि शाक्त मत पर मागी प्रभाव माना जा सके । हाँ, कालान्तर में मागी मतानुयायी शक्ति के उपासक बने तो यह अन्तरावलम्बन की बात हो सकती है । प्राग्ज्योतिषपुर अर्थात् कामरूप ही क्यों, बंगाल के राढ़ीय, वारेन्द्र व वैदिक ब्राह्मण भी शक्ति पूजन से सम्बद्ध दिखाई देते हैं जिन्हें ग्रह-गणक पूजक कहा गया है । वृहद्धर्मपुराण (उत्तरखण्ड 13.52) में गणक को शाकद्वीपी पिता व वैश्य माँ की सन्तान माना गया है । गणकों के अलावा तारक व भोजक नाम भी कम महत्व के नहीं हैं । वराहमिहिर द्वारा सूर्य प्रतिमा व मन्दिर मागी रीति से निर्मित किए जाने की बात[5] बाण के हर्ष चरितम् के चतुर्थ अनुच्छेद में तारकों, भोजकों का वर्णन तथा पाँचवीं से आठवीं शताब्दी तक के अनेक अभिलेखों में अनेकत्र भोजक ब्राह्मणों का वर्णन इस बात का द्योतन करता है कि मगध से आसाम-बंगाल तक मगों का भारतीय धर्म व समाज पर गहरा प्रभाव था । रोचक बात यह है कि जिन-जिन क्षेत्रों पर मागी मत का प्रसार अधिक था प्रायः उन्हीं को असंस्कृत माना गया है यथा वीरमित्रोदय में मित्र मिश्र द्वारा उद्धृत एक वचन इस प्रकार हैं-

अंग वंग कलिंगेषु सौरांष्ट्रे मगधेषु च ।
तीर्थयात्रां बिना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हति ।।

इसमें सन्देह नहीं कि उक्त सभी क्षेत्र उदीच्य परम्परा की मागी सूर्योपासना के महत्वपूर्ण क्षेत्र रहे हैं, जहाँ मागी मत का प्रसार असंदिग्ध है।

सौर प्रतीकत्व

मागी संस्कृति के संक्रमण व प्रसार के फलस्वरूप जिन अनेक तत्वों का महत्व यहाँ

1. आर.पी.चंदा, इण्डोआर्यन रेसेज, पृ.157-58
2 आर.पी.चंदा, तत्रैव, पृ.157 एवं आगे ।
3. ई.आर.ई., खण्ड-7, पृ.433
4. आर.पी.चंदा, इण्डो आर्यन रेसेज, पृ.150-59
5. वृहत्संहिता, 60.15

विकसित हुआ, उनमें सूर्य की विशिष्ट पूजा–परम्परा एवं कुछ नवीन संस्कार हैं जिनका परिचय समाज को भिन्न–भिन्न काल खण्डों में मागी तत्वों के समन्वय के साथ हुआ । मागी प्रभाव के प्रसार काल (पूर्व अर्थववेदीय काल से शक–कुषाण काल तक) में जिन कृत्यों संस्कारों को समाज में आत्मसात् किया गया उनमें उपनयन संस्कार के अन्तर्गत संकलित कुछ क्रिया विधान तथा विवाह एवं अन्त्योष्टि के विशेष प्रकार उल्लेखनीय हैं । इसके अतिरिक्त सूर्य पूजा से सम्बन्धित भैषज्य प्रभावों की व्याख्या सौर मन्दिर एवं प्रतिमा पूजा की पद्धति की पहल तथा ब्राह्मण धर्म की कट्टरता के विपरीत सहिष्णुता का दृष्टिकोण इत्यादि इस पंथ की विशेषताएँ हैं, जिनके फलस्वरूप इसका प्रचार प्रसार हुआ । वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्डों की आडम्बर प्रियता के समक्ष सूर्य पूजा सम्बन्धी मागी नियम अत्यन्त सरल एवं सबके लिये समान थे । वैदिक कर्मकाण्डों में शूद्रों का प्रवेश वर्जित था । भविष्य पुराण[1] में कहा गया है कि श्रुति से बहिष्कृत जन शूद्र कहलाये । यह पुराण [2] पुनः यह व्यवस्था देता है कि चाण्डाल या शूद्र छल से बाहर जाकर वेद पढ़ने के अधिकारी हो सकते हैं । इसके अतिरिक्त इस उदात्त विचार धारा में शूद्रों के लिए दण्ड मेखला धारण एवं सन्ध्योपासना करने की व्यवस्था भी की गयी है ।

वैदिक काल में सूर्य उपासना की दो विधियाँ प्रचलित थीं , एक तो लोक में प्रचलित सूर्य मण्डल की पूजा का सामान्य नियम तथा दूसरा यज्ञ विधानों में सूर्य प्रतीक की उपासना। यज्ञ कर्मों में सूर्य के जिन प्रतीकों की उपासना का प्रचलन था उनमें चक्र[3] व मण्डलाकृति प्रमुख हैं । चक्र सम्भवतः सूर्य की अप्रतिम गति का प्रतीक था[4] । कई वैदिक कर्मकाण्डों मुख्यतः बाजपेययाग में सूर्य के चक्र प्रतीक का प्रयोग होता था[5] । चक्र के अतिरिक्त वैदिक यागों में स्वर्ण निर्मित मण्डलाकृति[6] का भी प्रयोग होता था, जो सम्भवतः सूर्य के वर्ण व आकार का द्योतक था। शतपथ ब्राह्मण (7.4.1.20) में अग्नि चयन कर्म में स्वर्ण निर्मित मण्डल को सूर्य प्रतीक के रूप में प्रयोग करने का उल्लेख है । इनके अतिरिक्त सूर्य के वैदिक प्रतीकों में कुछ पशु प्रतीक भी है जिनमें मुख्य हैं अश्व, वृषभ व श्येन या सुपर्ण गरुत्मान्।

---

1. भविष्य पुराण, 1.44.9–10

   वृहत्वाद् भगवानब्रह्मा नाभेयस्तस्य ये जनाः ।
   भक्तयासस्ताः प्रपन्नाश्च ब्राह्मणस्ते प्रकीर्तिताः । ।
   क्षत्रियास्तु क्षतत्राणद्वशैया वार्ता प्रवेशनात् ।
   ये तु श्रुतेर्दुर्तिं प्राप्ताः शूद्रास्तेनेह कीर्तिताः । ।

2. भविष्य पुराण, 1.41.1–4
3. जे.एन.बनर्जी, डी.एच.आई, पृ.137
4. ए.ए. मैकडोनेल, वेदिक माइथालजी, पृ.155
5. वी.सी.श्रीवास्तव, सनवर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.156
6. शतपथ ब्राह्मण, 8.4.1.10.

   अर्थ रुक्मानं उपदधाति असओ वा आदित्य एष रुक्म.....।

ऋग्वेद[1] में कई स्थानों पर सूर्य को अश्व कहा गया है, श्वेत अश्व। ब्राह्मणों[2] में भी सूर्य की अभिव्यक्ति कई वैदिक कर्मकण्डों में अश्व सूर्य प्रतीक रूप में हुई है[3]।ऐतरेय ब्राह्मण में अश्वमेध प्रसंग में अश्व सूर्य के प्रतीक के रूप में वर्णित है[4] ।

अश्व के अतिरिक्त वृषभ भी सौर प्रतीक है । ऋग्वेद[5] में सूर्य को वृषभ भी कहा गया हैं । अथर्व वेद[6] की बहुसंख्यक क्रियाओं में वृष की चर्चा सौर प्रतीक के रूप में है ।

ऋग्वेद[7] में सूर्य के जिस प्रतीक की चर्चा बार–बार हुई है वह है श्येन या सुपर्ण गरुत्मान् सम्भवतः यह सूर्य की गति का प्रतीकात्माक रूप था ।

वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त पूर्व वैदिक सभ्यताओं के अवशेषों में भी कुछ प्रतीक चिन्ह प्राप्त हुए हैं जिन्हें सौर प्रतीक माना गया है । इनमें रश्मियुक्त मंडल[8] स्वास्तिक [9] व नेत्राकृति भी मुख्य हैं । स्वस्तिक मुख्यतया समृद्धि आयुष्य व उत्पादकता[10] से सम्बद्ध प्रतीक था । नेत्राकृति भी सैंधव सभ्यता में सौर प्रतीक था । इसकी व्याख्या ऋग्वेद में मिलती है जहाँ सूर्य को जगतश्चक्षुः माना गया है । वैदिक विचारधारा में ऐसी मान्यता थी कि मृत्यूपरान्त नेत्रों की ज्योति[11] सूर्य में चली जाती है ।

सौर पूजा विधान

वैदिक काल से चला आ रहा सूर्य पूजा का दैनिक नियम महाकाव्यों पुराणों के काल में विद्यमान था । सूर्य की मण्डल उपासना का प्रचलन था । जैसा कि राम के द्वारा अनुस्यूत आदित्य हृदय तथा महाभारत में युधिष्ठिर के द्वारा की गयी स्तुति से स्पष्ट है [12] । अस्तु पुराणों, उपपुराणों के रचनाकार मग विद्वान् सूर्य की उपासना पद्वति को निर्देशित करते समय इसकी उपेक्षा न कर सके । साम्ब पुराण में कहा गया है कि लोक में सूर्य की मण्डल उपासना पद्धति प्रचलित थी[13] । सौर धर्म के क्षेत्र में प्रतिमापूजा का आरम्भ वैदिक मान्यताओं से पृथक् था किन्तु उपासना पद्वति में अनेक वैदिक तत्वों का समायोजन हुआ,

---

1. ऋग्वेद, 7.77.3
2. शतपथ ब्राह्मण, 6.3.1.29, 6.3.3.10, 7.3.2.10
3. ए.बी. कीथ, द रेलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ द वेद एण्ड उपनिषद्स, खण्ड –2, पृ.316
4. ऐतरेय,ब्राह्मण,8.20
5. ऋग्वेद, 10.189.1
6. अथर्ववेद,4.38,6.31
7. ऋग्वेद, 5.47.3, 7.60.5, 10.177.1
8. वी.सी.श्रीवास्तव, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.23
9. पी.सी.लिटिल, स्वस्तिक सम फैक्ट्स एण्ड फैलेसीज, पृ.36
   बुलेटिन आफ म्यूजियम एण्ड आर्कियोलॉजी , उत्तर प्रदेश, दिसम्बर–1972
10. एल.पी.पाण्डेय, सन वर्शिप इन ,एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.5
11. अथर्ववेद, 18.2.7
12. रामायण, 2.95.7,महाभारत,1.172.12,13.3.3.68
13. साम्ब पुराण, 29.3

दूसरे शब्दों में मागी विचारधारा को वैदिक रूप में प्रस्तुत किया गया । सूर्य पूजा के साथ अग्नि पूजा[1] का विधान इस अवधारण की पुष्टि करता है । साम्ब पुराण में यह व्यवस्था की गयी है कि सूर्य की उपासना[2] प्रातः मध्याह्न, एवं सायं तीन बार करनी चाहिए । सूर्य की मण्डल पूजा के सम्बन्ध में मागी पुराणों का निर्देश है कि सूर्य को करवीर या कमल और रक्त चन्दन मिश्रित सुगन्ध युक्त जल से अर्घ्य[3] देना चाहिए । तत्पश्चात् धूप एवं गुग्गुल की आहुति देनी चाहिए[4] यह समस्त विधान सूर्य मण्डल की पूजा के लिये है जो वैदिक परम्परा में नहीं थे । सूर्य के अर्घ्य में उपयोगी मंत्रो में वैदिक सवितृ मंत्र भी है[5] । इस प्रकार अनेक वैदिक पौराणिक मंत्रों द्वारा सूर्य को आहुति देने के पश्चात् अग्नि को मन्दिर के गर्भ गृह में ले जाया जाना चाहिए[6] और प्रतिमा के समक्ष रख देना चाहिए ।

इसके अनन्तर सूर्य की पत्नियों एवं अनुचरों –दण्ड, पिंगल, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर इत्यादि देवों को आहुति देने का विधान है । उपर्युक्त प्रकार से पूजा–अर्चना करने पर समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है[7] । साम्ब पुराण में एक स्थान पर कहा गया है कि पुष्प न हों तो पत्तों से, पत्ते न मिलें तो धूप, धूप न मिले तो जल का ही अर्पण करना चाहिए[8]। पुनः कुछ न होने पर हाथ जोड़कर नमस्कार ही करना चाहिए और यदि ऐसा करने में अशक्त हो तो मन में ही भगवान सूर्य का स्मरण करना चाहिए[9] । सूर्य के लिए देय वस्तुओं में लाल रंग की वस्तुएँ अधिक महत्व रखती हैं जैसे लाल चन्दन, करवीर के पुष्प, लाल कमल, धूप, गुग्गुल इत्यादि[10] । भविष्य पुराण[11] में सूर्य के लिये पुष्प, नैवेद्य , धूप , सुगन्धित चन्दन, आभूषण एवं लाल वस्त्र का विधान है । भविष्य पुराण [12] के अनुसार सूर्य को स्थापित कर पवित्र तीर्थों के जल, गन्ध, मधु, घी, दूध से सूर्य को स्नान कराना चाहिए पुनः दही, घी, मधु , अर्पण कर स्तोत्र, गीत तथा वाद्य के द्वारा सूर्य की आराधना करनी चाहिए। भविष्य पुराण[13] में कहा गया है कि यज्ञादि में साधन की आवश्यकता होती है ,जो सबके लिये सम्भव नहीं है । अतः भक्ति से अनुप्राणित मनुष्य केवल दूर्वांकुर से ही वह फल

---

1. साम्ब पुराण, 29.15, 36.5
2. साम्ब पुराण, 36–19–त्रिकालेषु रवैः पूजा कर्त्तव्य सूर्य दर्शनात्, भविष्य पुराण, 1.143.22
3. साम्ब पुराण, 36.21–22, भविष्य पुराण, 1.143.24–25
4. साम्ब पुराण, 36.23, भविष्य पुराण, 1.143.26
5. साम्ब पुराण, 36.30
6. साम्ब पुराण, 36.36.37

   अनेनविधिना दत्वा धूप सूर्याय भोजकः । उत्क्षिप्तेनैव धूपेन विशद् गर्भगृहं ततः ।।

   ततःप्रविश्य घूप तु प्रतिमायै निवेदयेत् । मंत्रेण मिहिरायति धूप दत्वेति नित्यशः ।।
7. साम्ब पुराण, 36.49
8. साम्ब पुराण, 36.50
9. साम्ब पुराण, 36.51
10. भविष्य पुराण, 1.47.70, साम्ब पुराण, 36. 21.22
11. भविष्य पुराण, 1.103.9
12. भविष्य पुराण, 1.103.10–12
13. भविष्य पुराण, 1.103.7–8

प्राप्त कर सकता है, जो यज्ञ से प्राप्त होती है । देवता को उपहार देने की प्रथा ईरान में भी थी जहाँ सूर्य,[1] अहुरमज्दा और अग्नि को पुष्प, फल , सुगन्ध , पशु इत्यादि प्रदान किये जाते थे। लाल रंग की वस्तुओं का प्रयोग रूस में[2] भी प्रचलित था ।

परवर्ती पुराणों में विवेचित सौरोपासना, वैदिक परम्परा , ईरानी प्रभाव , तन्त्रोपासना, शैव दर्शन तथा विविध मान्यताओं के मन्जुल समन्वय का परिणाम थी । साम्ब पुराण एवं भविष्य पुराण में सूर्य पूजा के प्रसंग में इन तथ्यों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है[3] । सूर्य–मन्दिर तत्कालीन जन सामान्य की श्रद्धा के केन्द्र थे । मागी पुराणों में वर्णित व्यवस्था में स्वर्ण, रजत , ताम्र, मृत्तिका, शिला, वृक्ष काष्ठ तथा चित्र निर्मित सप्तविध मूर्तियों द्वारा सूर्य पूजा का विधान था । शास्त्र समर्थित कर्मकाण्ड से मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा करने का विधान था । समुद्र, गंगा, यमुना, सरस्वती , चन्द्रभागा, सिन्धु , पुष्कर तथा पर्वत से निःसृत प्रपात से श्रेष्ठ जल स्वर्ण, रजत , ताम्र , तथा मृत्तिका के कलशों में लाकर तदन्तर मणि रत्नों बीजौषधियों, सुगन्धित मालाओं , स्थल पर उगने वाले कमलों, चन्दन,अनेक प्रकार के सुगन्ध ब्राह्मी, सुवर्चला,नागर मोथा, विष्णु कान्ता, शतावरी, दूब, शंख पुष्पी , प्रियंगु, नीम, बरगद, पीपल, और शिरीष के पुष्पों तथा कुशों से युक्त अक्षत स्वर्ण तथा समस्त औषधियों के साथ गायत्री मंत्र से सूर्य को स्नान कराना चाहिए । इसके पश्चात् पकी इटों की वेदी को कुशयुक्त करके मूर्ति को वेदी पर स्थापित कर वस्त्रादि से सज्जित कर उपवास द्वारा प्रतिमा का अभिषेक कराना चाहिए । मस्तक पर समस्त औषाधियों एवं आमलक चढ़ाकर जल छिड़कते हुये ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश द्वारा सूर्य देवता के अभिषेक का आवाहन करना चाहिए । अभिषेक क्रिया में मरुत , लोकपाल, विद्याधरगण , नागगण, हिमाचल, हैमकूटादि पर्वत, आकाश चारी सप्तर्षि, अष्ट मंगल तथा वसु–गण का भी आवाहन करना चाहिए । तत्पश्चात् वर्धनिका उठाकर आचमस्व कह कर सूर्य का सामने तीन बार जल गिराना चाहिए । पवित्र स्थान में लेप करके चावल और पंचराग से चौक देकर पताका, तोरण , ध्वज, माला तथा पुष्प राशि से अलंकृत करके सूर्य की मधुपर्क, पुष्पदीप तथा धूपादि से उपासना करके भक्ति पूर्वक अर्घ्य देना चाहिए । तदन्तर बछड़े सहित पवित्र लाल गाय को दान देना चाहिए ।

मंत्र से पवित्र वस्त्र तथा यज्ञोपवीत धारण करके चन्दन , अगुरु कुंकुम आदि सभी सुगन्धों से उपलिपत करके सुगन्धित पुष्पालंकारों से अलंकृत करके भक्ति पूर्वक धूप व नैवेद्य देना चाहिए । अग्नि जलाकर विधिपूर्वक शान्त करना चाहिए । अभिषिक्त प्रतिमा मणि रत्न से प्रतिष्ठापित करनी चाहिए । प्रतिमा को देव–मन्दिर के ईशान

1. विल्डूरॉयूरान्ट, द हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन, खण्ड 1 पृ. 372
2. आर.के.अरोरा, हिस्टारिकल एण्ड कल्चरल डाटा फ्राम भविष्यपुराण , पृ.76
3. साम्ब पुराण– अ.34. 36, 39, 40, 41, 46, 51, 54, 55
   भविष्य पुराण अ. 1–49, 136, 150, 200, 212,

दिग्भाग में अधिवासित करके कुशों से व्यास, श्रेष्ठ वस्त्र से आच्छादित भाग में पूर्व की ओर सिरहाना बनाकर श्वेत वस्त्रों से ढंकी हुयी पवित्र शय्या बनानी चाहिए । उस शैय्या पर महाश्वेता को सुलाकर दाहिने भाग में निक्षुभा को, बायें भाग में राज्ञी को इसी क्रम में दण्ड और पिंगल को पैर की ओर स्थापित करना चाहिए । रात्रि भर भक्ति पूर्वक सूर्य का स्तवन करना चाहिए । तदुपरान्त दीनों, अन्धों व कृपणों को अन्न से सन्तुष्ट करना चाहिए। इसके पश्चात् पिण्डिका को गर्भगृह में रखकर उसके खोखले भाग में स्वर्ण निर्मित सात घोड़ों वाला रथ स्थापित करके समस्त बीजौषधियों को दान देकर, अर्घ्य प्रदान कर, शंख दुंदुभि के घोष से एवं हाथ में अक्षत लेकर पुण्याह वाचन करके, मन्दिर की प्रदक्षिणा करके शुभ लग्न दिन में, सूर्यानुकूल क्षण में सूर्य–मूर्ति की स्थापना करनी चाहिए । सविधि अग्नि को स्थापित करके 'स्वाहा के घोष से होम करते हुये सामग्रियों तथा स्तुतियों द्वारा सूर्य को सन्तुष्ट करना चाहिए । लड्डू, मालपुआ, बरा, खिचड़ी, खीर, दूध, और घी को समस्त दिशाओं मे डालकर स्तोत्रों द्वारा स्तवन करते हुये, दूध , मधु और घृत द्वारा तर्पण करना चाहिए । विप्रों तथा भोजकों को दक्षिणा देनी चाहिए ।

पूजा विधि में ध्वजारोहण का भी महत्व प्रतिपादित किया गया है । जो जिस देवता का वाहन है वही उसका ध्वजा भी बताया गया है । उस ध्वज को विधि पूर्वक समस्त बीजौषधियों से स्नान कराकर, मंगलसूत्र से सज्जित कर वेदी पर कलशों के साथ रखकर वहीं सोना चाहिए । नाना प्रकार के पुष्पों तथा धूप से ध्वज को निवेदित करके वाद्यों की उठती हुयी ध्वनि से युक्त शुभ लग्न, दिन व नक्षत्र में मन्दिर पर चढ़ाना चाहिए।

भगवान् सूर्य की स्थापना का एक वर्ष बीत जाने के बाद उनकी वार्षिक पूजा का विधान था । प्रतिमा स्थापना विषयक विधानों का पालन करके संसार के कल्याणार्थ रथ–यात्रा करनी चाहिए । प्राचीन काल में भगवान् सूर्य का रथ बनाने के लिये विधाता ने संवत्सर के ही भागों को लेकर रथ की कल्पना की । भगवान् सूर्यदेव की रथ यात्रा का वर्णन भविष्य पुराण में भी प्राप्त होता है । भगवान् सूर्य की प्रतिमा को रथ में रखकर उसे माला तथा कुंकुम इत्यादि से अलंकृत किया जाता था । राज्ञी तथा निक्षुभा को भी रथ में सूर्य के दायें –बायें बैठाया जाता था । इस प्रकार की रथ–यात्रा जगन्नाथपुरी में आज भी लोकप्रिय है । इस लोक में प्रजाओं की शान्ति के लिये प्रति वर्ष स्वर्ण, रजत , अथवा सुदृढ़ काष्ठ की दृढ़ धुरी और चक्र से युक्त रथ बनवाना चाहिए । सूर्य में भक्ति रखने वाले पुरुषों को भी स्वयं अथवा बैलों द्वारा रथ ढोना चाहिए । चौथे दिन सूर्य का भ्रमण करना चाहिए । धूप माला और उपहार सामग्री से पुनः मण्डल में उपासना करनी चाहिए । वर्ष पूर्ण होने पर यदि किसी कारणवश रथ यात्रा न हो सके तो पुनः बारहवें वर्ष करनी चाहिए । इसके बाद शान्ति कर्म करके हवन करना चाहिए ।

साम्बपुराण[1] में वर्णित सूर्य की रथ –यात्रा के समान परम्परा ईरान में भी दृष्टिगत होती है । जिसका विवरण ज़िनोफन[2] से मिलता है । ज़िनोफन (चतुर्थ शताब्दी ई.पू.) ने ईरान के एक त्योहार का उल्लेख किया है, जिसमें रथ–यात्रा का प्रचलन था । श्वेत अश्वों से युक्त इन रथों में जियस (Zeus) सूर्य, अग्नि एवं अन्य देवों की प्रतिमाएँ होती थीं । इस यात्रा का समापन देवस्थान पर होता था और वहाँ कुछ धार्मिक कृत्य भी होते थे जिनका सम्पादन मगों द्वारा होता था ।

भविष्य व साम्ब पुराणों में सूर्य पूजा के महात्म्य का आकर्षक वर्णन है, जिसके अनुसार कम उद्यम करने पर भी अधिक पुण्य की प्राप्ति हो सकती है । भविष्य पुराण में कहा गया है कि सूर्य–मन्दिर में दीप जलाने (1–18–1) पर, मन्दिर के फर्श की सफाई करने (1.103.32) पर या सूर्य को मात्र पुष्प अर्पित कर देने पर धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।

भविष्य पुराण[3] में सूर्य का एक नाम हेलि भी मिलता है जो सम्भवतः ग्रीक हेलियोस का संक्षिप्त रूप है । कहा गया है कि जो मनुष्य सूर्य मन्दिर धोता है या लेपन करता है वह हेली लोक में जाता है । अन्यत्र[4] विवरण है कि हेलि को एक बार प्रणाम करना दशाश्वमेध के स्नान के तुल्य है । यद्यपि दशाश्वमेधी का पुनर्जन्म होता है किन्तु हेली को प्रणाम करने वाला व्यक्ति जन्म –मृत्यु के बन्धनों से मुक्त होता है ।

योग–क्रियाओं का महत्व सूर्य उपासना में प्रारम्भ से ही रहा है[5] । कालान्तर में ये यौगिक क्रियायें अधिक महत्वपूर्ण हो गयी जब इनका तादात्म्य तंत्रों से हुआ[6] । साम्ब पुराण के कुछ अंशों में ऐसे तत्वों का समावेश है जिन्हें तांत्रिक तत्व माना जा सकता है ।

कालान्तर में जब सौर धर्म में तांत्रिक विचारधारा का समायोजन हुआ तो मगों की पूजा–पद्धित पर भी प्रभाव पड़ा, फलतः पूजा की सरल प्रक्रिया जटिल होती गयी । तंत्रों में उपासना का जो प्रकार वर्णित है उसमें सूर्योपासना के प्रमुख रूप हैं – गायत्री उपासना, संध्या, सूर्य-मंत्र-जप, सूर्य पूजा और पंचदेव पूजा । किसी भी प्रकार की पूजा से पूर्व इष्ट देव का आवाहन किया जाता है और अर्घ्य दिया जाता है । सूर्य का आवाहन ध्यान के साथ किया जाता है–सूर्य तंत्र में ध्यान का यह मंत्र है–

---

1. साम्ब पुराण, 34.14.21
2. जिनोफन–साइरोपीडिया, 8.3.10-11,24;
3. भविष्य पुराण, 1.103.35 यश्चानुलेपनं कुर्याभ्दानोरायतने नरः ।
   स हेलिलोकमासाध मोदते गोगते हरौ ।।
4. भविष्य पुराण, 1.103.45 एकोपि हेलेः सुकृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
   दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म हेलिप्रणामी न पुनर्भवाय ।।
5. आर.सी. हाज़रा, स्टडीज इन द उपपुराणाज, खण्ड–1, पृ. 36
6. जे.एन.बनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, अध्याय–13

भास्वद्रलाट्यमौलिः स्फुरदधरूचा रञ्जितश्चारु केशो
भास्वान् यो दिव्य तेजाः कर कमल युतः स्वर्ण वर्णः प्रभामि ।
विश्वाकाशावकाशो ग्रह गण सहितो याति यश्चोदयाद्रौ
सर्वानन्द प्रदाता हरिहर नमितः पातु मां विश्वचक्षुः ।।

विश्व के द्रष्टा सब प्रकार के सुखों को देने वाले, हरि और हर से आराधित वे श्री सूर्य देवता मेरी रक्षा करें जिनका मुकुट चमचमाते हुए रत्नों से जड़ा है, जो अपने अधर की अरुणिम कान्ति से संवलित हैं, जिनके केश आकर्षक हैं, जो प्रकाश रूप हैं, जिनका तेज दिव्य है, जो अपने हाथों में कमल लिये हुए हैं , जो अपनी प्रभा के कारण स्वर्ण वर्ण वाले हैं, जो समस्त गगन–मण्डल को प्रकाशित करने वाले हैं, जो चन्द्र , मंगल, बुध , बृहस्पति आदि ग्रहों के साथ रहते हैं और जो प्रतिदिन (प्रातःकाल में) उदयाचल पर किरणावली का प्रसार किया करते हैं ।

ध्यान के पश्चात "ॐ धृणिः सूर्य आदित्योम्" इस मंत्र से सूर्य को अर्घ्य[1] दिया जाता है। सम्मोहन तंत्र[2] में "ह्रीं हंसः मंत्र से अर्घ्य देने का निर्देश है । इस प्रकार तंत्रों में सूर्य का आवाहन मंत्र यह हो जाता हैं– ह्रीं हंसः ॐ धृणि सूर्य आदित्यः"। अर्घ्य देने के अनन्तर गायत्री का जप करना चाहिए। इसके पश्चात सूर्य के द्वादश नाम, अष्टोत्तर शतनाम, सहस्त्र नाम, आदित्य हृदय या मयूर कविकृत सूर्य शतक का जाप किया जाता है । किसी भी जप के पहले माला संस्कार करना आवश्यक माना गया है । आगम कल्पद्रुम[3] के अनुसार माला संस्कार विधि यह है कि आसन–शुद्धि और भूत–शुद्धि के पश्चात् पंचदेवों का आवाहन किया जाय । पंचदेवों में सूर्य भी हैं । साधक माला को थोड़ी देर पंचगव्य में रखकर फिर स्वर्ण पात्र में रखे हुये पंचामृत में स्थापित करें फिर शीतल जल से धोकर धूप दे और चन्दन, कस्तूरी, कुंकुम आदि का लेप करें फिर 108 बार 'ॐ' का जाप करें और नवग्रह दिक्पाल तथा गुरु की पूजा करें । तत्पश्चात् माला को ग्रहण करें ।

संध्या में मुख्यतः दशक्रियायें होती हैं – आसन, शुद्धि, मार्जन, आचमन, प्राणायाम, अघमर्षण (भूतशुद्धि), अर्घ्यदान, सूर्योपस्थान, न्यास, ध्यान एवं जप । भगवान् सूर्य की पृथक्–पृथक् षोडषोपचार – विधि से पूजा करने के भी विधान है । महानिर्वाण तंत्र[4] में यह विधान है कि "क भ" आदि "ढड" वर्ण–बीज द्वारा सूर्य की द्वादश कलाओं को पूजकर फिर

---

1. तन्त्रसार , पृ.65
2. तन्त्रसार, तत्रैव
3. तन्त्रसार, पृ. 25 पर उद्धृत
4. सूर्य कलाओं की पूजा के मन्त्र ये हैं – कंभं तपिन्यै नमः। खं बं तापिन्यै नमः। गंफं धूम्रायै नमः। घं पं मरीच्यै नमः । ङं. नं. ज्वालिन्यै नमः । चं धं रुचये नमः । छं दं सुधूम्रायै नमः । जं थं भोगदायै नमः । झं तं विश्वायै नमः । जं णं बोधिन्यै नमः । टं ढं धारिण्यै नमः। ठं डं क्षमायै नमः ।

मंत्र शोधित अर्घ्य पात्र में "ॐ सूर्यमण्डलाय द्वादशकलात्मने नमः" मन्त्र से सूर्य की पूजा करनी चाहिए[1]।

पंच देवोपासना में पाँच देव पूज्य हैं । अपने इष्टदेव को मध्य में स्थापित करके साधक इनकी पूजा करते हैं । अन्य चार देव चार दिशाओं में स्थापित किये जाते हैं, इसे पंचायतन–विधि कहते हैं । तंत्रसार में यामल तंत्र का उद्धरण देकर कहा गया है कि यदि देवों को अपने स्थान पर न रख कर अन्यत्र स्थापित कर दिया जाता है तो वह साधक के दुख, शोक और भय का कारण बन जाता है[2] ।

सूर्य को मध्य में स्थापित करने पर ईशान दिशा में शंकर, अग्नि कोण में गणेश, नैऋत्य कोण में केशव और वायव्य दिशा में अम्बिका की स्थापना होनी चाहिए[3] ।

सौर व्रत एवं दान

व्रत की परम्परा यद्यपि प्राचीन है पर भविष्य पुराण में इसकी व्याख्या नवीन प्रकार से की गयी है और व्रतों को अपरिमित पुण्य प्राप्ति का साधन बताया गया है । भविष्य पुराण में सूर्य से सम्बन्धित अनेक व्रत उपवासों का निर्देश है जिसके साक्ष्य सन्दर्भ अन्य पुराणों एवं ग्रन्थों से भी प्राप्त होते हैं । व्रत ऋग्वेदीय शब्द है । सेन्ट पीटर्सवर्ग कोष में व्रत की उत्पत्ति वृ धातु से मानी गयी है और इसके अनेक अर्थ किये गये हैं जिनमें संकल्प, आचार व अनुष्ठान भी हैं[4] । ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में व्रत शब्द के दो गौण रूप प्रचलन में थे यथा व्यक्ति के आचरण के लिये उचित व्यवस्था तथा उपवास । व्रत शब्द के गौण अर्थों के अतिरिक्त इसके मुख्य अर्थ का प्रयोग ई. सन् की प्रथम शती से आगे धार्मिक संकल्प के रूप में भी ग्राह्य था जो किसी तिथि–सप्ताह–दिन–मास में लिया जाता था और जो किसी देवी या देवता की पूजा करने पर किसी वांछित फल की प्राप्ति के लिये होता था । ऐसी स्थिति में अन्न एवं आचरण में किसी प्रकार के नियन्त्रण की व्यवस्था होती थी[5]। महाभारत[6] में व्रतों को सर्वश्रेष्ठ तप माना गया है । महाभारत से ही व्रतों की असाधारण व्याख्या की परम्परा प्रारम्भ हुयी प्रतीत होती है और पुराणों में इसका चरमोत्कर्ष

---

1. महानिर्वाण तन्त्र, 6.27–30;
2. तंत्रसार, पृ. 58 स्वस्थानवर्जिता देवाः दुःखशाकभयप्रदाः
3. तंत्रसार, पृ. 57 आदित्यं च यदा मध्ये ऐशान्यां शंकरं यजेत् ।।
   आग्नेय्यां गणनाथं च नैऋत्यां केशवं यजेत् ।
   वायव्यामम्बिकां देवीं स्वर्गसाधनभूमिकाम् ।।
4. पी.वी. कॉणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड–4, पृ. 3
5. पी.वी. कॉणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड–4, पृ. 9
6. महाभारत, अनुशासन पर्व, 106.65–67

दिखाई पड़ता है जहाँ व्रतों, विशेष कर सौर व्रतों के फल को यज्ञ के समान माना गया है । अग्नि पुराण[1] में व्रत के अनेक नियम बताये गये हैं । भविष्य पुराण भी कुछ परिवर्तनों सहित इन्हीं नियमों की बात कहता है (स्थापना करता है), जिनमें दैनिक कार्यों के अतिरिक्त पूजा–उपासना, मौन एवं संयम मुख्य अनिवार्य नियम थे । सूर्य के संदर्भ में सप्तमी तिथियाँ महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं । मत्स्य पुराण में अनेक सप्तमी व्रतों की चर्चा मिलती है[2] । कल्याण सप्तमी या विजय सप्तमी, विशोका सप्तमी फल सप्तमी, शर्करा सप्तमी, कमला सप्तमी, मन्द्रा सप्तमी, शुभ सप्तमी एवं सूर्य संक्रान्ति व्रत इत्यादि सूर्य से सम्बन्धित व्रत हैं, जिनका निर्देश मत्स्य पुराण में हुआ है। साम्ब पुराण (अ30–46) में भी सप्तमी व्रतों की चर्चा है । अर्कसम्पुट, मरीचि, निम्ब पत्र, फल सप्तमी, ओदिनी सप्तमी तथा विजय सप्तमी नामों से । गरुण पुराण (अ.130) में सूर्य के लिये मरीचि सप्तमी व्रत की चर्चा मिलती है ,जो भाद्र पद में किया जाता है । पद्म पुराण (अ. 75) में विशोक सप्तमी, सर्पण सप्तमी, कमल सप्तमी, मन्दार सप्तमी, शुभ सप्तमी, आदित्य शयन व्रत, फल सप्तमी, कल्याण सप्तमी, विजय सप्तमी व सूर्य षष्ठी व्रतों की चर्चा है । भविष्य पुराण में भी सूर्य के अनेक व्रतों का विधान है (द्रष्टव्य व्रत तालिका) इन व्रतों के अतिरिक्त प्रत्येक रविवार को सूर्य की पूजा मान्य थी[3] जिसकी विधि में लाल चन्दन से कमल का चित्र बनाया जाता था, पुनः इसके प्रत्येक दल में दिशानुसार सूर्य के विभिन्न नामों का आवाहन करके सूर्य की पूजा की जाती थी । कहा गया है कि इस व्रत के महात्म्य को पढ़ने–सुनने मात्र से व्यक्ति समस्त पापों से मुक्त हो सकता है एवं मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है[4] । हाज़रा[5] के अनुसार पुराणों के वे अंश जिनमें सूर्य–व्रतों की चर्चा है पश्चात् वर्ती प्रतीत होते हैं । वैदिक

---

1. अग्नि पुराण, 175.10–11 क्षमा सत्यन्दया दानं शौचमिन्द्रिय निग्रहः
   देव पूजाग्निहरणं सन्तोषो स्तेयमेव च ।। 175.10
2. एस.एन. राय, अर्ली पुराणिक एकाउन्ट ऑफ सन एण्ड सोलर कल्ट, पृ. 55–57; मत्स्य पुराण (अ. 79–80)
3. मत्स्य पुराण 97.5–10.
4. जब रविवार हस्त नक्षत्र से युक्त हो तो शनिवार को मतसर रहित हो एक ही बार भोजन करने (नक्त भोजन रात्रि में एक बार भोजन) का विधान है । तदनंतर लाल चन्दन से द्वादश दलों से युक्त कमल की रचना कर उसके पूर्व दल पर सूर्य की, अग्नि कोण वाले दल पर दिवाकर की, दक्षिण दल पर विवस्वान् की, नैऋत्य कोण स्थित दल पर भग की, पशिचम दल पर वरुण की, वायव्य कोण वाले दल पर महेन्द्र की, उत्तर दल पर आदित्य की और ईशान कोण स्थित दल पर शान्त की नमस्कार पूर्वक स्थापना करें । पुनः कर्णिका के पूर्व दल पर सूर्य के घोड़ो को दक्षिण दल पर अर्यमा को, पश्चिम दल पर मार्तण्ड को, उत्तर दल पर रवि देव को ओर कर्णिका के मध्य भाग में भाष्कर को स्थित कर दें । तदनंतर लाल पुष्प, लाल चन्दन और तिल मिश्रित जल से उस कमल पर अर्ध्य दें एवं स्तुति करें । द्र. मत्स्य पुराण, अ. 97
5. आर.सी. हज़रा, पुराणिक रिकार्डस, पृ.43

यज्ञ–विधानों की तुलना में, स्वर्ग की प्राप्ति या कामनाओं की पूर्ति हेतु व्रत अधिक सुगम साधन हैं । ब्रह्मम पुराण[1] में कहा गया है कि एक दिन सूर्य–पूजा का जो फल है, वह सौ दिनों के पूजन हवन से भी प्राप्त नहीं हो सकता। भविष्य पुराण भी व्रतों से सम्बन्धित आकर्षक महात्म्य का वर्णन करता है । भविष्य पुराण[2] के अनुसार मन्दार षष्ठी व्रत की विधि पढ़ने या सुनने मात्र से व्यक्ति समस्त पापों से मुक्त हो जाता है । इसी में अन्यत्र[3] कहा गया है कि व्रत, उपवासों के द्वारा ही नरक से छुटकारा मिल सकता है ।

इन सप्तमी–संक्रान्ति व्रतों के अतिरिक्त सूर्य का एक और महत्वपूर्ण व्रत प्रचलन में था, जिसे मुख्यतः पुत्र–प्राप्ति का माध्यम माना जाता था । कालान्तर में इसे 'रहस्य व्रत' का नाम दिया गया । पुराण इसका उल्लेख रहस्य सप्तमी के नाम से करते हैं । सर्वप्रथम छान्दोग्य[4] उपनिषद् में इसकी चर्चा मिलती है, जहाँ कौषितकि ऋषि के द्वारा सूर्य का ध्यान करने के फलस्वरूप पुत्र प्राप्ति की चर्चा है । पुनः उसकी सूचना महाभारत[5] से मिलती है, जहाँ सूर्य से सम्बन्धित कुछ मंत्रों का उपदेश दुर्वासा ऋषि द्वारा कुन्ती को दिया गया है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन मंत्रों को अथर्ववेद[6] से सम्बद्ध बताया गया है । सम्भवतः ये मंत्र किसी प्रकार की आभिचारिक क्रिया या मंत्र रहे होंगे जिसके कारण इन्हें रहस्यात्मक माना जाता रहा होगा और इस समस्त क्रिया विधान को रहस्य व्रत की संज्ञा दी गयी थी । भविष्य पुराण में रहस्य सप्तमी के नाम से इसका उल्लेख है । मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति में भी रहस्य व्रत की चर्चा है । ग्वालियर प्रशस्ति[7] में कहा गया है कि प्रतिहार नरेश रामभद्र ने रहस्य व्रत के माध्यम से सूर्य की पूजा की थी अतः उसे पुत्र प्राप्ति हुई । इस नवजात शिशु के मिहिराभिधान का यही कारण है[8] । मिहिर भोज के सिक्कों के पुरोभाग पर "आदिवराह"गाथा अंकित है और उसके नीचे अग्नि–वेदिका–प्रतीक स्पष्टतः परिलक्षित है[9] । डॉ. पाठक का यह अभिमत समीचीन लगता है कि मुद्राओं पर अंकित

---

1. ब्रह्म पुराण, 29.61
2. भविष्य पुराण, 4.40.41 मंदारषष्ठी विरण्यातामिप्सितार्थ–फल प्रदाम ।
   यः पठेच्छ्रृणुयाद्वापि सोपि पापैः प्रमुच्यते ।।
3. भविष्य पुराण, 4.7.1 यदेतत्ते समख्यातं गंम्भीरं नरकार्णवम् ।
   व्रतोपवास नियमप्लवेनोत्तीर्यते सखा ।।
4. छान्दोग्य उपनिषद्, 1.5.1–2
5. महाभारत, वन पर्व, 305–19
6. महाभारत, वन पर्व, 305–20 ततस्तामनवद्यांगी ब्रह्यामास स द्विजः ।
   मन्त्रगामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ।।
7. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–18, पृ.99–144
   सुतं रहस्यव्रत सुप्रपन्नत्सूर्या दवापन्मिहिराभिधानम्"
8. एपिग्रैफिया इण्डिका, तत्रैव ।
9. इण्डियन म्यूजियम, कैटलाग ऑफ क्वायन्स, पृ. 241

अग्नि–वेदिका–प्रतीक, मिहिर नामकरण और सूर्योपासना रहस्यव्रत को सम्बद्ध करते हैं–सूर्याग्नि उपासक मग ब्राह्मणों से [1] । उल्लेखनीय है कि इस कालावधि में मगों के प्रभाव को प्रमाणित करने वाले अभिलेख मुहरें, व मुद्रायें उपलब्ध है[2] । ज्ञातव्य है कि मिहिर भोज ने जो आदि वाराह विरुद धारण किया था उसका सम्बन्ध भी मागी परम्परा से है, साम्बोपाख्यान के अनुसार साम्ब द्वारा शाक द्वीप से ले आये गये आठ ब्राह्मणों में से एक था वराह। इसके अतिरिक्त यशस्वी ज्योतिर्विद वराह मिहिर भी मग ब्राह्मण ही थे[3] । दान ऋग्वेदीय अवधारणा है और समस्त धार्मिक आयोजनों से सम्बद्ध शब्द है । ऋग्वेद[4] में अनेक स्थानों पर विभिन्न प्रकार के दान एवं दाताओं की चर्चा है । तैत्तिरीय संहिता[5] सर्वस्व दान का समर्थन करती है । महाभारत के सभी पर्वों में दान से सम्बन्धित संकेत विद्यमान हैं। गीता में[6] तीन प्रकार के दान का उल्लेख है– सात्विक, राजस् एवं तामस । तीन प्रकार के देय सर्वोत्तम कहे गये हैं[7] । गाय, भूमि एवं सरस्वती (विद्या) को अतिदान संज्ञा प्राप्त है। मनु (4.233) का कहना है कि विद्या सर्वश्रेष्ठ देय है । भविष्य पुराण में भी दान का निर्देश है, जिसके अनुसार दान देने से कभी धन की कमी नहीं होती[8] । मृत्यु के पश्चात् धन पर कोई अधिकार नहीं रह जाता है, अतः जीवन काल में ही यथा शक्ति दान करना चहिए [9]। पुराणकार कहता है कि स्वस्थ शरीर और दीर्घायु का क्या उपयोग है जो हमने किसी का हित नहीं किया[10] । ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य पुराण में दान की व्याख्या मानवीय दृष्टिकोण से की गयी है, अपेक्षा इसके कि दान से ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी या स्वर्ग मिलेगा। श्रम से जो धन अर्जित होता है उसका सर्वोत्तम उपयोग दान देना है । मनु (2.156) के अनुसार जो गोदान करता है सूर्य लोक को प्राप्त करता है, किन्तु भविष्य पुराण[11] के अनुसार गोदान करने से व्यक्ति समस्त इच्छित फलों को प्राप्त करता है एवं पूर्व के सात जन्मों के पापों से मुक्त हो जाता है[12] ।

---

1. वी.एस.पाठक, स्मार्त रेलीजस ट्रेडिसन, पृ. 114
2. तत्रैव ।
3. वी.एस. पाठक, तत्रैव, पृ. 114, पा.टि. 9
4. ऋ.वे.,7.118.22.25,8.5.37.39,8.6.46.48,8.46.21.24
5. तैत्तिरीय संहिता, 6.1.6.3
6. गीता,17.20-22
7. पी.बी. कॉणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड–1,पृ.447–48
8. भविष्य पुराण, 4.151.12 नोप भोगेःक्षयं यांति न प्रदानैः समृद्धयः ।
   पूर्वार्जिता नामन्यत्र सुकृतानां परिक्षयात् ।।
9. भविष्य पुराण, 4.151.13
10. भविष्य पुराण, 4.151.5 किं कामेन सुपुष्टेन बलिना चिरजीविना ।
    यत्र सत्वापकाराय त ज्जीवितमनर्थकम् ।।
11. भविष्य पुराण, 4.151.11
12. भविष्य पुराण, 4.151.33–34

भविष्यपुराणोक्त सौर व्रत

	सौरव्रत 1	धर्म–कृत्य 2	फल 3
1.	उभयपक्ष सप्तमी पौष–सप्तमी	सूर्य की पूजा एवं ब्रह्य–भोज का आयोजन	धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति
2.	अनन्त सप्तमी भाद्र शुक्ल, षष्ठी	सूर्य–पूजा	सूर्य लोक की प्राप्ति
3.	भद्रा	सूर्य–प्रतिमा को घी व दूध से स्नान कराने के उपरान्त पूजा	सूर्य–लोक की प्राप्ति
4.	हृदयादित्य–व्रत	सूर्य–पूजा	सांसारिक सुखों की प्राप्ति
5.	जय–सप्तमी	सूर्य–पूजा	सांसारिक सुखों की प्राप्ति
6.	कामदाव्रत मृग. शुक्ल 6	सूर्य–पूजा	सांसारिक सुखों की प्राप्ति
7.	कल्याण–सप्तमी	सूर्य–पूजा, ब्रह्यभोज का आयोजन एवं दान	आरोगयलाभ (म. पु.अ–74;)
8.	कमला–सप्तमी	सूर्य–पूजा	सूर्यलोक की प्राप्ति (म.पु.7;)
9.	कमला–पष्ठी	सूर्य–पूजा	सूर्यलोक की प्राप्ति
10.	महासप्तमी	सूर्य–पूजा	सूर्यलोक की प्राप्ति
11.	महाजय–सप्तमी	सूर्य–पूजा	सूर्यलोक की प्राप्ति
12.	मन्दार–षष्ठी मृग. शु.6 सप्तमी	मन्दार पुष्प के द्वारा सूर्य पूजा	उच्च कुल की प्राप्ति (म.पु.–79;)
13.	मार्तण्ड–सप्तमी। पौष शु.7;	मन्त्रों द्वारा सूर्यपूजा	सूर्य लोक की प्राप्ति
14.	नन्द–सप्तमी माघ	सूर्यपूजा	स्वर्ग की प्राप्ति
15.	पापनाशिनी–सप्तमी	सूर्यपूजा	समस्त पापों से मुक्ति

1	2	3
16. फल–सप्तमी भाद्र शु–7;	विभिन्न उपकरणों द्वारा सूर्यपूजा	धन सम्पदा की प्राप्ति (म.पु.अ.76;)
17. रहस्य–सप्तमी	विभिन्न उपकरणों द्वारा सूर्यपूजा	समस्त कामनाओं की पूर्ति
18. रथ–सप्तमी	सूर्य–प्रतिमा को रथ पर प्रतिष्ठित करके पूजा ब्राह्मण भोज, दान	उच्च कुल की प्राप्ति
19. आरोग्य–व्रत	विभिन्न पुष्पों द्वारा सूर्य की पूजा	आरोग्य–लाभ
20. संक्रान्ति	सूर्य की पूजा, ब्राह्मण भोज दान	दीर्घायु एवं स्वास्थ्य लाभ
21. सप्तमी। (प्रत्येक माह की)	सूर्य–पूजा	आरोग्य, सूर्य लोक की प्राप्ति
22. शर्करा–सप्तमी	सूर्यपूजा, ब्राह्मण भोज, दान	स्वर्ग–प्राप्ति
23. सर्वार्ध–सप्तमी	सूर्यपूजा, ब्राह्मण भोज, दान	स्वर्ग–प्राप्ति
24. सिद्धार्थ–सप्तमी	सूर्यकी प्रतिमा–पूजा	विजय
25. त्रिवर्ग–सप्तमी	सूर्य–पूजा	स्वर्ग–प्राप्ति
26. तृतीया	सूर्य की पूजा	धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति
27. विजयव्रत	अनेकसाधनों द्वारा सूर्यपूजा	स्वर्ग, प्राप्ति

सूर्य एवं सूर्यकुल : मिथक एवं यथार्थ

सूर्य की उत्पत्ति विषयक एवं वेदोत्तर गाथाओं की समीक्षा के पूर्व सूर्य शब्द की अर्थवत्ता पर दृष्टिपात करना चाहिए क्योंकि शब्दार्थ में ही व्युत्पत्ति के स्रोत निहित होते हैं । सामान्य तौर पर सूर्य शब्द गमन शील अर्थ में सृ धातु (सृ–गतौ) अथवा प्रेरणार्थक ष् धातु

(ष् -प्रेरणे) क्यप् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है । यास्क ने सूर्य की निरुक्ति की है । तदनुसार शरति आकाशे इति सूर्य- जो आकाश में निराधार भ्रमण करता है अथवा सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति- जो उदय मात्र से अखिल विश्व को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त कराता है- वह सूर्य है । पाणिनि के एक सूत्र (पा.सू.3.1.114) के आधार पर व्याकरण शास्त्र में इसी अर्थ में-राज सूर्य मृषोद्य रुच्च कुप्य कृष्ट पच्याव्यथ्याः- इस पाणिनि-सूत्र से निपातन होकर भी सूर्य शब्द बनता है । सूर्य शब्द के निर्वचन कतिपय ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी सुरक्षित हैं- तै.ब्रा.(2.2.10) में सूर्य को सुवीर्य होने के कारण सूर्य कहा गया है-तम् देवान् अब्रुवन सुवीर्यो मर्या यथा गोपायत् इति तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्। इसके अतिरिक्त जैमि. उप.ब्रा.(3.33.1) के अनुसार वस्तुतः स्वर ही सूर्य है- यः आदित्य स्वर एव सः[1]। स्वर शब्द अवेस्ता-परम्परा में ह्वर कहलाता है । गो.ब्रा.(5.14) में चमकने के अर्थ में स्वृ धातु से निष्पन्न होकर उसे स्पष्ट रूप से सूर्य-बोधक बताया गया है । एष वै सूर्यो भूत्वाऽभुविमंल्लोके स्वरति । तद्यत्स्वरति तस्या त्व रस्तत् स्वरस्थ स्वरत्वम् (गो.ब्रा.5.14) इस तरह सूर्य शब्द में जो अर्थ निहित रहे हैं, उनके अनुसार सूर्य ज्योतिष् पुंज है और निरन्तर गतिमान रहा है । उसकी उत्पत्ति की गाथाओं का प्रचलन निश्चय ही धीरे-धीरे उत्तर वैदिक काल और उसके बाद हुआ । कालान्तर में तो सूर्य-विज्ञान के रहस्य-बोध की परम्परा ही चल पड़ी (विस्तार के लिये दृष्टव्य,गोपीनाथ कविराज भारतीय संस्कृति एवं साधना,11,में सूर्य विज्ञान विषयक विवेचन) ।

उत्तर वैदिक काल में ही सूर्य आदित्य रूप में (अदिति पुत्र) प्रतिष्ठित हुआ । इस तरह द्वादशादित्यों की परम्परा अस्तित्व में आयी । प्रारम्भ में 8-12 आदित्यों की परिकल्पना हुयी और बाद में महाकाव्यों-पुराणों की परम्परा के अनुसार धातृ, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य,भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु ये द्वादश आदित्य कहे गये । श.ब्रा. की एक गाथा के अनुसार विष्णु के बढ़ते महत्व से ईर्ष्या ग्रस्त देवताओं ने विष्णु के साथ एक कपट पूर्ण आचरण किया था । तद्नुसार जब विष्णु धनुष की प्रत्यंचा पर अपना सिर रख कर शयन मुद्रा में बैठे थे तो देवताओं ने चीटियों को भेजकर धनुष की प्रत्यंचा कटवा दी । परिणाम स्वरूप विष्णु का सिर कट कर आकाश में चला गया, वही सूर्य हुआ[2]। यहाँ सूर्य को विष्णु का अंश बताये जाने की चेष्टा की गयी है। यद्यपि विष्णु स्वयं मूलतः एक सौर देवता हैं एवं द्वादश आदित्यों में परिगणित हैं ।

सूर्य की पौराणिक गाथाओं से हमें जो जानकारी मिलती है उनका पूर्व रूप लक्षित है वैदिक मिथकों में। ये मिथक त्वष्ट्री-सरण्यु एवं विवस्वान् के विवाह एवं उनसे उत्पन्न अश्विन द्वय से सम्बन्धित है। निश्चय ही वैदिक सरण्यु-विवस्वान् गाथा ही कालान्तर

---

1 अथर्ववेद,17.1.6 पर सायण भाष्य, निरुक्त- 11.7

2. वि.पु. 3.2-6; मारकण्डेय पु. 78/24-108, 11-12, भ.पु. 1.47.44

में पल्लवित हुयी है और सूर्य कुल गाथा का विस्तार मागी तत्वों के सम्मिश्रण से प्रकाशित हुआ है । सूर्य की पत्नियों और पुत्रों की संख्या में वृद्धि दिखायी देती है । प्राचीनतम गाथा के अनुसार विवस्वान् और संज्ञा ने एक युग्म (यम–यमी) को उत्पन्न किया था । संज्ञा असह्य सूर्य–तेजस के कारण जब छाया व्युत्पन्न करके अपने पिता के पास चली गयी तो विवस्वन्त एवं छाया से मनु उत्पन्न हुये । पुनः अश्वा रूपा संज्ञा एवं अश्वरूप सूर्य के संयोग से अश्विन द्वय उत्पन्न हुये । इस गाथा के उत्तर कालीन संस्करण के परिणामस्वरूप रे वन्त की उत्पत्ति हुयी (रे त सोऽन्ते) ।महाभारत में सूर्य के कुल–परिवार की कल्पना का संकेत मिलता है । त्वष्ट्रा की पुत्री[1] त्वाष्ट्री का उल्लेख सूर्य की पत्नी के रूप में मिलता है । उसे ही संज्ञा व सरण्यु कहा गया है । इनके अतिरिक्त सूर्य की एक और पत्नी का उल्लेख है सुवर्चसा नाम से । सरण्यु का उल्लेख ऋग्वेद[2] में भी प्राप्त है साथ ही सूर्या एवं उषा को भी सूर्य–पत्नी माना गया है । सूर्य के कई पुत्रों का उल्लेख महाकाव्यों में है । अश्विनद्वय[3] त्वाष्ट्री–पुत्र थे तथा शनि थे छाया के पुत्र । सूर्या के पुत्र का नाम कपिल[4] था । सूर्य के अन्य पुत्रों में श्वेत, ज्योतिर्मुख[5] कर्ण एवं यम थे । इसके अतिरिक्त सूर्य की तीन पुत्रियों का भी ज्ञान होता है । सुप्रजा[6], श्रद्धा, वैवस्वती[7] एवं सावित्री[8]। इनके अतिरिक्त सूर्य के अनुचर वर्ग में सारथी अरुण[9] तथा दण्ड[10] एवं माथ्र का उल्लेख मिलता है ।

पौराणिक काल में सूर्य–कुल से सम्बन्धित गाथाओं का विस्तार दिखता है । भविष्य पुराण[11] में एतत् सम्बन्धी दो गाथाएँ प्राप्त होती हैं, जिनमें आपस में अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होता । लगभग समान गाथा साम्ब पुराण[12] व आदि ब्रह्म पुराण[13] में भी मिलती है । मारकण्डेय पुराण (अ. 77.78) भी लगभग इसी गाथा का उल्लेख करता है । इस प्रकार की एक गाथा मत्स्य पुराण (अ11) में भी उपवर्णित है, किन्तु थोड़े अन्तर के साथ । इन पौराणिक गाथाओं के अनुसार कश्यप–अदिति के पुत्र सूर्य की पत्नी का नाम संज्ञा था, जो त्वष्टा की पुत्री थी । सूर्य से उनकी तीन सन्तानें थीं मनु, यम और यमुना । कुछ समय के

---

1. महाभारत, 1.66.35
2. ऋग्वेद, 10.17.1–2
3. महाभारत, 1.3.58
4. महाभारत, 5.109.17
5. रामायण, 6.30.33
6. महाभारत, 3.221.9
7. महाभारत, 12.265.8
8. महाभारत, 3.110.26
9. महाभारत, 19.24.15–17
10. महाभारत, 3.3.68
11. भविष्य पुराण, 1.47,1.79
12. साम्ब पुराण, अध्याय 10,15
13. आदि ब्रह्म पुराण, अध्याय 6,41

पश्चात् जब संज्ञा सूर्य के तेज को सहन न कर सकी तब उन्होंने अपनी छाया को उत्पन्न किया और अपने स्थान पर उसे अपना विकल्प बनाकर वह पिता के घर चली गयीं । छाया से सूर्य की तीन सन्तानें हुयीं सावर्णि, मनु, शनि एवं तपती । छाया अपनी सन्तानों के प्रति अधिक स्नेह रखती थी । उसके इस व्यवहार पर यम क्रुद्ध हो गए और अपने पैर से छाया को मारने का उपक्रम किया । छाया ने तब यम को शाप देते हुए कहा– "तुम्हारे इस पैर को कीड़े काट खायेंगे और इससे रुधिर टपकता रहेगा" । इस शाप को सुनकर यम ने सूर्य के पास जाकर छाया के शाप को बताया और कहा कि इसने हम पर शाप द्वारा प्रहार किया है । इसलिए यह हमारी माता नहीं प्रतीत होती । सूर्य ने यम के कष्ट–निवारण हेतु एक मोर (या मुर्गा) दिया तत्पश्चात् सूर्य त्वष्टा के निकट गए और उनसे संज्ञा के सम्बन्ध में पूछा तत्पश्चात् यह जाना कि संज्ञा उत्तर कुरु देश में अश्वी रूप में है । पुनः विश्वकर्मा ने सूर्य से अपना तेज कम करने की प्रार्थना की। सूर्य द्वारा उनकी प्रार्थना स्वीकार कर लिये जाने पर विश्वकर्मा (त्वष्टा) ने सूर्य को (अपने यन्त्र खराद पर बैठा कर) तेज का विकर्तन किया किन्तु जब पैरों के तेज का विकर्तन होने लगा तो सूर्य उस पीड़ा को सहन न कर सके इसलिए वह भाग ज्यों का त्यों रह गया। उसके पश्चात् सूर्य उत्तर कुरु गए वहाँ उनके द्वारा संज्ञा से अश्विन एवं रेवन्त की उत्पत्ति हुई।इसी कारण सूर्य प्रतिमाओं के पैर स्पष्ट नहीं बनाये जाते।

उपयुर्क्त पौराणिक गाथाओं में सूर्य की दो पत्नियों संज्ञा व छाया का उल्लेख है किन्तु मत्स्य पुराण[1] सूर्य की तीन पत्नियों की बात करता है संज्ञा, छाया व प्रभा। संज्ञा के राज्ञी और सरण्यु तथा छाया के निक्षुभा नाम मिलते हैं । सूर्य की सन्तानों में संज्ञा के मनु, यम एवं यमुना तथा उत्तर कुरु[3] में उत्पन्न अश्विन द्वय और रेवन्त छः सन्तानें थीं। छाया के सावर्णि मनु, शनि और तपती। मत्स्य पुराण[4] में छाया की एक और कन्या विष्टि का भी उल्लेख है। इस प्रकार भविष्य पुराण में सूर्य की नौ सन्तानों एवं दो पत्नियों की चर्चा है। सूर्य की दोनों पत्नियों राज्ञी व निक्षुभा को द्यौ व पृथ्वी का रूप भी माना गया है।[5] राज्ञी और निक्षुभा को भारतेतर प्रभाव माना गया है[6]। सूर्य के विशिष्ट अनुचरों में पिंगल[7] हाथ में लेखनी–पत्रक लिए प्राणियों के कर्मों का लेखा–जोखा रखने में संलग्न एवं दण्डी [8] ,दण्ड–व्यवस्था के व्यवस्थापक [9] रूप में प्रमुख हैं । साम्ब पुराण [10] में सूर्य के अठारह सेवकों की चर्चा आती हैं

---

1. मत्स्य पुराण, 11.2 तस्य पत्नीत्रयं तद्वत् संज्ञा राज्ञी प्रभा तथा
2. साम्ब पुराण, 10.17, भविष्य पुराण–1.79
3. मत्स्य पुराण, 11.26 (मत्स्य पुराण में उत्तर कुरु के स्थान पर मरु देश मिलता है) एवमुक्त्वा जगामाथ मरुदेश निन्दिता ।
4. मत्स्य पुराण, 11.9 ततः शनिं च तपतीं विष्टिंचैव क्रमेण तु ।।
5. भविष्य पुराण, 1.79.4 – तयोर्हि राज्ञो द्यौर्ज्ञेया निक्षुभा पृथिवी स्मृता ।।
6. वासुदेव शरण अग्रवाल,भारतीय कला, पृ.269
7. भविष्य पुराण, 1.79.3, साम्ब पुराण 6.21, विष्णु ध.पु. 3.67.5–7
8. साम्बपुराण, 6.23, भविष्य पुराण 1.76.14,19
9. कला में भी सूर्य के इन्हीं अनुचरों का अंकन प्रमुख रूप से हुआ है ।
10 साम्बपुराण, 16.1–22

जिनमें इन्द्र[1] को दण्ड नायक (किन्तु भविष्य पुराण स्कन्द को दण्ड–नायक मानता है (1.124) कहा गया है, जो अपनी दण्ड और नीति द्वारा जगत् का पालन करते हैं। इनका स्थान सूर्य के बायीं तरफ है। अग्नि पिंगल के रूप में सूर्य के दाहिने रहते हैं । इनके अतिरिक्त अश्विन्, यम, कार्तिकेय, गरुड़, चित्रगुप्त, काल, वरुण, कुबेर, विनायक एवं रुद्र इत्यादि नाम सूर्य के अनुचर वर्ग में आते हैं।

साम्ब पुराण में ही एक स्थान पर सोम को भी सूर्य का सेवक कहा गया है। ईरानी परम्परा में भी मिथ्र के दो अनुचरों की बात कही गयी है, श्रओस् जो कार्य पालन का प्रतीक हैं एवं रश्नु, जो न्याय का प्रतीक हैं।

पुराणों के अनुसार सूर्य पुत्र मनु के द्वारा सूर्य वंश का विस्तार हुआ जिसको आगे चलकर विष्णु के अवतारों से सम्बद्ध किया गया । यह सौर और वैष्णव धर्म के पूर्ण समन्वय की स्थिति प्रतीत होती है।

वर्ण व्यवस्था

पुराणों के काल तक मग समाज की मुख्य धारा में पूर्णतया स्वीकृत हो चुके थे अस्तु समाज व सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित विचार विशेषतः मागी पुराणों (भविष्य, साम्ब आदि) में देखे जा सकते हैं । ज्ञातव्य है कि अन्य पुराणों व ग्रन्थों की भाँति ये पुराणों वर्ण व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करते अपितु वे वर्ण व्यवस्था के व्यावहारिक पक्ष को उद्घाटित करतें हैं ।

वैदिक परम्परा में वर्ण व्यवस्था से सम्बन्धित प्राचीनतम सिद्धान्त ऋग्वेद[2] के पुरुष सूक्त का है जहाँ कहा गया है कि चारों वर्णों की उत्पत्ति आदि पुरुष–ब्रह्म से हुई है । तदनुसार ब्राह्मणों की उत्पत्ति आदि पुरुष के सिर से, क्षत्रिय हाथ से, वैश्य उरु प्रदेश से तथा शूद्र पैर से उत्पन्न हुए हैं । वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त ब्राह्मण परम्परा में परवर्ती कालों में भी मान्य रहा और पर्याप्त लोकप्रिय रहा । पुरुष सूक्त के अतिरिक्त भी वर्ण व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त[3] यथा समय प्रचलित रहे ।

मागी व्याख्या[4] इस सम्बन्ध में कुछ नवीन है । इसके अनुसार ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्राह्मण कहलाये एव क्षात्र–धर्म का पालन करने वाले क्षत्रिय कहलाए, व्यापार एवं कृषि को मानने वाले व्यक्ति वैश्य एवं श्रुति से बहिष्कृत जन शूद्र कहलाए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आगे चल कर अनेक शाखाओं में विभक्त हो गए[5] । इसके अतिरिक्त एक

1. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, 3.67.5
2. ऋग्वेद, 10.97
3. एन.के.दत्ता, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट सिस्टम इन इण्डिया, खण्ड–1, पृ.6
4. भविष्य पुराण, 1.44.9–10
5. भविष्य पुराण, 1.44.24 – ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परस्परम् ।
   कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव- प्रभवैर्गुणैः ।।

और व्याख्या प्रस्तुत की गयी है यथा– जो व्यक्ति आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न थे ब्राह्मण, जो क्षात्र गुणों से युक्त थे क्षत्रिय एवं जो व्यापार व कृषि में प्रवृत्त थे वैश्य कहलाए तथा जो इन समस्त कार्यों हेतु अयोग्य थे शूद्र कहलाए[1] । इस प्रकार स्पष्ट है कि मागी विचारधारा में कर्म (गुण) के आधार पर जाति के विभाजन की मान्यता थी । भविष्य पुराण[2] स्पष्ट कहता है कि जन्म से जाति का निर्धारण नहीं होना चाहिए । महाभारत[3] भी इस मत का समर्थन करता है । भविष्य पुराण[4] में यह व्यवस्था है कि चाण्डाल व शूद्र छल से या देश से बाहर जाकर वेद पढ़ने के अधिकारी हो सकते हैं किन्तु इनकी जाति या वर्ण पर इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता । अन्यत्र[5] कहा गया है कि शूद्र दण्ड व मेखला धारण तथा सन्ध्योपासना कर्म कर सकते हैं । अर्थात् मागी विचार–दर्शन में वर्ण व्यवस्था के निर्धारण की वह कट्टर व्याख्या नहीं थी, जो मूल स्मार्त विचारधारा में सर्वत्र दिखाई देती है । इसमें जातिगत महत्व की अपेक्षा आचार–व्यवहार की श्रेष्ठता अधिक मान्य थी । भविष्य पुराण[6] में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति अपने आचार से पतित हो तो वेद किसी भाँति उसे ऊपर नहीं उठा सकते फिर भी वेद अध्ययन ब्राह्मणों के लिए आवश्यक है किन्तु आचार, शील से युक्त होना भी आवश्यक है । कोई ब्राह्मण वेदपाठी होते हुए भी यदि आचारहीन है तो वह अपने कार्यों को पूरा नहीं कर सकता[7] । धार्मिक कार्य–कलाप के सम्बन्ध में ब्राह्मण व शूद्र एक समान हैं, अन्तर मात्र उनके नाम में है, अन्यथा उनकी आत्मा व शरीर एक समान हैं[8] ।

मागी विचार दर्शन में वर्णित वर्णव्यवस्था में एक प्रकार की उदारता दृष्टिगत होती है । इस वर्ण व्यवस्था के कार्यान्वयन के अनिवार्य नियम नहीं है । भविष्य पुराण[9] में एक स्थान पर कहा गया है कि ब्राह्मण शूद्र हो सकता है, शूद्र ब्राह्मण हो सकता है और क्षत्रिय वैश्य हो सकता है । ब्रह्म पुराण[10] ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्राह्मण सिर्फ जन्म

---

1. भविष्य पुराण, 1.44.25–27
2. भविष्य पुराण, 1.42.22–26
3. महाभारत, शान्तिपर्व, 189.4,8
4. भविष्य पुराण, 1.41–4
5. भविष्य पुराण, शिखा प्रणव संस्कार संध्योपासन मेखलाः ।
   दंडाजिन पवित्रायाः शूद्रष्वपि निंकुशाः ।।
6. भविष्य पुराण, 1.41.8 आचारहीनान्न पुनंति वेदा यद्यप्यधीताः सहषडिभरंगैः ।
   शिल्पंहि वेदाध्ययनं द्विजानां वृत्तं स्मृतं ब्राह्मण लक्षणंतु ।।
7. भविष्य पुराण, 1.41.9 अधीत्य चतुरो वेदान्यदि वृत्ते न तिष्ठति ।
   न तेन क्रियते कार्य स्त्रीरत्ने नेव षंटकः ।।
8. भविष्य पुराण, 1.41.29 समग्रयनुष्ठान गुणैः समग्रा शूद्रा यतः संति सभाद्विजा नाम ।
   तस्माद्विशेषो द्विज शूद्र नाम्नो नाध्यात्मिको ब्रह्म निमित्त को वा ।।
9. भविष्य पुराण, 1.40.47 शूद्रो ब्राह्मण तामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
   क्षत्रियो याति विप्रत्वं विद्याद्वेश्यं तथैव च ।।
10. ब्रह्म पुराण, 223.56-58

संस्कार श्रुति या स्मृति के आधार पर ही ब्राह्मण नहीं माना जा सकता जब तक कि उसका आचरण ठीक नहीं हो। पाणिनि[1] ने आदर्शों की चर्चा की है जिनके आधार पर ब्राह्मणत्व का निर्धारण हो सकता है। स्पष्ट है कि यहाँ महत्व ब्राह्मण का नहीं अपितु ब्राह्मणत्व का है। ब्राह्मण होने की अपेक्षा ब्राह्मणत्व से युक्त होना श्रेष्ठ है[2] । पद्म पुराण[3] में कहा गया है कि वेद अध्ययन मात्र ही ब्राह्मणत्व की प्राप्ति का साधन नहीं माना जा सकता । पूर्ववर्ती परम्परा में यह धारणा थी कि ब्राह्मण शुभ्र वर्ण, क्षत्रिय रक्त, वैश्य पीत एवं शूद्र श्याम वर्ण होते हैं । इसका खण्डन करते हुए यह मत दिया गया[4] कि ब्राह्मण न तो चन्द्रमा की किरणों के समान शुभ्र, न क्षत्रिय किंशुक के पुष्प की भाँति लाल, न ही वैश्य हरिताल के समान पीले और न तो शूद्र कोयले (अंगार) के समान काले होते हैं । मागी मत[5] में यदि एक पिता के चार पुत्र हों, उनकी जाति एक होगी किन्तु यदि वर्ण भिन्न हो तो क्या उनकी जाति अलग मानी जाएगी? गायों के समूह से अश्व की पृथक् पहचान करना सम्भव है किन्तु ब्राह्मण और शूद्र में ऐसा दृष्टिगत भेद नहीं किया जा सकता[6] । मागी दृष्टिकोण में संस्कार[7] भी आवश्यक नहीं थे क्योंकि संस्कारों के द्वारा व्यक्ति की सुन्दरता आयु में कोई वृद्धि तो होती नहीं है ।अतः संस्कार निरर्थक हैं । ऐसा व्यक्ति जिसके द्वारा समस्त संस्कार सम्पादित किये गए हैं, यदि आचार हीन है तो किसी भी भाँति भवसागर नहीं पार कर सकता[8] । सारे वर्ण समान हैं व संस्कार निरर्थक है[9] । पुराण कार[10] ने समस्त व्यवस्था का खंडन करते हुए कहा है कि संस्कार होने से ही व्यक्ति अच्छा नहीं हो जाता, बिना संस्कार सम्पादित किये भी व्यक्ति शुद्ध आचरण का हो सकता है । महाभारत[11] के अनुसार न तो जन्म न, ही संस्कार न ही ज्ञान, न ही उच्च कुल में उत्पन्न होना किसी व्यक्ति की जाति निर्धारण का माध्यम बन सकते हैं । आचरण से हीन ब्राह्मण कदापि सम्मान का पात्र नहीं हो सकता जबकि शुद्ध आचरण का

---

1. पाणिनि, 5.1.124
2. भविष्य पुराण, 1.40.36
3. पद्म पुराण, 26.135
4. भविष्य पुराण, 1.41.41 न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचि शुभ्रा न क्षत्रियाः किंशुक पुष्प वर्णाः ।
नचहे वैश्या हरिताल तुल्याः शूद्रा न चांगार समान वर्णाः ।।
5. भविष्य पुराण, 1.41.45 चत्वार एकश्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जाति रेका ।
एवं प्रजानाम हि पितैक एवं पित्रेका भावान्न च जाति भेदः ।।
6. भविष्य पुराण, 1.40.20 गो वर्ग मध्यम च गतो यथाश्चो निर्धार्यते ज्ञैः सुविचक्षणत्वात ।
मनुष्यभावाद विशिष्यमापास्वद्दृद्विजः शूद्रंगणान्न भिन्नः ।।
7. भविष्य पुराण, 1.42.8–11
8. भविष्य पुराण, 1.42.17 मन्त्रपूतात्म संस्कार युक्तो पिप्लवते न तु ।
ब्राह्मण्याद विकल्पं स पश्चाद्दुश्चरितो नरः ।।
9. भविष्य पुराण, 1.42.15 शूद्र विभादयो यो नौ न भिद्यंते परस्परम ।
सर्व धर्म समान त्वात्संस्कारादि निरर्थकम् ।।
10. भविष्य पुराण, 1.42.16 संस्कृतिभपि दुराचारो नरकं याति मानवः
निः संस्कारः सदाचारो भवोद्विप्रोत्तमः सदा ।।
11. महाभारत, अनुशासन पर्व, 143.60

शूद्र इससे अधिक सम्मान पा सकता है । समस्त मनुष्य एक जैसे ही होते हैं सिर्फ उनके द्वारा अपनाए गए कर्म ही पृथक् हो सकते हैं[1] ।

महाभारत[2] में शाकद्वीपी समाज के चार वर्णों में विभाजित होने की चर्चा है । शाकद्वीपी समाज का यह विभाजन मग, मागध, मानस और मन्दग के रूप में ख्यात था । विष्णु पुराण[3] से इस व्यवस्था की पुष्टि होती है । विष्णु पुराण में मग एवं मागध का विशिष्ट परिचय दिया गया है जिसमें मगों को ब्राह्मण भूयिष्ठाः माना गया है अर्थात् मग = ब्राह्मण, मागध = क्षत्रिय, मानस = वैश्य तथा मन्दग = शूद्र से समीकृत किये गए हैं । मागी पुराणों में इस वर्ण व्यव्स्था का संकेत मात्र मिलता है, मगों के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण का विस्तृत परिचय नहीं मिलता ।

मग– उक्त परम्परा में सर्वश्रेष्ठ वर्ण था मगों का। इस बात का स्पष्टीकरण इस वर्ण के वैशिष्ट्य से हो जाता है । विष्णु पुराण के टीकाकार श्रीधरस्वामी ने मग की व्याख्या ब्राह्मण भूयिष्ठाः कहकर की है । इस प्रबुद्ध वर्ग में ही हमें कई अन्य विरुद मिलते हैं यथा– याजक, भोजक, सेवक, गणक, ग्रहविप्र, आचार्य, सूर्याद्विज, आंगिरस आदि । साम्ब पुराण में मगों को याजक नाम से सम्बोधित किया गया है जबकि भविष्य पुराण इन्हें भोजक कहता है ।सेवक ऐसा विरुद है जिसका प्रचलन राजस्थान में रहा है ।इसी तरह बंगाल में इन्हें गणक, दैवज्ञ, ग्रहविप्र जैसे नामों से जाना गया । आचार्य व आंगिरस जैसे विरुद भी बंगाल में प्रचलित रहे हैं । सूर्यद्विज का उल्लेख हुण्डा अभिलेख में हुआ है। इन विरुदों पर हम ध्यान दें तो लगेगा कि प्रबुद्ध जन.जिन्हें मूलतः मग कहा गया अपने मूल भूत गुणों के अनुरूप विविध उपाधि से विभूषित थे और ये उपाधियाँ ही इस वर्ग विशेष की परिचायक बनीं।

मागी पुराणों में मगों की उत्पत्ति से सम्बन्धित गाथाओं का संकलन है । एक गाथा[4] के अनुसार शाकद्वीप के राजा प्रियव्रत के पुत्र ने सूर्य के लिए एक मन्दिर का निर्माण करवाया किन्तु ऐसा कोई व्यक्ति शाकद्वीप में नहीं था जो सूर्य के पूजा–विधानों का सम्पादन कर सके। राजपुत्र ने इस सम्बन्ध में स्वयं सूर्य से परामर्श किया । तत्पश्चात् सूर्य ने अपनी मानसिक शक्ति से आठ व्यक्ति उत्पन्न किया और उन्हें सूर्य पूजा का निर्देश दिया । इन्हीं के वंशज आगे चलकर मग कहलाये । दूसरी गाथा[5] के अनुसार शाकद्वीप में एक ऋषि थे "सुजिह्व"

---

1. भविष्य पुराण, 1.40.21 — मनुष्य जातेर्न परोथिशेषो चः कल्थते सर्वनरानुयायी । संस्कारयुक्ताहि क्रिया विशिष्ट द्विजन्मं ना शूद्रंविवेक हेतुः ।।
2. महाभारत, भीष्म पर्व, 12.27 — तत्र गच्छन्ति सिद्धाश्च चारणा दैवतानि च । धार्मिकाश्च प्रजा राजश्चत्वारोऽतीव भारत ।।
3. विष्णु पुराण, 2.4.69–70
4. भविष्य पुराण, 1.117
5. भविष्य पुराण, 1.139

उनकी पुत्री का नाम निक्षुभा था, जिसका विवाह हुआ था सूर्य से । निक्षुभा को सूर्य से एक पुत्र हुआ, जिसका नाम था जरशब्द या जरशस्त । सूर्य ने जरशब्द के वंशजों को सूर्य-पूजक होने का वरदान दिया एवं विधान किया कि वे अव्यंग धारण करेंगे । जरशव्द जरथुस्त्र का भारतीय सगोत्र प्रतीत होता है । इसी तरह अव्यंग भी सगोत्र है अव्योघेन[1] का (कालान्तर में जिसे पारसी कुस्ति कहने लगे) । मगों के लिए इसे धारण करना अत्यन्त आवश्यक माना गया है क्योंकि इसके बिना वे सूर्य की पूजा के अधिकारी नहीं रहते । भविष्य पुराण में यह स्पष्ट निर्देश है कि बिना मेखला-धारण किये सूर्य उपासना नहीं करनी चाहिए । जो ऐसा करता है वह सब प्रकार के सुखों से वंचित रहता है । भविष्य पुराण मगों के भोजक कहलाने का एक कारण[2] देता है, जो वस्तुतः भोजक शब्द की निर्वचनात्मक व्याख्या है । चूँकि ये (भोजक) धूप-दीप एवं नाना प्रकार के हार-उपहारों द्वारा सूर्य की पूजा करते थे अतः भोजक कहलाए । इनकेभोजक कहलाने का एक और भी कारण पुराणों[3] में वर्णित है । मगों की एक शाखा भोज-कन्याओं के साथ वैवाहिक सम्बन्धों के कारण भोजक कहलायी, किन्तु हाजरा[4] के मत से मग कालान्तर में दो शाखाओं में बंट गए "मग" एवं भोजक नाम से । भोजक समाज में अधिक महत्वपूर्ण हो गए प्रतीत होते हैं जैसा कि भविष्य पुराण[5] एवं पुरातात्विक साक्ष्यों यथा दान पत्रों लेखों से विदित होता है । अधिकांश भूमिदान व ग्रामदानभोजकों के निमित्त हैं । साम्ब पुराण भोजकों की चर्चा नहीं करता, बल्कि इनके स्थान पर एक नवीन वर्ग याजक की चर्चा करता है । मगों से याजकों[6] को पृथक् बताते हुए यह कहा गया है कि जो सिद्धान्त पक्ष से पूर्णतः अभिज्ञ है और जिन्हें "म"कार दर्शन का अभिज्ञान है, उन्हें मग तथा जो वाह्य पूजाभिचार अथवा सामान्य पूजापद्धति से अवगत हैं उन्हें याजक कहा गया। भोजक व याजकों के धर्मकृत्य समान प्रतीत होते हैं । परन्तु साम्ब पुराण के अतिरिक्त याजकों के सन्दर्भ अन्यत्र नहीं मिलते । इसके विपरीत भोजक राज्याश्रय प्राप्त प्रतीत होते हैं । अनेक अभिलेख व दान पत्र इसके साक्षी हैं । याजक-भोजक का एक नाम प्रतीत होता है जो मागी कर्मकाण्डों के विस्तार के साथ भोजकों के साथ सम्बद्ध हो गया था । भोजक शब्द साम्य रखता है ईरानी बोजक (BOZAK) से जो उद्धारक मुक्तिदाता के अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है । ईरानी मान्यता[7] में मिस्र को रक्षक व उद्धारक माना जाता रहा है । मगों के भोजक कहलाने का यही कारण प्रतीत होता है क्योंकि वे थे मुक्ति दाता के विशेष सेवक ।

---

1. टी. गोपी नाथ राव , एलिमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, खण्ड-1 भाग-11 पृ.308 नोट
2. भविष्य पुराण, 1.144.26 धूप माल्यैर्यतक्षपि उपहारैस्तथैव च ।
   भोजयंति सहसांशु तेन ते भोजका स्मृताः ।
3. भविष्य पुराण, 1.140.7-9,1.141.4-10
4. आर.सी. हाजरा, स्टडीज इन द उप पुराणाज, खण्ड-1, पृ-97
5. भविष्य पुराण, 1.147.37-38
6. साम्ब पुराण, 27.22-23
7. डा. पीटर हैंस स्मिथ, ईरानियन मागी इन इंडिया, क्यू. जे.एम.एस., खण्ड 55, अंक 3-4,

भविष्य पुराण[1] के अनुसार सूर्य पूजक "मकार" का ध्यान करते हैं जो सूर्य का प्रतीक है इसलिए मग कहलाते हैं । यह भी स्पष्टतः निर्वचन है–मग शब्द का । मगों–भोजकों के लिए भविष्य पुराण में स्पष्ट आचरण–संहिता का निर्देश है । भविष्य पुराण का 171 वाँ अध्याय एक प्रकार की आचरण संहिता ही है जिसमें भोजकों के लिए अनेक नीति विषयक तत्वों का निर्देश है । यथा भोजक को चाहिए कि वह वेदाध्ययन करे, दिन में तीन बार स्नान करे, पाँच बार सूर्य का ध्यान करे, शूद्र के घर बने हुए भोजन का त्याग करे । मगों के लिए अव्यंग धारण करना अनिवार्य था और भोजन के समय मौन रखने का विधान था । शव इत्यादि पवित्रता नष्ट करने वाली वस्तुओं के स्पर्श का निषेध था । उनके चार वेदों में एक आंगिरस भी था । इसके अतिरिक्त दर्भ का प्रयोग आज भी समस्त धार्मिक कर्मकाण्डों में आवश्यक होता है । भविष्य पुराण का अध्याय 193 विभिन्न प्रकार के दर्भों का विवेचन प्रस्तुत करता है ।

श्मश्रु का प्रावधान, मृत्यु के पूर्व सूर्य–उपासना का नियम, पूजा आराधना करते समय मुख का ढंका होना[2] एवं उनके लिए पद यात्रा का विधान इत्यादि उनके प्रमुख नियम थे। उल्लेखनीय है कि इस तरह की रीति का प्रचलन ईरानी मागी में था जिन्हें मज्दावादी [3] धर्म में ग्रहण कर लिया गया । मग सूर्य–उपासना के बाद ही भोजन ग्रहण कर सकते थे । भोजन की व्यवस्था सूर्य के लिए ही की जाती थी । जीविका नियत थी एवं उपार्जन न्याय सम्मत। फल एवं शाक ही इनके मुख्य भोजन थे । मगों की यह प्रवृत्तियाँ[4] मध्येशियायी मागी समाज में भी दिखाई देती हैं । भोजक के महत्व को दर्शित करने वाले अनेक पद भविष्य पुराण में हैं । एक स्थान[5] पर सूर्य को यह कहते हुए उद्धृत किया गया है कि "जिस प्रकार पत्नी पति की सेवा करती है और शिष्य गुरु की सेवा करता है उसी प्रकार भोजक मेरा करते हैं" । भोजकों के अन्य गुणों के साथ भविष्य पुराण[6] का यह भी निर्देश है कि भोजकों के द्वारा सम्पन्न समस्त कार्य स्वयं सूर्य के द्वारा सम्पन्न समझना चाहिए । पुनः कोई भी तब तक मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता जब तक यह भोजकत्व[7] न प्राप्त कर ले । भविष्य पुराण[8] के अनुसार भोजक ही सर्वप्रथम दिव्य ब्राह्मणों के रूप में जाने गए ।

---

1. भविष्य पुराण, 1.144.25 मकारो भगवान्देवो भाष्करः परकीर्तितः ।
2. भविष्य पुराण, 1.171.54 कुर्मान्मगो महाबाहो मुखमावृत्य यत्नतः ।
3. जे.एच. माल्टन, मागी, ई.आर.ई., खण्ड–8, पृ.293–294
4. एफ.सी.दावर, ईरान एण्ड इण्डिया थ्रू द एजेज, पृ. 63–64
5. भविष्य पुराण, 1.147.33 भर्ता पूज्यो यथा स्त्रीणां शिष्याणां च यथा गुरुः ।
   भोजकास्तु तथा पूज्यः सौराणां हृदिकात्मजा ।।
6. भविष्य पुराण, 1.171.20 यत्कृतं भोजकानां वै तत्कृतं स्याद्रवेर्नृप ।
7. भविष्य पुराण, 1.144.7 नागत्वा भौजकत्वं हि मोक्षमाप्नोति कथंचन ।
8. भविष्य पुराण, 1.141.9 भोजकास्तान्गणान्प्राहुर्ब्राह्मण दिव्य संज्ञितान् ।

विवेच्य प्रसंग में उल्लेखनीय है कि अनेक विद्वानों[1] ने मगों को मगध से सम्बद्ध किया है । बुचानन हैमिल्टन[2] की बिहार यात्रा की रिपोर्ट में (जो 1812 ई. से सम्बन्धित है) मगों को मगध में सूर्य–उपासना का प्रचारक माना गया है । इनके अनुसार मग प्राचीन काल में भारत आए और मगध इनका केन्द्र था यद्यपि मग मगध से सम्बन्धित थे या नहीं, यह विवादास्पद विषय है ।

संस्कार

"संस्कार[3] वैदिक काल से प्रचलित कुछ क्रियाओं के समन्वित रूप हैं । संस्कार को स्पष्ट करते हुए विद्वानों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं । वस्तुतः संस्कार से अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों से है जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके। हिन्दू संस्कारों में अनेक धार्मिक विधि–विधान उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार न होकर व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है" । संस्कारों का उदय वैदिक काल के पूर्व हो चुका था ,किन्तु संस्कार शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है यद्यपि इसके विशेष प्रकरणों में उपनयन, अन्त्येष्टि आदि कतिपय संस्कारों के अंगों का वर्णन अवश्य किया गया है[4] । प्रस्तुत है संस्कारों तथा संस्कारों से सम्बन्धित उन कृत्यों का विवेचन जिन पर मागी प्रभाव परिलक्षित हैं ।

उपनयन

हिन्दू संस्कारों में उपनयन एक प्रमुख संस्कार है । उपनयन के बिना कोई द्विज नहीं हो सकता । उपनयन एक विद्या–संस्कार था । उस समय आचार्य द्वारा प्रदत्त व्रतादेश का स्थान गौण था, किन्तु जब इसे दैहिक संस्कार का रूप प्राप्त हुआ तो संस्कार का कर्मकाण्ड ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गया । अपने अन्तिम विकास में उपनयन एक प्रकार का पुरुषार्थ माना जाने लगा जिसमें विद्या–प्राप्ति की भावना का कोई विशेष महत्व नहीं रहा । अन्धे बहरे और गूंगे व्यक्तियों के लिए भी, जिनके लिए मूलतः यह संस्कार वर्जित था, आवश्यक माना जाने लगा[5]। उपनयन की प्राचीनता अज्ञात है किन्तु ऋग्वेद[6] में ब्रह्मचर्य है।

---

1. डी.बी. स्पूनर, जे.आर.ए.एस., 1915, पृ. 425, वासुदेव उपाध्याय, जे.बी.आर.एस. खण्ड–46, भाग–1–4, पृ.311, अजय मित्र शास्त्री, इण्डिया ऐज सीन इन द बृहत्संहिता ऑफ वराह मिहिर, पृ. 20
2. डी.बी. स्पूनर द्वारा जे.आर.ए.एस., 1915, पृ. 425 में उद्धृत ।
3. राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ.18
4. तत्रैव, पृ. 19
5. तत्रैव, पृ. 151
6. ऋग्वेद, 10.109.9

अथर्ववेद[1] का एक पूरा सूक्त ब्रह्मचारी की प्रशंसा में है जिसमें उपनयन संस्कार की अनेक उत्तरवर्ती विधियों का मूल उपलब्ध होता है । यहीं द्विज की परिकल्पना भी स्पष्ट होती है। विवरण [2] है– "उपनयन करता हुआ आचार्य ब्रह्मचारी को गर्भ में (विद्यामय शरीर में) धारण करता है । वह तीन रात्रि पर्यन्त उसे उदर में रखता है । जब वह जन्म ग्रहण करता है (नवीन या द्वितीय)तो देवगण उसे देखने के लिए एकत्र होते हैं" । इसकी पुष्टि उपनयन पूर्व के कृत्यों से होती है । "उपनयन के एक दिन पूर्व तक बालक के शरीर पर हल्दी का लेप किया जाता था इसके पश्चात् उपनयन की पूर्व रात्रि उसे मौन रहकर व्यतीत करनी होती थी" । यह एक रहस्यपूर्ण विधि थी जो बालक को द्वितीय जन्म के लिये प्रस्तुत करती थी । पीत लेप गर्भ के वातावरण का दृश्य उपस्थित करता था तथा पूर्ण मौन अवाक् भ्रूण का सूचक था, [3] रहस्य उपनयन शब्द से ही द्योतित होता है । उपनयन शब्द में संयुक्त उपसर्ग उप का अर्थ है गुप्त[4] अर्थात् रहस्य तथा अनयन (उन्नयन) का अर्थ ले आना या उन्नत करना[5] है । उपनयन का सामान्य अर्थ है गुरु के समीप ले आना किन्तु इसका विशिष्टार्थ है ऐसे ज्ञान के लिए गुरु के समीप आना जो गुह्य है अथवा ऐसे ज्ञान के द्वारा उन्नति (विकास) की ओर अग्रसर होना जो गुह्य है। हल्दी का पीत लेप गर्भ के वातारण की प्रतीकात्मकता के साथ–साथ औषधीय गुणों (Anti Septic) से भी युक्त होता है इसका तात्पर्य यह है कि जीवन के नवीन क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व वह ब्रह्मचारी समस्त व्याधियों से मुक्त रहे । इसके अतिरिक्त इस प्रयोग का एक और कारण हो सकता है हल्दी या हरिद्रा हर से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है पीत वर्ण का होना, चमकना । इसका रंग सूर्य के वर्ण का होने के कारण इसे सूर्य के प्रकाश का प्रतीक माना जा सकता है जो कारण है– उत्पादकता, समृद्धि, एवं ऐश्वर्य का[6] । मनु[7] कहते हैं कि "द्वितीय जन्म में जिसका प्रतीक मूंज से बनी मेखला को धारण करना है। सावित्री ब्रह्मचारी की माता और आचार्य पिता है । उपनयन के सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित थी कि वह व्यक्ति का दूसरा जन्म है क्योंकि इसके उपरान्त ही वह वास्तविक जीवन में प्रवेश करता था" । द्विज सिद्धान्त मुख्यतः विद्यार्थी के व्यक्तित्व के परिष्कार एवं शुद्धि से जुड़ा था अर्थात् किसी भी व्यक्ति को जो वेद पढ़ने का इच्छुक हो द्विज संस्कार (उपनयन) के बाद वेद पढ़ने की अनुमति मिल जाती थी । उसका दूसरा जन्म उसकी जाति, देश और कर्म सम्बन्धी समस्त मान्यताओं को बदल देता था । सम्भवतः यह आर्येतर तत्वों के वैदिकीकरण के लिए प्रचलन में आया होगा । उपनयन के अन्तर्गत संकलित एक अन्य महत्वपूर्ण क्रिया है

'1. अथर्ववेद, 11.5
2. अथर्ववेद, 11.53
3. राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ. 165
4. एन.एन. भटटाचार्य, एन्शेन्ट इण्डियन रिचुअल्स एण्ड देयर सोशल कन्टेन्ट्स, पृ.74
5. पी.वी. कॉणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड–1 पृ. 208
6. जे.जे.मोदी, द रेलिजस सेरिमनीज एण्ड कस्टम्स ऑफ द पारसीज, पृ.25
7. मनुस्मृति, 2.170 यत्र यद् ब्रह्म जन्मास्य मौंजी बन्धन चिन्हिताम ।
   तत्रास्त माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ।।

मेखला–बन्धन के पश्चात् आचार्य ब्रह्मचारी की अंजलि में मंत्रपूत जल डालता था, तत्पश्चात उसे सूर्य का दर्शन कराता था एवं सावित्री मंत्र की दीक्षा देता था।"विद्यार्थी का जीवन पूर्ण अनुशासित था जिसके सूक्षमतम विषय भी नियम में आबद्ध थे । सूर्य उस ईश्वरीय नियम का प्रतिनिधि है जो सम्पूर्ण विश्व का नियमन करता है । विद्यार्थी सूर्य से अपने कर्त्तव्य तथा अनुशासन के अविचलित रूप से पालन की प्रेरणा ग्रहण करता था[1] ।" इसके अतिरिक्त बुद्धि सूर्य का ही एक अंश है, अतः इसका विकास सूर्य की आराधना से ही हो सकता है ।

मेखला जो उपनयन का आवश्यक भाग थी, मूलतः ब्रह्मचारी की आभिचारिक क्रियाओं से रक्षा हेतु उससे संयुक्त की गयी होगी । कालान्तर में यह प्रक्रिया रूढ़ होती गयी और मनु ने इसे द्विजत्व का प्रतीक माना । मेखला का प्रथम विवरण अथर्ववेद में है । अथर्ववेद में पूरा सूक्त[2] मेखला के निमित्त है । मेखला की अथर्ववेदीय अवधारणा विशुद्ध आभिचारिक प्रतीत होती है ।

कालान्तर में जैसे–जैसे सामाजिक नियम जटिल होते गए, संस्कारों के स्वरूप में भी परिवर्तन आता गया । समाज के तीन प्रमुख वर्णों के लिए मेखला के प्रकार निश्चित कर दिये गए । ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के लिए क्रमशः मूंज, दूर्वा एवं सन की मेखला[3] का विधान किया गया । मेखला का महत्व मात्र उपनयन संस्कार के सन्दर्भ में ही नहीं था प्रत्युत यह समस्त धार्मिक कार्य कलापों में उपयोगी था । अश्वमेध के सन्दर्भ में अश्व को पवित्र जलों से अभिषिक्त करने के पश्चात् मूंज या दर्भ की मेखला पहनाये जाने का उल्लेख है[4] । कारण वाह्याभिचार से अश्व की रक्षा करना हो सकता है ताकि यज्ञ में विघ्न न हो । अन्यत्र यह भी कहा गया है कि यज्ञों में यजमान की पत्नी मेखला धारण कर लेने के बाद ही यज्ञ में सम्मिलित हो सकती है[5] । मेखला मुंज की तीन शाखाओं वाली रस्सी होती थी जो मन्त्रपूत करके यजमान की कटि में बाँधी जाती थी । यहाँ भी वही कारण प्रतीत होता है । लक्ष्य था कि बाह्य कारण विघ्न न उपस्थित करें। मेखला की तीन लड़ियों का अभिप्राय सम्भवतः जल–थल–अन्तरिक्ष की अपत्तियों से रक्षा करना हो सकता है ।

जैसा कि विदित है मागी जन तंत्र–मंत्र अभिचार में निष्णात होते थे । अभिचार उनकी मुख्य प्रवृत्तियों में था । अतः आभिचारिक उपकरण के रूप में प्रयुक्त मेखला एवं संस्कारों के रहस्यात्मक प्रतीक स्पष्टतः मागी प्रभाव प्रतीत होते हैं । मेखला सदियों तक

---

1. राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ.175
2. अथर्ववेद, 6.133
3. मनुस्मृति, 2.42
4. आपस्तम्ब, 2..5.1–9
5. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.3.3; आपस्तम्ब, 2.5.5

मागी वैशिष्ट्य बनी रही । इसके स्वरूप में अवश्य कुछ परिवर्तन हुए। इसका परिवर्तित-परिवर्द्धित स्वरूप कपास का बना, साँप की कञ्चुली जैसा अन्दर से पोला, 132 अंगुल का स्वरूप अधिक समय तक प्रचलित रहा, जिसे आठवें वर्ष में मागी बालक को धारण कराया जाता था ।

विवाह संस्कार

भारतीय समाज में विवाह के प्रचलित अनेक प्रकारों में सगोत्र विवाह या सपिण्ड विवाह की प्रथा भी थी । यह विवाह-प्रथा वैदिक जन को स्वीकार्य नहीं प्रतीत होती, अतः वैदिक परम्परा में इसका विरोध किया गया है । बौधायन[1], जिनका काल चतुर्थ शती ईसा पूर्व है, के द्वारा जहाँ एक तरफ दक्षिण भारत में सगोत्री विवाह प्रथा के प्रचलन में होने की सूचना मिलती है वहीं दूसरी तरफ इसका विरोध किया गया है और कहा गया है कि सपिण्ड सम्बन्ध[2] सातवीं पीढ़ी में होना चाहिए । शतपथ ब्राह्मण[3] में एक स्थान पर तीसरी या चौथी पीढ़ी में भाई-बहन के विवाह का उल्लेख है ! गौतम[4] सातवीं या पाँचवीं पीढ़ी में विवाह का पक्ष लेते हैं, किन्तु गोभिल[5] के अनुसार माता के सपिण्ड सम्बन्धी के यहाँ विवाह सम्बन्ध नहीं करना चाहिए । आपस्तम्ब[6] के अनुसार वैसे व्यक्ति को कन्या नहीं देनी चाहिए जो माता या पिता का सपिण्ड हो ।

उपर्युक्त दृष्टांतों के अतिरिक्त यह प्रथा भृग्वांगिरस कुल में भी प्रचलित थी । भृगु-आंगिरस कुल की एक शाखा[7] केवल भृगु एवं केवलांगिरस में सगोत्री विवाह सम्बन्धों का प्रचलन था जबकि इस कुल के अन्य गोत्रजों का आचरण वैदिक परम्परा के अनुकूल था। मगों के पूर्व इतिवृत्त के सन्दर्भ में इस प्रथा की चर्चा पहले की जा चुकी है । यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि वैदिक समाज से अपनी पृथकता द्योतित करने हेतु अथवा वैदिक-जन के विरोध-बहिष्कार के कारण मगों ने कुछ ऐसी प्रथाओं को आत्मसात किया, जो मूल वैदिक धारा को मान्य नहीं थी तथा जिनका विरोध बराबर होता रहा । इस प्रथा से सम्बन्धित अधिक सन्दर्भ नहीं प्राप्त होते, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में उन्होंने स्वयं इस प्रथा का परित्याग कर दिया ।

---

1. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अखामेनिडस इन ऐन्शेन्ट इण्डिया, पृ. 48
2. राम गोपाल, इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज, पृ.211
3. शतपथ ब्राह्मण, 1.8.3.6 इदं हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये सन्गच्छामहे ।।
4. गौतम ध. सू., 14.12 -पिण्ड निवृतिस्सप्तमे पंचमे वा ।।
5. गोभिल गृ.सू., 1.4.4
6. आपस्तम्ब ध. सू., - 2 5.11.16
7. जॉन ब्रफ, द अर्ली-ब्रह्मेनिकल सिस्टम ऑफ गोत्र एण्ड प्रवर, भूमिका, पृ.29

अन्त्येष्टि-- अन्त्येष्टि दूसरा प्रमुख संस्कार है जिसमें मागी प्रभाव परिलक्षित है । अन्त्येष्टि के प्रचलित अन्य अनेक प्रकारों के अतिरिक्त एक नवीन प्रकार का उल्लेख अथर्ववेद[1] में है । विवरण है "काष्ठ के समान त्यागे गए अर्थात् मृत्यूपरान्त शव को जन शून्य स्थान पर छोड़ देना ।"इस प्रकार के उदाहरण पुरातत्व से भी प्राप्त होते हैं । लगभग 15वीं शती ईसा पूर्व (अथर्ववेदीय काल) में इस प्रकार के शवाधान का प्रचलन समाज में था जिसके संकेत ग्रीक इतिहासकारों[2] के विवरणों में हैं । आधुनिक पारसियों में[3] अब भी इस प्रथा का प्रचलन है । इसमें शव को निर्जन स्थान पर डाल दिया जाता है, जहाँ माँस भक्षी पशु पक्षी उसे खाते हैं ।

उपर्युक्त संस्कार पूर्ववर्ती अध्याय में वर्णित मागी परम्पराओं--कृत्यों से पर्याप्त साम्य रखते हैं । ये तमाम सूत्र-संकेत, संस्कारों व परम्पराओं में सूक्ष्म परिवर्तन व परिवर्धन इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि उपर्युक्त समस्त परिवर्तन मागी परम्परा से ग्रहण किए गए प्रभावों के फलस्वरूप हैं ।

सौर सम्प्रदाय एवं सूर्य-पूजक मग- ब्राह्मण

भविष्य, साम्ब, वराह, स्कन्द इत्यादि पुराणों में सौर सम्प्रदाय के प्रारम्भिक रूप का परिचय विद्यमान है किन्तु इसके पूर्व महाभारत[4] में सौराः का प्रयोग मिलता है, जो द्योतक है इसका कि उस काल में सौर सम्प्रदाय का अस्तित्व था । रामायण[5] में भी सूर्य-उपासना का संकेत है पर इसे किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता । यह विवरण वैदिक परम्परा के अन्तर्गत सूर्य-मण्डल की उपासना के दैनिक नियम का उदाहरण प्रतीत होता है। चुल्ल निद्देश[6] (जिसका समय दूसरी शती ईसा पूर्व है) अन्य देवों के साथ जिनके संघ (सम्प्रदाय) थे, सूर्य का भी उल्लेख करता है । मत्स्य पुराण[7] में शिव भक्ताः, विष्णु भक्ताः के साथ सूर्य भक्ताः का उल्लेख है। साम्ब पुराण में सूर्य का सृष्टि के नियामक के रूप में वर्णन किया गया है । इस पुराण[8] के अनुसार सूर्य ही समस्त सृष्टि के कर्ता, पालन एवं

---

1. अथर्ववेद 18.2.34 ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
   सर्वास्तानग्न आ वह पितृन् हीवषे अत्तवे ।।
2. हेरोडोट्स 1.140
3. राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ.302
4. महाभारत 7.58.15
5. रामायण 2.95.7 आदित्यमपतिष्ठन्ते नियमादर्ध्ववाहवः ।
   एते परे विशालाक्षि मुनयः सशित ब्रताः ।।
6. बी.सी.ला, इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन अली टेक्स्टस ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ.19
7. के.के. गांगुली, सम ऐस्पेक्टस ऑफ सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, प.31
8. साम्बपुराण 1.7.21

संहार के निमित्त हैं । साम्ब पुराण[1] में ही एक स्थान पर सूर्यभक्तों की चर्चा है, सूर्य के विशेष पुरोहित मग एवं याजक की चर्चा है । मग एवं याजक[2] की पृथकता भी स्पष्ट की गयी है अर्थात् जो सिद्धान्त पक्ष से पूर्णतः अभिज्ञ हैं और जिन्हें "म"कार दर्शन का अभिज्ञान है उन्हें मग तथा जो वाह्य पूजाभिचार अथवा सामान्य पूजा पद्धित से अवगत हैं उन्हें याजक कहा गया है । साम्ब पुराण में एक स्थान पर सूर्य के ध्वज[3] का विवरण है एवं इस देवता (सूर्य) की उपासना की भिन्न–भिन्न विधियों की चर्चा है । इसके अतिरिक्त साम्ब पुराण में दो और प्रकरण भी हैं जो साम्प्रदायिक विचारधारा के तत्वों को प्रकट (उद्घाटित) करते हैं– पहला है वसिष्ठ के द्वारा की गयी स्तुति (अध्याय–1) एवं दूसरा प्रकरण नारद के द्वारा सूर्य लोक का वर्णन (अध्याय–6) है । सूर्य–पूजा के सिद्धान्त–नियम एवं सूर्य पूजकों के लिए आचरण संहिता की व्यवस्था[4], सूर्य प्रतिमा व मन्दिरों के निर्माण हेतु निश्चित नियम एवं सूर्य के लिए ध्वज की व्यवस्था यह कुछ ऐसे तत्व हैं जो साम्ब पुराण के साम्प्रदायिक रूप को अधिक स्पष्ट करते हैं । सौर सम्प्रदाय की सूचना देने वाले अंश स्कन्द, ब्रह्म, वराह, अग्नि एवं गरुण पुराण तक में साम्ब पुराण से उद्धृत किये गये हैं[5]।

अन्य सम्प्रदायों की भाँति सौर सम्प्रदाय का भी अपना अलग साहित्य था। भण्डारकर[6] ने सूर्य पुराण की चर्चा की है जिसकी सूचना उन्हें जोधपुर के निकट रहने वाले सेवक ब्राह्मणों (मगों का राजस्थानी नाम) से प्राप्त हुई थी । भविष्य पुराण से एक अन्य सौरग्रन्थ[7] की जानकारी प्राप्त होती है सौर धर्म से जिसे नारदोक्त कहा गया है । इसे कई परवर्ती[8] ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है। सम्भवतः यह सौर धर्म से सम्बन्धित प्राचीन रचना थी । इसका काल आठवीं शताब्दी ईस्वी से पूर्व माना गया है सम्प्रति यह अप्राप्य है । सौर धर्म के जितने अंश प्राप्त हैं वे सूर्य से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। इसमें माघ से ही प्रारम्भ होने वाले एक अन्य सूर्य व्रत की चर्चा भी है जिसमें सूर्य की स्वर्ण प्रतिमाको चांदी के रथ पर स्थापित करके पूजा करने का विधान

---

1. साम्ब पुराण, अध्याय–38
2. साम्ब पुराण, 27–22–23 मकारध्यानयोगाश्च मगा हयेते प्रकीर्तिताः
   धूपमाल्य जपैश्चापि ह्युपहारैस्तथैव च ।।
   ये यजन्ति सहस्रांशु तेन ते याजकाः स्मृताः ।।
3. साम्ब पुराण, 33.8
4. साम्ब पुराण, अध्याय–44
5. आर.सी. हाज़रा, स्टडीज इन द उपपुराणाज, खण्ड–1,पृ.83–88
6. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–9,पृ.279
7. भविष्य पुराण, 1.4.89–सौर धर्मश्च राजेन्द्र नारदोक्तो महीपते ।
8. आनन्द भट्ट, विधान पारिजात, 2.पृ.–696; गदाधर, कालसार,पृ.129
   गोपाल भट्ट, हरिभक्ति विलास, पृ.773,वी.सी. श्रीवास्तव द्वारा पुराणम्, खण्ड–11,स.2, पृ.247 में उद्धृत

है । एक और सौर संहिता की सूचना मिलती है सौर धर्मोत्तर नाम से । परवर्ती[1] लेखकों ने इसके अनेक अंशों को उद्धृत किया है । हाज़रा[2] ने इसे भी उप पुराणों की कोटि में रखा है और इसका काल नवीं शताब्दी से पूर्व माना है । उपर्युक्त वर्णित ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी हैं जो तन्त्र से सम्बन्धित हैं और जिनमें सौर सम्प्रदाय से सम्बन्धित सामग्री है। सम्मोहन तंत्र[3] में ऐसे अनेक तन्त्र शास्त्रों का वर्णन है जो सौर सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। तन्त्रसार[4] में अनेक ऐसे कर्मकाण्डों का विवरण है जो सूर्य की उपासना से सम्बन्धित है। सौर सम्प्रदाय[5] से सम्बन्धित ग्रन्थों में सूर्य सिद्धान्त एवं त्रयीविद्या सिद्धान्त भी है जिनकी चर्चा साम्ब पुराण में है ।

इन सबके अतिरिक्त विभिन्न शासकों द्वारा समय समय पर धारण की गयी परम् सौर, परम् आदित्य इत्यादि उपाधियाँ भी सूर्य-उपासकों के विशाल समुदाय की द्योतक हैं । हर्ष[6] के सोनीपत ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उसके द्वारा परम् आदित्यभक्त की उपाधि धारण की गयी थी । प्रतिहार शासक रामभद्र एवं विनायकपाल अपने लेखों में परम् आदित्य भक्त कहे गये हैं[7]। इनके अतिरिक्त सेन वंश के शासक विश्वरूप सेन एवं केशव सेन के द्वारा परम् सौर उपाधि धारण करने की सूचना उनके अभिलेखों से प्राप्त है[8] ।

सौर सम्प्रदाय का स्पष्ट विवरण आनन्दगिरि[9] से प्राप्त होता है जिसके अनुसार शंकर, दक्षिण के सुब्रह्मण्य नामक स्थान में जहाँ की यात्रा में अनन्त शयन या त्रिवेन्द्रम से चौदह दिन लगते है, सौर सम्प्रदाय के अनुयायियों से मिले थे । उनके आचार्य का नाम दिवाकर था । वे अपने मस्तक में लाल चन्दन लगाए हुए थे और रक्त पुष्प धारण किये थे। आगे आनन्द गिरि का सूर्य एवं सौर धर्म सम्बन्धी विवरण कुछ परिवर्तनों के अतिरिक्त साम्ब पुराण के विवरण से पर्याप्त साम्य रखता है । भण्डारकर[10] ने सूर्यपासकों के छः वर्ग बताये हैं । सभी लाल चन्दन के चिन्ह तथा लाल फूलों की माला धारण करते हैं और अष्टाक्षर

---

1. जीमूत वाहन, कालविवेक, पृ-432-33,443-47, गोपाल भट्ट, हरिभक्ति विलास, पृ-776-808; रघुनन्दन, स्मृति तत्व 2 पृ-50; चन्द्रेश्वर, तिथि-निर्णय 12-13; हेमाद्रि, चतुर्वर्ग चिन्तामाणि, 3,2 पृ.249; वी.सी.श्रीवास्तव द्वारा पुराणम् खण्ड-11 संख्या 2,पृ. 247 में उद्धत।
2. आर.सी. हाज़रा, स्टडीज इन द उप पुराणाज, खण्ड-1 पृ-349
3. पी.सी.बागची, स्टडीज इन द तन्त्राज, पृ-100
4. एस.के.चटर्जी, सी.एच.आई. खण्ड-5,पृ.149
5. साम्ब पुराण 28.15- जयोतिःप्रकाशकं रुक्षमं प्रोक्तं तच्च निरंजनम्।
त्रैविद्यासिद्धान्तरताः सूर्य सिद्धान्तवेदिनः ।।
6. जे.एफ. फ्लीट, कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, खण्ड-3 पृ-21 9-21
7. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ-176,खण्ड-5, पृ. 212
8. एस. के. मैती, आर.आर.मुकर्जी, कॉर्पस आफ बंगाल, पृ.325
9. आर.जी. भण्डारकर, वैष्णव, शैव एवं अन्यधर्मिक मत, पृ-175
10. आर.जी. भण्डारकर, तत्रैव ।

मंत्र का पाठ करते हैं । कुछ लोग उदित सूर्य मण्डल की स्रष्टा ब्रह्म के रूप में तथा कुछ लोग मध्याह्न सूर्य की संहारक ईश्वर के रूप में पूजा करते हैं, उसे प्रभवकर्ता भी मानते हैं । कुछ लोग अस्त होते हुए सूर्य को पालक विष्णु मानते हैं । उसको सृष्टि और प्रलय का कारण और परमतत्व मानकर उसकी पूजा करते हैं । कुछ ऐसे भी हैं जो सूर्य के तीन रूपों को ब्रह्मा, विष्णु और शिव अथवा स्रष्टा, पालक और संहर्ता मानकर उनकी उपासना करते हैं । अन्य लोग नित्य सूर्य–मण्डल के दर्शन करने का व्रत धारण करके उसमें परमात्मा को विद्यमान मानकर पूजा करते हैं । वे सूर्य मण्डल को देखते हैं, सोलह प्रकार से उसकी पूजा करते हैं, अपने समस्त कार्य को ईश्वर को समर्पित कर देते हैं और बिना सूर्य--मण्डल को देखे भोजन नहीं करते । कुछ भक्त अपने मस्तक भुजा और वक्ष पर गरम लोहे से सूर्य मण्डल दगवाते हैं और अनवरत रूप से भगवान का ध्यान करते हैं । इन सभी छः सम्प्रदायों के भक्त अष्टाक्षर मंत्र का जप करते हैं । सौर सम्प्रदाय के लोग भी अन्य सम्प्रदायों की भाँति विभिन्न वैदिक मंत्रों से अपने उपास्य की महिमा और श्रेष्ठता की व्याख्या करते हैं । बंगाल के आंगिरस ब्राह्मण (मग) सूर्य की उपासना नृसिंह या रघुनाथ नाम से करते हैं । आनन्द गिरि के इस विवरण के अतिरिक्त आधुनिक काल में किये गए सर्वेक्षणों की रिपोर्ट से सौर–ब्राह्मण मगों की विभिन्न शाखाओं एवं इनके स्थानों की सूचना मिलती है । 1811 ई. में बिहार का सर्वेक्षण करने वाले फ्रांसिस बुचानन[1] ने उस क्षेत्र में रहने वाले मगों की चर्चा की है उनके अनुसार मगध, मग--ब्राह्मणों का प्राचीन निवास स्थान रहा है। मग ब्राह्मणों के समस्त क्रिया–विधान अन्य ब्राह्मणों जैसे ही थे । उनके मत को आगम कहा जाता था । ये मग अपनी विद्वता ज्ञान के कारण गृह–पुरोहित, गुरु, भिषग तथा देवालयों के पुरोहित के रूप में मान्य थे । शाकद्वीपी मात्र गोत्र एवं कुल में ही नहीं विभाजित थे अपितु उनमें एक नयी व्यवस्था थी, "पुर" की । एक पुर में वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकता था । पुर से सम्बन्धित इस आकलन को अन्य विद्धानों ने भी उद्धृत किया है (पं. छोटे लाल श्रोत्रिय, ब्राह्मण निर्णय, पृ.492)। "श्री एच.एच. रिस्ले"[2] जन गणना कमिश्नर ने अपने ग्रन्थ में (पृ.159) लिखा है कि ये लोग गोत्र के गोत्र में विवाह कर लेते हैं पर "पुर" टालते हैं। पुर अर्थात् पूर्वजों का निवास स्थान । नागेन्द्र नाथ वसु[3] के अनुसार–बंगाल के वर्तमान बर्दवान जिले में रधिया वर्ग के आंगिरस ब्राह्मण रहा करते थे । उस गाँव को आंगिरसी कहा जाता था । ये आंगिरस ब्राह्मण बंगाल के शाकद्वीपी आचार्यों में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे । इसके अतिरिक्त कुंडी तथा सोरो परगने में और पुरी जिले के कोणार्क गाँव में भी आंगिरस ब्राह्मणों के निवास करने की सूचना मिलती है जिन्हें अथर्ववेदीय ब्राह्मण कहा जाता था । इसके अतिरिक्त[4] मयूर भंज में भी अथर्ववेदी ब्राह्मणों की उपस्थिति की सूचना मिलती है । भविष्य पुराण (ब्रह्म पर्व,

---

1. फ्रांसिस बुचानन, पटना गया रिपोर्ट, खण्ड–1, पृ–113–119
2. देवेन्द्र नाथ पाण्डेय, ब्राह्मण समाज का ऐतिहासिक अनुशीलन, पृ.275 पाद–टिप्पणी ।
3. एन एन.वसु, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ मयूरभंज, पृ- IX-X।
4. उड़ीसा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, मयूरभंज, पृ.110, 1967

अध्याय 140) के अनुसार मगों को ही आंगिरस कहा गया है । यह भी विवरण है कि चार वेदों में से मात्र अथर्ववेद ही उनके द्वारा मान्य है और मगों के कृत्य इसी पर आधारित होते हैं। उपर्युक्त कारण से ही ये ब्राह्मण आंगिरस कहलाते हैं और उनके कर्मकाण्डीय विधान को आंगिरस कल्प[1] कहते हैं । भविष्य पुराण[2] के अनुसार ऋक्, यजु, साम के मानने वालों को इन वेदों के अनुसार आचरण करने से जिस पुण्य की प्राप्ति होती है अथर्व–आंगिरस को वह सूर्य की उपासना से ही प्राप्त हो जाती है ।

नागेन्द्र नाथ वसु[3] के अनुसार मयूरभंज (वर्तमान उड़ीसा एवं बंगाल के कुछ भाग) से कुछ मग–परिवार सूर्यपुर(बलसोर जिले का सोरो अब सूर्यपुर के नाम से विख्यात) एवं कुछ कोणार्क में जाकर बस गए । सोरो (सूर्यपुर) से एक सप्त कुमारिका फलक प्राप्त हुआ है । इसके आधार पट्ट पर खुदे लेख में फलक[4] के क़िसी सूर्य मन्दिर में स्थापित होने का उल्लेख है । इसका काल पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी माना गया है । एक सूचना[5] के अनुसार कोणार्कके सूर्य मन्दिर के पुरोहित ये आंगिरस ब्राह्मण ही होते थे । भण्डारकर[6] ने जोधपुर में रहने वाले सेवक–भोजक ब्राह्मणों की चर्चा की है जो शाकद्वीपी थे। वे सूर्य की प्रतिमा रखते थे और उसकी उपासना प्रत्येक रविवार को करते थे । वे रविवार को एक समय भोजन करते थे । इसके अतिरिक्त पुष्कर क्षेत्र में निवास करने वाले पाराशरी ब्राह्मण भी मग थे । उपर्युक्त मग ब्राह्मणों के अनुसार पूर्व तथा उत्तर में उनके वर्ग के ब्राह्मणों को शाकद्वीपी दक्षिण में सीतापत्री, दिल्ली, आगरा के आस–पास पाण्डेय कहा जाता था ।

मगों के कुछ विशिष्ट केन्द्र थे जिनके सम्बन्ध में कृण्ण दास मिश्र ने मग–व्यक्ति[7] में चर्चा की है–ये महत्वपूर्ण केन्द्र निम्न है–(1) उरु (2) खणेतु (3) चेरि (4) मधप (5) कुराई (6) देवकुटी (देवकुण्डा–देवकुड?)(7) वलूणी (8)दुराई (9) पढरी (10) अदाइ (11) ओड़री (12)सारी (13)चत्रवार (14) अयध्या (सम्भवतः अयोध्या?) (15) ओनी (16)जम्बु (17) भदोर्ली (18) हरदौती (19)वरुनरक (देव वर्णाक?) (20) गुणासव (21) कुण्डा (22) मलन्दी

---

1. आर.के अरोरा, हिस्टॉरिकल एण्ड कल्चरल डाटा फ्राम द भविष्यपुराण, पृ.47
2. भविष्य पुराण, 1.106.10 ऋग्वेदस्य समस्तस्य यच्छते यत् फलं ध्रुवम ।
   सामवेद फलं साम यजुर्वेद फलं यजुः ।।
   अथर्व्वांगिरसो निखिलं यच्छते रवि ।
3. एन.एन.वसु, आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ मयूरभंज,पृ. XI.
4. तत्रैव, पृ.XII
5. तत्रैव ।
6. आर.जी. भण्डारकर, फॉरेन इन्फलूएन्स इन इण्डियन पॉपुलेशन, इण्डियन एन्टिक्वेरी, 1911, 2.19
7. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अखामेनिड्स इन इण्डिया, पृ.50

(23) गण्डा (गोण्डा?) (24) चन्द्रोती (25) खण्डाशुप (26) खजुरहा (सम्भवतः खजुराहो?) (27) वेदी पाकरी (28) उल्ला पूण्डू (29) मारकण्डेय (30) लटार्क (31) कोणार्क

इन स्थानों में अयोध्या देववरणार्क, खजुराहो एवं कोणार्कसे सूर्य मन्दिर अथवा उनके प्रमाण प्राप्त हुए हैं अन्य स्थानों की पहचान शेष है । मग व्यक्ति से एक और महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है- इन स्थानों के मग अपने नाम के बाद "आर"जोड़ लेते थे, जैसे उरु के मग कहलाते थे उरुवार खणेतु के खणेतुवार । यह अज्ञात है कि ये मग इस प्रकार का उपनाम क्यों धारण करते थे सम्भवतः इसके मूल में स्थान विशेष की सम्बद्धता दर्शित करने की भावना रही हो[1]।

राजस्थान[2] में मग ब्राह्मण सेवक व भोजक कहलाते हैं । बंगाल में ग्रहविप्र और आचार्य ब्राह्मण (ज्योतिष व नक्षत्र विज्ञान से सम्बद्ध) इनके अतिरिक्त बंगाल में मग ब्राह्मणों की एक और शाखा रहती है जिन्हें गणक कहते हैं । वृहदधर्म पुराण[3] के अनुसार शाकद्वीपी पिता एवं वैश्य माता की सन्तान को गणक कहा गया । ये ब्राह्मण मुख्यता नव ग्रहों की उपासना से सम्बद्ध थे । उत्तर प्रदेश व बिहार के मग शाकद्वीपी[4] कहलाते हैं तथा सामान्यतया वैद्य (भिषग्) होते थे । कुछ शाकद्वीपी ब्राह्मण वर्तमान में भी पौरोहित्य कर्म करते हैं तथा कुछ अन्य साधनों से जीवकोपार्जन करते हैं[5] । इसके अतिरिक्त राजस्थान के दहिया राजपूतों के सम्बन्ध में विवरण है कि वे भोजक-सेवक ब्राह्मणों से सम्बन्धित थे[6]। राजतंरगिणी[7] में एक स्थान पर दैज्ञोक्त का अर्थ भविष्य वक्ता के द्वारा बताया गया, तथा अन्यत्र[8] खार्खोद विद्या का उल्लेख है जो अभिचार-विद्या प्रतीत होती है । एक और स्थान पर चन्द्रापीड की रानी प्रकाश देवी के गुरु का नाम मिहिरदत्त[9] मिलता है सम्भवतः यह मग था ।

भारद्वाज, शाण्डिल्य, गर्ग, कश्यप, पराशर, वत्स और कौण्डिन्य आदि इनके गोत्र हैं। अभिलेखों में प्राप्त गोत्रों के अतिरिक्त कई अन्य ऐसे गोत्र भी इनमें पाये जाते हैं जो गोत्र ग्रन्थों में नहीं मिलते और असांस्कृतिक प्रतीत होते हैं । सबसे विचित्र तथ्य यह है कि यद्यपि ये अत्यंत भव्य गोत्र धारण करते हैं तथापि गोत्रों को उचित महत्व नहीं देते ।

---

1. देबाला मित्र, फॉरेन एलिमेन्ट्स इन इण्डियन पाँपुलेशन, सी.एच.आई. खण्ड-2,पृ.613
2. विस्तृत विवरण परिशिष्ट तीन में द्रष्टव्य ।
3. आर.पी.चंदा, इण्डोआर्यन रेसेज, पृ-160
4. पटना गजेटियर,पृ.55
5. वासुदेव उपाध्याय,जे.बी.आर.एस.,खण्ड-46,भाग-1-4,पृ. 311
6. वी.एस.पाठक, स्मार्त रेलिजस ट्रेडिशन, पृ-8
7. राजतंरगिणी (संपादक रघुवीर सिंह) 2.4.4.4
8. तत्रैव-2.4.4.4
9. तत्रैव-2.4.4.80

शाकद्वीपी ब्राह्मण लगभग 90 "पुरों" (ग्राम्य आस्पदों) में विभक्त हैं । एक पुर के लोग दो भिन्न गोत्रों के होते हुए भी परस्पर विवाह–सम्बन्ध नहीं करते।[1]

मागी प्रवृत्तियों के आकलन से ऐसा प्रतीत होता है कि लम्बे समय तक ये सूर्य–पूजक बने रहे पर बाद में इनका समन्वय अन्य सम्प्रदायों से भी हुआ ।'हुण्डा अभिलेख' से सूचना मिलती है कि पंजाब क्षेत्र में सूर्य-पूजक, शिव-पूजकों से पुनर्युक्त हुए । गुजरात क्षेत्र में नागर ब्राह्मणों से इनका अवश्य कुछ सम्बन्ध था जिनका एक बड़ा भाग"शैव अथर्व वेदी" था।

पूर्वी भारत में भी मग लोग, शैव–सम्प्रदाय से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित दिखाई देते हैं । गोविन्दपुर शिलालेख से ज्ञात होता है कि गंगाधर के पिता मनोरथ की बुद्धि, अत्यन्त पवित्र शैवदर्शन के वचनों से संस्कारित थी । वह तीनों समय, भगवान चन्दशेखर के पूजनोपरान्त अग्नि में आहुतियाँ देता था । मगों का शैवों एवं विष्णु उपासकों से सम्बद्ध होना, एकदम सुस्पष्ट है यह रोचक तथ्य कि बिहार प्रान्त के मगों का सर्वेक्षण करके श्री मार्टिन ने कहा है कि "पहले ये कुछ भी रहे हों किन्तु अब इनमें कोई सौर सम्प्रदाय का नहीं है । इनका बृहत्तर भाग अब रामानन्द (वैष्णव सम्प्रदाय)का अनुयायी है । पश्चिमी भारत के बहुत से भोजक जैन धर्म अपनाकर उनका पौरोहित्य कर रहे हैं ।"[2]

शाकद्वीपी ब्राह्मण–समाज ने अपने दीर्घ कालीन साहचर्य में अपने को मूल धारा के ब्राह्मणों के साथ एकीकृत कर लिया है । इन्होंने अन्य ब्राह्मणों के समान नाम तथा गोत्र का वरण कर लिया है अतः ये अब आचारतः पंचगौड़ में अन्तर्निहित प्रतीत होते हैं किन्तु अब तक अपने उस वैशिष्ट्य को संजोये हुए हैं, जिससे ये समाज में अपना विशिष्ट स्थान बनाये रख सकें । पहले इनका वैवाहिक सम्बन्ध केवल अपने वर्ग में ही होता था सम्प्रति अन्य ब्राह्मणों से भी इनका विवाह–सम्बन्ध प्रारंभ हो चुका है ।

---

1. द्रष्टव्य पं. देवेन्द्र नाथ शुक्ल, ब्राह्मण समाज का ऐतिहासिक अनुशीलन,पृ. 176
2. तत्रैव

पंचम अध्याय

मागी प्रभाव : भेषज, अभिचार एवं ज्योतिष

मागी मत के अन्तर्गत जिन विशिष्टताओं का हम परिदर्शन करते हैं, उनमें भैषज्य, आभिचारिक व ज्योतिष्परक प्रवृत्तियों का परिचय मुख्य है । रक्त–स्राव के चिकित्सकों के रूप में ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित अरुर्मघों और अथर्ववेद तथा अवान्तर कालों में परिज्ञात आयुर्वेदिक चिकित्सा–पद्धति के बीच सम्बन्ध का स्पष्ट संकेत सूत्र भले ही कहीं न मिले, भैषज्य एक मागी विशिष्टता के रूप में ख्यात है । इसी प्रकार आधुनिक युग में ऐन्द्रजालिक अथवा यातविक कृत्यों के लिए प्रचलित शब्द "मैजिक" का मूल अर्थ था "मगों का कृत्य" । यूनानी शब्द "मगोस" से ही निष्पन्न हुआ है अंग्रेजी "मैजिक"। इसके अतिरिक्त मग–जन फलित ज्योतिष और स्वप्न–विचार में भी पटु होते थे । प्रस्तुत अध्याय में मगों के भेषज, अभिचार व ज्योतिष ज्ञान तथा उसके प्रभाव का हम सतर्क विश्लेषण करेंगे ।

भेषज

जैसा कि पूर्ववर्ती अध्याय में विचार किया जा चुका है– आदि मघ = अरुर्मघ, भिषग थे, उनके अन्य गुणों की अपेक्षा उनका भैषज्य विशेषज्ञ होना अधिक महत्वपूर्ण था। उनकी यह विशेषता इतनी महत्वपूर्ण थी कि उसके आधार पर उनका अभिधान ही होता गया–अरुर्मघ अर्थात् रक्त स्राव के चिकित्सक । ध्यातव्य है कि अरुर्मघ मुख्यतया रक्तस्राव की चिकित्सा अन्य व्याधियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है–कालान्तर में जब भेषज–पितामह धन्वन्तरि की अवधारणा विकसित हुई तो उसके मूलार्थ में यह स्मृति विद्यमान थी और धन्वन्तरि का अभिधार्थ हुआ–"वह जो धनुष द्वारा किये गये घाव की चिकित्सा करे"[1] । देवभिषग् अश्विन् भी इस अवधारणा को पुष्ट करते हैं– अश्विन् द्वय जो युद्ध क्षेत्र में प्राथमिक चिकित्सा देते थे, बीमार पंगु और अंग–भंग व्यक्तियों को सहायता करते थे[2] । अश्विन् द्वय यद्यपि देव–भिषग थे फिर भी प्रारम्भ में उन्हें यज्ञों में भाग मिलने का उल्लेख नहीं प्राप्त होता यह आश्चर्य का विषय है । अश्विन द्वय से सम्बन्धित वैदिक गाथाओं में से एक[3] का विस्तार शतपथ ब्राह्मण में मिलता है । यह गाथा अश्विनद्वय के

---

1. डा. डी. वी.एस रेड्डी, हिस्ट्री आफ मेडिसिन आफ इण्डिया, जे.ओ. आर., खण्ड–15, भाग–11, पृ. 79
2. तत्रैव–पृ.80
3. शतपथ ब्राह्मण, 4.1.5.1–15

सोमयज्ञ में भाग मिलने के कर्मकाण्डीय पक्ष से सम्बन्धित है और उसकी व्याख्या प्रस्तुत करती है । गाथा इस प्रकार है ।

जब भार्गव और आंगिरस ऋषिगण स्वर्ग जाने लगे तो वे च्यवन को यहीं छोड़ गये। वे अत्यन्त कुरूप तथा प्रेतों के समान विकराल आकृति वाले थे । राजा शर्याति के शिविर के पास घूमते हुए उसके पुत्रों ने उन्हें देखा और लोष्ठों से मारा । च्यवन ने उन्हें उन्मत्त कर दिया । वे आपस में लड़ने लगे तब शर्यात अपनी पुत्री सुकन्या को लेकर च्यवन के पास गए और उसे स्वीकार करके शान्त करने की प्रार्थना की । ऐसा ही हुआ । एक दिन अश्विन–द्वय ने सुकन्या को देखा और उसकी कामना की । उन्होनें उससे अपने बूढ़े और कुरूप पति को छोड़ देने के लिए कहा जब सुकन्या ने च्यवन से यह बात कही तो ऋषि ने कहा कि तुम अश्विन–द्वय से कहना कि "तुम स्वयं असमृद्ध तथा असम्पूर्ण हो , फिर भी मेरे पति की निन्दा करते हो" । यदि वे पूछें कैसे तो उनसे कहना कि पहले मेरे पति को युवा बना दो तब बताऊंगी । दुबारा जब अश्विन–द्वय आये तो ऐसा ही हुआ। उन्होंने एक ह्रद में स्नान करवा कर च्यवन को युवा बना दिया । तब ऋषि ने उन्हें बताया कि कुरुक्षेत्र में देवता यज्ञ कर रहे हैं, किन्तु तुम्हें अयोग्य समझकर यज्ञ–भाग नहीं दे रहें हैं। यह सुनकर अश्विन–द्वय वहाँ गये और देवों से इसका कारण पूछा । उन्होंने कहा कि तुम लोग चिकित्सा के प्रसंग में मनुष्यों के बीच बहुत अधिक रहते हो अतः हम तुम्हें यज्ञ के अयोग्य समझते हैं । लेकिन आप लोग भी तो शिरोविहीन यज्ञ कर रहे हैं अश्विन–द्वय ने कहा । देवों ने जब इसका कारण पूछा तो उन्होनें अपना यज्ञ–भाग निश्चित करवा कर और उसे प्राप्त करके यज्ञ का सिर जोड़ दिया ।

वैदिक साहित्य में यद्यपि अश्विन से सम्बन्धित कई गाथाओं के संकेत विद्यमान हैं किन्तु च्यवन के काया–कल्प से सम्बन्धित उपर्युक्त गाथा के अतिरिक्त अन्य गाथा न तो परिवर्ती संहिताओं में ही प्राप्त होती है, न ब्राह्मणों में ही । इन कथाओं का केवल ऋग्वेद तक ही सीमित रहना कुछ आश्चर्य जनक है क्योंकि वैदिक देवों से सम्बन्धित अधिकांश कथायें किसी न किसी रूप में यदि ब्राह्मण ग्रंन्थों में नहीं तो कम से कम पौराणिक साहित्य में तो अवश्य ही उल्लिखित की गयी है ।

च्यवन की कथा शतपथ ब्राह्मण के पश्चात् और अधिक विस्तार से महाभारत में तथा अत्यन्त परिष्कृत एवं संक्षिप्त रूप में श्रीमद्भागवत में प्राप्त होती है । महाभारत में कथा का मुख्य अथवा कर्मकाण्डीय दूसरा भाग लगभग विलुप्त हो गया है और इसने एक नया रूप धारण किया है । यह स्वभाविक भी था क्योंकि यज्ञ आदि की महत्वहीनता के कारण उस समय उसकी कोई आवश्यकता न थी ।

महाभारत वनपर्व के तीन अध्यायों (123–125) में च्यवन ऋषि की यह कथा प्राप्त होती है । पयोष्णी नदी के तट पर महर्षि च्यवन दीर्घ काल तक तपस्या करते हैं । जिससे उनके

ऊपर मिट्टी तथा घास आदि जम जाती है । एक दिन शर्याति अपनी चार पत्नियों तथा पुत्री सुकन्या के साथ क्रीड़ा करता हुआ उधर आ निकलता है । सुकन्या सखियों के साथ खेलती हुयी "बाल्मीक" के पास पहुँचती है । बाल्मीक के अन्दर से चमकती हुयी दो आँखें दिखायी पड़ती हैं । कौतूहल बस सुकन्या उसमें कांटा चुभा देती है । च्यवन क्रुद्ध होकर राजा के सैनिकों का मल–मूत्र बन्द कर देते हैं । जब राजा को अपनी कन्या द्वारा च्यवन को कष्ट देने का वृत्तान्त पता चलता है तो वह सुकन्या के साथ क्षमा याचना करने पहुंचता है । च्यवन सुकन्या की मांग करते हैं । राजा उन्हें अपनी पुत्री प्रदान करता है । एकदिन अश्वनी कुमार सुकन्या के देखते हैं और उसे वृद्ध पति को छोड़कर अपने में से किसी एक का वरण करने की सलाह देते हैं । सुकन्या इसे नहीं मानती । उसके पतिव्रत से प्रसन्न होकर अश्वनी कुमार उसके पति को युवक बना देने के लिए एक सरोवर में प्रवृष्ट करते हैं और स्वयं भी उसमें प्रवृष्ट होते हैं । सरोवर से तीनों एक ही आकृति के सुन्दर युवकों के रूप में निकलते हैं पर सुकन्या अपने पति को पहचान जाती है ।

अश्वनी कुमारों के इस उपकार से प्रसन्न होकर च्यवन उन्हें यज्ञ में सोम पान के अधिकारी बना देने का आश्वासन देते हैं । अपने श्वसुर शर्याति से वे यज्ञ करवाते हैं और उसमें अश्वनी कुमारों को देने के लिये सोम ग्रहण करते हैं । इन्द्र प्रकट होकर च्यवन को ऐसा करने के लिये मना करते हैं और च्यवन के न मानने पर वे व्रज प्रहार करने के लिये उद्यत होते हैं । च्यवन वज्र सहित उनकी भुजा को स्तम्भित कर देते हैं और इन्द्र के विनाश के लिए यज्ञ कुण्ड से मद नामक दैत्य की सृष्टि करते हैं । इन्द्र घबराकर अश्वनी कुमारों का सोम पान का अधिकार मान लेते हैं और च्यवन मद को स्त्री, द्यूत, स्वर्ण तथा सुरा में विभक्त कर देते हैं । च्यवन–अश्विनों की उपर्युक्त गाथा स्पष्टतया भेषज के वैदिकीरण का प्रयास है । ऐतरेय ब्राह्मण के पूर्वोक्त[1] प्रसंग से स्पष्ट है कि आर्यों के इन्द्र प्रधान वर्ग में एवं अन्य वर्ग जो अरुर्मघों से सम्बन्धित था, परस्पर विरोध था । भिषग्–अरुर्मघ के इस विरोध की ध्वनि संहिताओं में भी मिलती है जहाँ भेषज की निन्दा की गयी[2] और इसे ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध माना गया है । शतपथ ब्राह्मण का प्रसंग भी इस विरोध का आभास देता है अश्विन इस हेतु यज्ञ भाग पाने के अधिकारी नहीं थे क्योंकि वे चिकित्सा के लिए मनुष्यों के बीच में रहते थे । वैदिक संहिताओं के इन मग विरोधी विचारों के कारण अथर्ववेद, जिसमें भेषज सम्बन्धी नियमों का संकलन है, परवर्ती काल तक वेदत्रयी से अलग माना जाता रहा। शतपथ ब्राह्मण[3] ऐतरेय ब्राह्मण (त्रयो वेदा अजायन्त–25.7) गोपथ ब्राह्मण[4], छान्दोग्य

---

1. प्रथम अध्याय में विवेचित प्रसंग ।
2. तैत्तिरीय संहिता, 6.4.9.3, शतपथ ब्राह्मण 4.1.5.14
3. शतपथ ब्राह्मण, 6.1.1.8 स श्रान्तस्तेयानी ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विधाम् ।
4. गोपथ ब्राह्मण, 1.6 तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तस्तप्तेभ्यस्त्रीन् वेदान् निरमिमत ।

उपनिषद्[1], वृहदारण्यक उपनिषद्[2] में वेदत्रयी का उल्लेख है । अथर्ववेद के वेद त्रयी से अलग होने की धारणा मौर्य काल तक प्रचलित रही । मनु इसका समर्थन करते हुए कहते हैं–अग्निवायुविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् (1.23) ।

उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में आयुर्वेद एवं अथर्ववेद के सम्बन्ध पर विचार करना प्रासंगिक प्रतीत होता है । ताण्ड्य ब्राह्मण (12.9.10) में कहा गया है भेषजं वा अथर्वाणि। चरक संहिता में प्रश्न है कि चारों वेदों में कौन सा वेद आयुर्वेद से सम्बन्धित है, पुनः उत्तर दिया गया है अथर्ववेद[3], सुश्रुत भी इसी का समर्थन करते है[4] ।अथर्ववेदीय परम्परा मूलतः वेदत्रयी से पृथक् है । इसमें शान्तिक, पौष्टिक तथा आयुष्य वर्धक मन्त्र संगृहीत हैं, जो मनुष्यों के कल्याण पक्ष के साधक हैं, अथर्वा से सम्बन्धित हैं । यद्यपि ऋग्वेद के दशम मण्डल के औषधि सूक्त में कुछ व्याधियों का वर्णन है किन्तु यह विवरण स्पष्ट नहीं है[5] । दो अन्य मंत्रों में विष तथा सपत्नी के निराकरण के लिए प्रार्थना की गयी है परन्तु अथर्ववेद में रोग एवं उसके निदान हेतु औषधि एवं मन्त्र दोनों का विषद् विवरण प्रस्तुत किया गया है । अथर्वन संहिता में सौ से अधिक रोगों का वर्णन है जिनका निदान मन्त्र अथवा औषधि से किया गया है[6] । अथर्ववेद के सूक्त 9.5 में रोगों का वर्गीकरण निम्नवत किया गया है जो पाँच वर्गों में है–

1– वातज,(वायु) अभ्रज (जल), सुषमा (अग्नि)द्वारा उत्पन्न रोग जो वात, पित्त और कफ के कारण होते हैं ।

2– बुरी आत्माओं द्वारा उत्पन्न रोग ।

3– कृमि द्वारा उत्पन्न रोग ।

4– अभिचार द्वारा उत्पन्न रोग ।

5– वंशगत (क्षेत्रीय) रोग ।

अथर्ववेद में मुख्यतः निम्नलिखित व्याधियों की चर्चा है तक्मान[7] (ज्वर), आश्रव[8],

---

1. छान्दोग्य उपनिषद्, 4.16.2 स एतां त्रयी विद्यामभ्यतपत् ।
2. वृहदारण्यक उपनिषद्, समावतीय त्रयी विद्या तावत ह स जयति।
3. चरक संहिता, सूत्र स्थान, अध्याय–30,
4. सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान, पृ. 81
5. गिरिजा प्रसन्न मजूमदार, जेनिसिस ऑफ साइन्स ऑफ मेडिसन इन एन्शेन्ट इण्डिया, भारतीय विद्या, खण्ड–9, पृ.372–, 1948
6. वी. डब्लू करमबेलकर, अथर्ववेदिक सिविलाइजेशन, पृ.76
7. अथर्ववेद, 1.25, 5.4.22, 6.20, 7
8. अथर्ववेद, 1.2, 2.3, 6.44

मूत्रावरोध[1], नाड़ीव्रण [2] , जलोदर[3],कास[4],किलास [5] ,जायान्य[6] अपचित[7], बलास[8], हरिमा [9], हृद्यामा[1:0] इसके अतिरिक्त कुछ अन्य व्याधियों के वर्णन भी मिलते हैं– पलित, पापयक्ष्मा, अनुनात यक्ष्मा,उद्युग, विसर,पृष्ट्याम्य, हृदयोत् , अक्षत, पक्षाघात, हष्ना, अरिष्ट , अस्थिभंग, अंगज्वर, लोहित, रुधिरस्राव, विस्कन्ध और ग्राही इत्यादि ।

प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचलन वैदिक काल में था। रोग के कारण के रूप में जीवाणु का ज्ञान था[11] इस कारण सूर्य की कीटाणु नाशक शक्ति के रूप में मान्यता थी[12] और सूर्य के लिए कहा गया–आरोग्यं भास्करादिच्छेत् । अथर्ववेद में मन्त्र एवं औषधि का समन्वय दिखता है, रोग का निदान इन दोनों के द्वारा किया जाता था[13] । इन विशेषताओं का विस्तार कौशिक सूत्र में दीखता है जो अथर्वन् परम्परा[14] का ग्रन्थ है । अथर्ववेद में एतत् सम्बन्धी अनेक मन्त्रों उपकरणों का वर्णन है । इस सम्बन्ध में मणियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनमें देवत्व के आरोपण की चर्चा है । इस सम्बन्ध में एक मणि की चर्चा है जिसे इन्द्र ने बांधा था । वह अपने दो सींगो के द्वारा यातु को हानि पहुँचाता था (अ.वे.2.27,19.36.2) । यह ऋषियों और देवताओं का अस्त्र था (अ.वे.1.20, 11.4.4,4.10.2) इस प्रकार की चिकित्सा प्रचीन ईरान में भी प्रचलित थी । वेन्दिदाद में तीन प्रकार की चिकित्सा–पद्धति का निर्देश है, जिनमें एक "मंथ्र बयशज" (मंत्र भेषज) भी है[15] । अथर्वन् पुरोहित[16] भिषग होता था रुग्ण व्यक्ति का उपचार करता था, मणि बाँधता था तथा रोग एवं रोग सम्बन्धित आसुरी शक्ति को दूर करता था । वह अनेक वनस्पतियों

---

1. अथर्ववेद 1.3
2. अथर्ववेद 6.57
3. अथर्ववेद 1.10,6.22
4. अथर्ववेद 1.17, 6.12
5. अथर्ववेद 1.23,24
6. अथर्ववेद 7.76.2
7. अथर्ववेद 6.25.57
8. अथर्ववेद 6.14
9. अथर्ववेद 1.22, 6.24
10. अथर्ववेद 1.22
11. ज्योतिर् मित्र,डेवलपमेन्ट ऑफ मेडिकल साइन्सेज इन वैदिक इण्डिया, इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस बुलेटिन, 1968, पृ. 124–25
12. लक्ष्मीचन्द्र दीक्षित, अथर्ववेद में चिकित्सा विज्ञान,हिस्टॉरिकल एण्ड क्रिटिकल स्टडीज इन अथर्ववेद, पृ. 224
13. वी.डब्लू.करमबेलकर, अथर्ववेद एण्ड द आयुर्वेद, पृ–56
14. जे. जॉली, इण्डियन मेडिसिन, पृ–24
15. वेन्दिदाद– 20
16. वी.डब्लू. करमबेलकर, ब्राह्मण एण्ड पुरोहित, आई.एच.क्यू.खण्ड 26, सं. 4 पृ. 293

एवं उनके औषधीय गुणों का ज्ञाता था । कालान्तर में मंत्र औषधि से पृथक् होता गया और औषधि विज्ञान स्वतंत्र रूप में प्रभावी होता गया[1] । अथर्ववेद में पशु चिकित्सा का भी वर्णन है[2] ।

पौराणिक काल में भी भेषज की महत्ता से सम्बन्धित एक गाथा मिलती है । साम्ब, भविष्य इत्यादि पुराणों में एक गाथा मिलती है श्री कृष्ण पुत्र साम्ब से सम्बन्धित जिसमें साम्ब के कुष्ठ रोग से पीड़ित होने पर उनके इस रोग के निदान हेतु शाकद्वीप से पुरोहितों–भिषगों के बुलाये जाने का उल्लेख है । इन आहूत पुरोहितों ने साम्ब के रोग के निदान हेतु सूर्य मन्दिर में पूजा–अनुष्ठान किया जिससे साम्ब को आरोग्य लाभ हुआ । प्रकट में तो यह गाथा पूजा–कर्म हेतु पुरोहितों के बुलाये जाने से सम्बन्धित है किन्तु यह कथा उनकी महत्ता को द्योतित करने के लिए है । पूर्ववर्ती पृष्ठों में यह स्पष्ट हो चुका है कि मगों के कार्य–कलापों में भेषज का प्रयोग मुख्य था । उनका यह कर्म पारम्परिक था, ईसा के पश्चात् की शताब्दी में होने वाले रोमन लेखक प्लिनी ने मगों के भेषज का विस्तृत विवरण दिया है । प्लिनी[3] उन अनेक औषधियों की चर्चा करता है जो मागी समाज में लोकप्रिय थीं । मग भेषज से कालान्तर में भी सम्बद्ध रहे । 1809–10 में बिहार का सर्वेक्षण करने वाले ब्रिटिश अधिकारी बुचानन ने मगों के सम्बन्ध में अपनी पूर्णिया जिले की रिपोर्ट में प्रकाश डाला है । बुचानन[4] ने कुछ मगों की चर्चा की है जो भिषग थे । उनके पास कुछ लिखित निर्देश थे जिनके आधार पर वे चिकित्सा कार्य करते थे । भेषज सम्बन्धी इन पुस्तकों का प्रयोग समस्त ब्राह्मण वर्ग नहीं जानता था । बुचानन[5] ने साम्बाख्यान की चर्चा की है और कहा है कि साम्ब के बुलाने पर यहाँ आने के पश्चात् उन्होंने भेषज का उपयोग अन्य लोगों के लिए भी प्रारम्भ किया । बुचानन के अनुसार शाकद्वीपी तीन प्रकार के थे– बलनिया, पीठिया और चोंचिया । मगों को इन वर्गों में इसलिए विभाजित किया गया था क्योंकि इन कुलों के पूर्व पुरुष गरुड़ के सिर, पीठ तथा चोंच पर बैठा कर लाये गये थे । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मगपूर्व वैदिक काल से ही भेषज–विशेषज्ञ रहे हैं और उनकी यह विशेषता आधुनिक शताब्दियों में भी बनी रही है ।

अभिचार

ऋक् परम्परा से पृथक् एक परम्परा का परिज्ञान अथर्ववेद के अनेक सन्दर्भों से होता है । अथर्ववेद वस्तुतः यज्ञ–कर्म की अपेक्षा गृह्य विषयक कर्म से अधिक सम्बद्ध है और

---

1. बुद्धप्रकाश, साइन्स इन एनशेन्ट इण्डिया, वी.आई.जे. खण्ड-7, सं. 1-2, पृ. 149
2. कन्हैया जी सिंह. वैदिक युग में चिकित्सा, प्रज्ञा, खण्ड–16, सं.–2 पृ. 140
3. प्लिनी, नैचुरल हिस्ट्री, डब्ल्यू. एच. एस. जोन्स (संपादित), भूमिका पृ–19
4. फ्रांसिस बुचानन, ऐन अकाउन्ट ऑफ द डिस्ट्रीक्ट ऑफ पूर्णिया, पृ–184
5. तत्रैव, 9

इसका सम्पूर्ण अभिप्राय वेदोत्तर तत्वों का वैदिकीरण[1] है । अथर्वाङ्गिरस ऋषियों द्वारा परिदृष्ट मन्त्रों के इस संग्रह को अभिचार नियमों का कोश भी कहा जा सकता है ।

तिलक [2] ने अथर्ववेद के "सर्पविष नाशन सूक्त" (5.13) में प्रयुक्त कुछ शब्दों यथा– तैमात, उरुगुला, अलिगी, विलिगी, ताबुब इत्यादि को कैल्डयायी उत्पत्ति का माना है और उनके विचार में अथर्ववेद के आभिचारिक विवरण सेमेटिक प्रभाव से प्रभावित प्रतीत होते हैं । इसके अतिरिक्त जिसप्रकार के आभिचारिक प्रयोग अथर्ववेद में निर्दिष्ट हैं यथा मन्त्र द्वारा आधिभौतिक शक्तियों को बाँधने का प्रयोग ऐसे ही प्रयोग सुमेर, बेबीलोन की संस्कृति में प्रचलन में थे[3] और भेषज से सम्बन्धित थे ।उस काल में जब आर्य सभ्यता के सुमेर के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे[4] इस प्रकार का सांस्कृतिक आदान प्रदान असम्भव नहीं है किन्तु यह इतर विषय है और इस पर प्रसंगानुकूल विचार किया जाएगा । प्रस्तुत है मागी अभिचार की समीक्षा, अथर्ववेद जिसका आदि स्रोत प्रतीत होता है । अथर्ववेद जिसके प्रणेता भृग्वांगिरस ऋषि रहे हैं, यहाँ आंगिरस का अर्थ ही अभिचार माना गया है। कौषीतकि ब्राह्मण में आंगिरस का अर्थ अभिचार है, वहाँ[5] कुछ ऐसे उपकरणों का वर्णन है जो अभिचार से सम्बन्धित हैं ।

यहाँ वर्णित सम्भार आंगिरस (47.2) का अर्थ है अभिचार में प्रयुक्त होने वाले उपकरण। इसी तरह दण्ड आंगिरसाः (47.12) का अभिप्राय है आभिचारिक दण्ड एवं अंगिर आंगिरसो (14.30) है आभिचारिक अग्नि । अथर्ववेद का पाँचवां कल्प 'आंगिरस कल्प' के नाम से जाना जाता है । इसे 'अभिचार कल्प' भी कहा जाता है । कालान्तर में पुराणोंब में कहा गया कि आंगिरस मगों के चार वेदों में एक है । अन्य हैं वाद, विश्ववाद एवं विदुत।

ऋग्वेद[8] में आभिचारिक प्रयोग के संदर्भ तो हैं पर वे श्लाघ्य नहीं माने गये हैं । आभिचारिक प्रयोग उत्तर वैदिक यज्ञ–कर्मों में मान्य थे । शतपथ ब्राह्मण[9] में अश्वमेध

---

1. एन.एन.घोष, इण्डो–आर्यन लिटरेचर एण्ड कल्चर, पृ. 135
2. बी.जी. तिलक, कैल्डियन एण्ड इण्डियन वेदाज, आर.जी. भंडारकर कोमेमोरेशन वाल्यूम, 1917,पृ. 32
3. माग्रेट स्टूट्ली, एन्शेन्ट इण्डियन मैजिक एण्ड फॉक लोर, पृ–5, अजय लाहिड़ी इण्डियन एण्ड बेबीलोनियन डेमोनोलॉजी, वी.आई.जे.खण्ड–4, भाग–2, पृ. 187–197
   जे. फिलियोजेट, द क्लैसिकल डॉक्ट्रिन आफ इण्डियन मेडिसिन, डी.आर.चानना द्वारा अनुदित, पृ–275–277
4. बी.पी. सिन्हा, जे.बी.आर.एस., खण्ड–46,सं.1–4, पृ.267 एवं आगे
5. कौषीतकि ब्राह्मण, 47.2, 47.12,14.30
6. ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, इन्ट्रोडक्शन, सैक्रेड, खण्ड–42, पृ.–XIX
7. तत्रैव,पृ.–XX
8. ऋग्वेद, 7.104.15.16
9. शतपथ ब्राह्मण, 13.4.3.

से सम्बन्धित विवरण में असुरों के विरुद्ध अभिचार के प्रयोग का विधान है । अतः अभिचार के दो रूप प्रतीत होते हैं । एक वे जो वैदिक कर्म–काण्डों में मान्य थे और दूसरे वे जो अनिष्ट मूलक थे, "घोर"[1] थे एवं उनके लिये प्रत्यभिचार[2] की व्यवस्था की गयी । कालान्तर में भी आथर्वणिक प्रयोगों के निन्दनीय होने की मान्यता रही । बौद्ध–ग्रन्थों[3] में भी इनका निषेध किया गया ।

अथर्ववेद में यद्यपि पशु–बलि का विधान है किन्तु मानव–बलि का विवरण नहीं मिलता है जो स्पष्ट करता है कि अथर्ववेदीय विचार धारा स्लॉविक और ग्रीको रोमन विचार धारा की अपेक्षा अधिक मानवीय थी[4] अथर्ववेद में अनेक उपकरणों का वर्णन है जो विशुद्ध अभिचारिक प्रतीकत्व वाले हैं । अथर्ववेद का मेखला सूक्त(6.133) मेखला के अभिचारिक प्रतीकत्व की व्याख्या करता है, इस सूक्त का दूसरा मन्त्र मेखला को ऋषियों की अस्त्र रूपा मानता है जो अहुतियों से सिद्ध है[5] ।तीसरे मन्त्र में वध योग्य शत्रु को मेखला से बाँधने का उल्लेख है ।[6] चौथा मन्त्र मेखला को श्रद्धा की दुहिता बताता है[7] तथा पाँचवें और अन्तिम मन्त्र में कहा गया है कि दीर्घायुत्व के लिए मेखला को ऋषियों ने बाँधा था[8] । मेखला के अतिरिक्त अथर्ववेद[9] में एक और आभिचारिक उपकरण का संकेत है । कहा गया है–शतायु होने के लिए नौ प्राणों को नौसे संयुक्त करते है इसमें सुवर्ण, चांदी और सोने के तीन–तीन उष्णता से पूर्ण धागे हैं । पुनः तीन पुरिए[10] इस त्रिवृत में आश्रित हों पूषा देव घृत, दूध से इस कर्म की शुद्धि करें । इसे आदित्य धन से पूर्ण करें । हे अग्ने! वृद्धि को प्राप्त करते

---

1. गोपथ ब्राह्मण, 1.2.18
2. ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद इन्ट्रोडक्शन, सैक्रिड., खण्ड–42, पृ.XIX.
3. धम्मपद, सुत्तनिपात, सैक्रिड खण्ड–X, भाग–II, पृ.176
4. देविका भट्टाचार्य, ए कम्परेटिव स्टडी ऑफ द अथर्ववेदिक एण्ड इण्डोयूरोपियन ऑकल्ट प्रैक्टिसेज, जे.ओ.आई. खण्ड–26, संख्या–4, पृ.357
5. अथर्ववेद, 6.133.2 — आहुतास्य भिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
   पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ।।
6. अथर्ववेद, 6.133.3 — मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
   तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेशानयैन मेखलया सिनामि ।।
7. अथर्ववेद, 6.133.4 — श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वस ऋषीणां भृतकृतां बभूवा ।
   सा नो मेखले महिमा धेहि मेधामयो न धेहि तपे इन्द्रियं च ।।
8. अथर्ववेद, 6.133.5 — यां त्वा पुर्वे भूतकृत ऋषयः परिवेधिरे ।
   सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ।।
9. अथर्ववेद, 5.28.1 — नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
   हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठतानि ।।
10. अथर्ववेद, 5.28.3 — त्रयः पोषस्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन ।
   अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ।।

हुए तुम इसकी भी वृद्धि करो । हे इन्द्र इसे वीर्य युक्त करो, पोषक त्रिवृत इसका आश्रित[1] हों ।अथर्ववेद का एक पूरा सूक्त (5.28) इस मंत्र–पूत–तन्तु के लिए है जिसको बांधने के साथ दीघार्यु सफलता एवं समृद्धि की कामना की गयी है । कालान्तर में गृह्यसूत्रों में यज्ञोपवीत सूत्र के लिए एक मंत्र[2] प्रयुक्त हुआ है जो अथर्ववेद के पूर्वोक्त मन्त्रों से साम्य रखता है । निस्सन्देह, मन्त्र पुत–तन्तु का अथर्ववेदीय विवरण यज्ञोपवीत सूत्र का संकेत है जैसा कि विदित है मागी जन तन्त्र–मन्त्र अभिचार में निष्णात् होते थे । अभिचार उनकी मूल प्रवृत्तियों में था अतःआभिचारिक उपकरण के रूप में प्रयुक्त मेखला व मंत्र–सिक्त तन्तु एवं संस्कारों के रहस्यात्मक प्रतीक स्पष्टतः मागी प्रतीत होते हैं ।

अभिचार का दूसरा पक्ष घोर था, इनका प्रयोग प्रमुख्यतया शत्रु को हानि पहुंचाने के उद्देश्य से होता था[3] । इसमें प्रचलित क्रिया थी शत्रु की प्रतिमा बनाकर उसको मन्त्रयुक्त क्रिया से, जलाना या शस्त्र द्वारा मारना । अभिचार से सम्बधित अनेक उपकरणों का विवरण अथर्ववेद 5.31 में है जो "घोर" आभिचारिक क्रियाओं में प्रयोग में लायी जाती थीं[4]। इनमें मिट्टी का कच्चा पात्र विभिन्न प्रकार के अन्न, मुर्गा, बकरी, गधा विभिन्न प्रकार के पौधे इत्यादि । उत्तर वैदिक यज्ञ कर्मो में आभिचारिक क्रियायें मान्य प्रतीत होती हैं । शतपथ ब्राह्मण[5] में अश्वमेध से सम्बन्धित विवरण से असुरों के विरुद्ध अभिचार के प्रयोग का विधान है । संभव है कि आभिचारिक क्रियाओं की सफलता ही कारण रही हो जिससे प्रभावित होकर असुरों से आतंकित वैदिक समुदाय ने अनिच्छित रूप से ही उन क्रियाओं को अपने यज्ञीय अनुष्ठानों में सम्मिलित किया हो । किन्तु समाज में एक समानान्तर धारा भी थी जो अभिचार विरोधी थी, कालान्तर में बौद्ध,ग्रन्थों[6] में आथर्वणिक क्रियाओं का निषेध किया गया किन्तु मनु[7] ने तो इन्हें ब्राह्मणों के लिये अस्त्र–रुपा माना है । ये आभिचारिक प्रयोग मात्र ब्राह्मणों के लिये ही नहीं अपितु समस्त जन के लिये समान थे, अथर्ववेद के अनेक मंत्र प्रतिद्वन्दी या शत्रु को पराजित करने से सम्बन्धित हैं । परवर्ती काल में ये आभिचारिक क्रियायें दैनिक एवं सामाजिक जीवन में काफी महत्वपूर्ण हुयीं और यह

---

1. अथर्ववेद, 5.28.4 — इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय बावृधानः ।
   इममिन्द्र स सृज वीर्येणस्मिन् त्रिवृच्छ्रयता पोषयिष्णुः ।।
2. पारस्कर गृह्य सूत्र 2.2.13 — यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
   आयुष्यमग्नं प्रतिमुन्य शुभ्रं यज्ञोपवीत बलमस्तु तेजः ।।
3. बी. आर.मोदक मैजिक इन अथर्वेवेदिक लिटरेचर, जे. के.यू, खण्ड–13,1969 पृ.14
4. अथर्ववेद, 5.31.1, — यां ते चक्ररामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।
   आमे मांसे कृत्यां यां चकुः पुनः प्रति हरामि ताम् ।।
5. शतपथ ब्राह्मण 13.4.3.11
6. सैक्रिड. खण्ड 10 भाग–2 (धम्मपद सुत्त निपात),पृ.176
7. मनुस्मृति, 11.33

आवश्यक माना जाने लगा कि राजपुरोहित आभिचारिक क्रियाओं में दक्ष हों[1]। प्रस्तुत संदर्भ के दृष्टिकोण से महाभारत का एक प्रसंग महत्वपूर्ण प्रतीत होता है । महाभारत का कुन्ती–दुर्वासा प्रकरण, जिसमें दुर्वासा ऋषि ने कुन्ती को देवों के आवाहन के लिए मन्त्र का उपदेश दिया, एक स्थान पर वर्णन है– ब्राह्मण ने कुन्ती को उस मन्त्र–समूह का उपदेश दिया, जो अथर्ववेदीय उपनिषद् में प्रसिद्ध है[2] ।सम्भवतः यह भी कोई आभिचारिक विधान था, जिसके द्वारा कुन्ती ने सूर्य एवं अन्य देवों को आवाहित किया ।

कालान्तर में आभिचारिक क्रियायें मात्र तन्त्रों एवं भेषज तक सीमित रह गयीं जन सामान्य में उनका प्रयोग समाप्तप्राय होता गया ।

ज्योतिष

ब्रह्माण्ड के ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रों आदि को देखकर मनुष्य के मन में इनकेसम्बन्ध में जिज्ञासा सृष्टि के प्रारम्भ से ही चली आ रही है । अपनी इस जिज्ञासा के समाधान के लिए उसने विभिन्न उपायों और साधनों का प्रयोग किया । भारत इस दिशा में अग्रणी रहा है । यहाँ के ज्योतिर्विद आचार्य और मनीषीगण बड़े श्रम एवं साधना के साथ इन आकाशीय ज्योतिष–पिण्डों की गति मापने में सफल हुए ।

ऋग्वेद आदि अति प्राचीन ग्रन्थों के स्फुट् वाक्यांशों से आभास मिलता है कि उस समय ज्योतिष का ज्ञान था । यजुर्वेद में नक्षत्र दर्श[3] की चर्चा है तथा छान्दोग्य[4] उपनिषद् नक्षत्र विद्या का उल्लेख करता है । कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद में ग्रहण का उल्लेख होने की चर्चा की है[5] । इसके अतिरिक्त नक्षत्र सम्बन्धी ज्ञान अथर्ववेद[6] में भी मिलता है। अथर्ववेद[7] में उल्का और धूमकेतुओं की चर्चा भी मिलती है । तैत्तिरीय संहिता में भी ज्योतिष सम्बन्धी सन्दर्भ उपलब्ध है, एक स्थान पर कहा गया है कि सूर्य, पृथ्वी और आकाश को धारण करता[8] है । वैदिक ज्योतिष विज्ञान में चन्द्रमा समस्त नक्षत्र मण्डल का केन्द्र होता था[9]। ऋग्वेद में एक स्थान पर आया है "जो प्रतावलम्बन" करके अपने–अपने फलोत्पादक बारह महीनों

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.313 पुरोहितं प्रकुर्वीत देवज्ञमुदितोदितम् ।
   दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङि. रसे तथा ।।
2. महाभारत वनपर्व, 305.2
3. यजुर्वेद, 30.10
4. छान्दोग्य उपनिषद्, 7.1.2,7.1.4.7.2 ।
5. के.वी. शर्मा, एस्ट्रोनांमी इन इण्डिया–वेदिक पीरियड, पृ.–149, खण्ड –14, भाग–1, मार्च–1976
6. अथर्ववेद, 19.9,7
7. अथर्ववेद, 19,9,8–10
8. तैत्तरीय संहिता, 3.4.11
9. एल.सी.जैन, डिस्टिक्ट फीचर्स आफ इण्डियन ऐस्ट्रोनामी अप टू आर्य भट्ट ।, पृ.119, प्राच्य प्रतिभा, खण्ड–4 संख्या–2

को जानते हैं और उत्पन्न होने वाले तेरहवें मास को भी जानते हैं.... । इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदिक द्रष्टा एक अधिक मास जोड़कर वर्ष के भीतर ऋतुओं का समन्वय रखते थे[1]।

वैदिक साहित्य में ग्रहणों की भी चर्चा है किन्तु इसके कारणों का उनको कहाँ तक पता था इसका कोई भी संकेत कहीं विद्यमान नहीं है । एक स्थान[2] पर यह उल्लेख मिलता है–

यं वै सूर्य स्वभानुस्तमसा विध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविंदन्नहयन्ये अशक्नुवन् ।।

अर्थात् "जिस सूर्य को असुर को पुत्र स्वर्भानु ने अन्धकार में छिपा दिया था उसे अत्रि लोगों ने पा लिया यह शक्ति दूसरों में तो थी नहीं ।"इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः अत्रि के पुत्र ग्रहण की किसी प्रकार गणना कर सकते रहे होंगे और पहले से बता सकते रहे होंगे कि सूर्य ग्रहण का अंत कब होगा । वैदिक काल में ही ज्योतिष के विशेषज्ञ कुछ पृथक से हो गए थे । बाज़सनेयी संहिता (30.10) में लिखा है "प्रज्ञानाय नक्षत्र दर्श" अर्थात विशेष ज्ञान के लिए नक्षत्र दर्श के पास जाओ ।

वैदिक ज्योतिष से सम्बन्धित एक पुस्तक आज भी प्राप्य है । इसके दो पाठ मिलते हैं, एक ऋग्वेदीय ज्योतिष और दूसरा यजुर्वेद ज्योतिष । दोनों में विषय प्रायः एक से हैं पर श्लोकों की संख्या और क्रम में अन्तर है । वेदांग ज्योतिष का काल 1200 ई. पूर्व माना गया है।[3] यजुवेद ज्योतिष के चौथे श्लोक में ज्योतिष की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि वेदांगो में ज्योतिष सर्व श्रेष्ठ है ।

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।
तद्वद्वेदांग शास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम् ।।

अंतिम श्लोक में ज्योतिषी के लिए आशीर्वाद है–लिखा है "वह विद्वान जो चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्रों की गतियों को जानता है इस लोक में बाल बच्चे पाकर सुखी होगा। "वेदांग ज्योतिष में तिथि निर्धारण के तीन आधार होते थे, माह के लिए चन्द्रमा, सूर्योदय और सूर्यास्त के लिए सूर्य तथा ऋतु परिवर्तन व संवत्सर के लिए नक्षत्र[4] ।वैदिक काल में ज्योतिष की इतनी प्रतिष्ठा होने के पश्चात् भी बौद्ध काल में जीवन यापन के निषिद्ध साधनों में ज्योतिष को माना गया है । बौद्धकाल के पश्चात् मौर्य काल में ज्योतिष के अध्येताओं के लिए राज्याश्रय की व्यवस्था की गयी थी[1] । पुनः मनुस्मृति[2] में व्यवस्था है

1. गोरखप्रसाद, भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ.–6 बुद्ध प्रकाश, साइंस इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ. 147, वी.जाई.जे., खण्ड–7, 1969
2. गोरख प्रसाद,भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ–31
3. गोरख प्रसाद भारतीय ज्योतिष का इतिहास पृ.42
4. वाई कृष्ण, द ऐस्ट्रोनामिकल रिवोल्यूशन इन इण्डिया एबाउट ए.डी.,400 एण्ड इट्स इम्पलीकेशन्स, पृ.269, वी.आई जे., खण्ड–15,सं.–2

कि वह व्यक्ति जो हाथी, घोड़े और बैलों को प्रशिक्षण दे, ज्योतिष के द्वारा जीवन यापन करे, पक्षियों में रुचि रखे अथवा शस्त्र का प्रशिक्षण दे ऐसा व्यक्ति श्राद्ध में निमन्त्रित करने योग्य नहीं होता ।

उपर्युक्त आकलन यह संकेत करता है कि तत्कालीन समाज में दो विरोधी विचार प्रचलित थे जो परस्पर ज्योतिष के समर्थक और विरोधी थे । इन मतान्तरों का कारण क्या था यह विचारणीय हो सकता है । जैसा कि हम विचार कर चुके हैं ज्योतिष का प्रयोग मगों की मुख्य विशेषताओं में था । अतः यह प्रतीत होता है कि ज्योतिष के मगों से सम्बन्धित होने के कारण ही मगों की अन्य विशेषताओं यथा-भेषज, अभिचार की भाँति ज्योतिष का भी विरोध किया गया ।

ई. 400 के आसपास सांस्कृतिक स्थिति में प्रभूत परिवर्तन आया जो कि खगोल विद्या में भी दृष्टिगत होता है[3] । इस काल के पश्चात् अनेक ज्योतिर्विदों[4] आर्य भट्ट प्रथम, वराह मिहिर, श्रीषेण, कल्याण वर्मा, विष्णुचन्द्र, भास्कर प्रथम, ब्रह्मगुप्त, मुंजल, भट्टोत्पल, श्रीपति, महेश वर्मा, आर्य भट्ट द्वितीय तथा भास्कर आदि का प्रादुर्भाव हुआ किन्तु इनमें विशेष उल्लेखनीय है मग ज्योतिर्विद वराह मिहिर का योगदान । वराहमिहिर कृत वृहत्संहिता (2.2) में यह कहा गया है कि ऐसे क्षेत्र में न रहें जहाँ कुशल भविष्य वक्ता न रहता हो । भविष्य वक्ता राजा की आँख के समान होता है, वह जब तक उस क्षेत्र में रहता है तब तक किसी बुराई को अवसर नहीं प्राप्त होता है । वराह मिहिर ने वृहत् संहिता [5] में आगे लिखा है कि वह व्यक्ति जिसे भविष्य विज्ञान का पुस्तकों द्वारा पूर्ण ज्ञान है तथा जो इस विषय पर व्याख्यान दे सकता है वह व्यक्ति ब्राह्मणों में अग्रणी तथा सर्वोत्तम माना जाता है तथा श्राद्ध में बुलाने योग्य होता है । वराह मिहिर[6] के अनुसार ज्योतिर्विद का स्थान उसी प्रकार का होता है जैसा कि सूर्य का आकाश में अथवा चन्द्रमा का रात्रि में होता है । वराह मिहिर द्वारा की गयी ज्योतिष की यह प्रतिष्ठा मनु (पूर्वोद्धृत) के विपरीत थी। मारकण्डेय पुराण[7] के काल में भी कुल पुरोहित का त्रिकालज्ञ होना आवश्यक था ।

---

1. अर्थशास्त्र-12
2. मनुस्मृति, 3.162
3. वाई कृष्ण, पूर्वोक्त, पृ.265, वी.आई.जे. खण्ड-15,सं.-2
4. के.वी.शर्मा,साइंटिफिक बेसिस ऑफ इण्डियन ऐस्ट्रोलॉजी, पृ. 310, वी.आई.जे. खण्ड-14,सं.-2
5. वृहत् संहिता, 2.13
6. वृहत् संहिता, 2.8
7. नीलेश्वरी.वाई.देसाई, ग्लिम्पसेज फ्राम ऐस्ट्रोलॉजी एण्ड कीरोमैन्सी इन द मारकण्डेय पुराण, पृ.107, पुराणं, खण्ड-21,सं.2

वराहमिहिर ने अपनी पंच सिद्धान्तिका में उस काल में प्रचलित ज्योतिष के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को संग्रहित किया इनमें सूर्य सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्त, रोमक, वशिष्ट एवं पैतामह सिद्धान्त थे[1] । उपयुक्त सिद्धान्तों में सूर्य या सौर सिद्धान्त सर्वाधिक प्राचीन व महत्वपूर्ण था जिसका परिष्कार वराह मिहिर के द्वारा किया गया । यह एक प्राचीन सिद्धान्त था जिसके लेखक तथा काल का निर्धारण विवादास्पद रहा है[2] ।

सूर्य सिद्वान्त में इसकी उत्पत्ति से सम्बन्धित एक आकर्षक विवरण है । प्रारंभ के दूसरे श्लोक से नवें श्लोक तक इसकी उत्पत्ति का विवरण है जिसका सार इस प्रकार है– सत्य युग के कुछ शेष रहने पर मयनामक महा असुर ने सब वेदांगों में श्रेष्ठ सारे ज्योतिष्क पिण्डों की गतियों का कारण बताने वाले परम पवित्र और रहस्यमय उत्तम ज्ञान को जानने की इच्छा से कठिन तप करके सूर्य भगवान की आराधना की । उसकी तपस्या से संतुष्ट और प्रसन्न होकर सूर्य भगवान ने स्वयं, वर चाहने वाले मय को ग्रहों के चरित अर्थात् ज्योतिष शास्त्र का उपदेश दिया । भगवान सूर्य ने कहा कि तेरा भाव मुझे विदित हो गया है और तेरे तप से मैं बहुत संतुष्ट हूँ । मैं तुझे ग्रहों के महान चरित्र का उपदेश करता हूँ जिससे समय का ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। परन्तु मेरा तेज कोई सह नहीं सकता और उपदेश देने के लिए मुझे समय भी नहीं है इसलिए यह पुरुष जो मेरा अंश है तुझे भली भाँति उपदेश देगा।

इतना कहकर सूर्य भगवान अन्तर्ध्यान हो गए और सूर्यांश पुरुष ने, आदेशानुसार मय से जो विनीत भाव से झुके हुए थे कहा– एकाग्रचित्त होकर यह उत्तम ज्ञान सुनो जिसे भगवान सूर्य ने स्वयं समय समय पर महर्षियों से कहा था । भगवान सूर्य ने जिस शास्त्र का उपदेश दिया था वही आदि शास्त्र यह है, युगों के परिवर्तन से केवल काल में कुछ भेद पड़ गया है ।

इस प्रकार सूर्य सिद्धान्त देव वाणी है या यह कहना उचित रहेगा कि सूर्य वाणी है । ईसा पश्चात की शताब्दियों में यह प्रथा चल पड़ी थी कि सिद्धान्त या पुस्तक को देवताओं से सम्बन्धित कर दिया जाए । ऐसी पुस्तक या सिद्धान्त का संभवतः लोक प्रभाव अधिक होता था। इसी प्रकार मग भी अपनी उत्पति, अपने सिद्धान्तों को सूर्य से सम्बन्धित करने लगे थे । इस प्रकार के उदाहरण सूर्य द्वारा साम्ब को सूर्य पूजा का उपदेश तथा स्वयं मगों की उत्पत्ति सम्बन्धित विवरण में प्राप्त होते हैं तथा इस बात की प्रबल संभावना व्यक्त करते हैं कि यह एक मागी रचना है ।

---

1. सूर्य सिद्धान्त, बर्गेस भूमिका, पृ. 12, रिप्रिंट– 1977
2. प्रह्लाद सिंह, स्टोन आब्जर्वेटरीज इन इण्डिया, पृ.16

अध्याय–षष्ठ

मागी प्रभावः कला

मागी परम्परा के अनेक तत्व भारतीय कला विशेषतः सौर वास्तु रूप एवं सौर प्रतिमाओं में परिलक्षित हैं । विवेच्य प्रसंग में भारतीय कला में निहित मागी प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत है ।

सौरमन्दिर : पृष्ठभूमि

मयमत (11.1) के अनुसार देवताओं व ब्राह्मणों के निमित्त जो वास्तु संरचना होती थी वह वर्गाकार होती थी (भारतीय[1] स्थापत्य शास्त्र में मूलतः वर्गाकृति का ही विधान रहा है)। इस विधान के स्रोत ब्राह्मणों, सूत्रों में अस्तु वेदों में भी सुरक्षित हैं[2] । वस्तुतः भारतीय स्थापत्य में वर्गाकार व वृत्ताकार देव–स्थान का विधान वैदिक युग से ही, अग्निवेदिका के रूप में, अग्नि देव की अर्चा के निमित्त प्रचलित था । ब्राह्मण ग्रन्थों विशेषतः शतपथ ब्राह्मण में और शुल्ब–सूत्रों में इसकी परम्परा ज्ञातव्य है । ब्राह्मणों का समय लगभग 2000 ई. पूर्व और श्रौत–सूत्रों का रचना काल लगभग 2000–1500 ई. पूर्व माना जाता है । इस कालावधि में यज्ञीय कर्म–विधि का अभ्युदय हुआ था और इसी कालखण्ड में अग्नि–वेदिका का कर्मकाण्डीय ज्यामितिक प्रतीकत्व विकसित हुआ[3] । जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही संकेत किया, भारत में समस्त वास्तु–स्वरूपों में वर्गाकृति का ही विशेष महत्व रहा है । वृहत्संहिता में बराहमिहिर (जो मूलतः मागी थे) ने इस बात का सम्यक् निर्देश किया है कि आदिम मिथकीय चरित विश्वकर्मा (प्रजापति) ने किस प्रकार सर्वप्रथम इन्द्र–ध्वज को अंलकार प्रदान किया । देवराज इन्द्र का ध्वज विष्णु नारायण की अनुकम्पा से व्युत्पन्न हुआ जिसे सूर्य देव के अष्टचक्रीय रथ द्वारा ले जाया गया । सूर्य देव के रथ का ध्वज वस्तुतः

---

1. द्रष्टव्य नारद कृत वास्तु विधान (पाण्डुलिपि 1602 आड्यार लाइब्रेरी 8)– स्टेला क्रैमरिश, द्वारा उद्धृत दि हिन्दू टेम्पल्स, पृ 22;
2. बौधायन शुल्ब सूत्र, 1.22–28; आपस्तम्ब शुल्ब सूत्र–8.8.10, 11.1 विस्तार के लिए बी.बी.दत्त, दि साइंस ऑफ दि शुल्ब, पृ.55–62 देवस्थान की वर्गाकृत के प्रतीकत्व के लिए द्रष्टव्य स्टेला क्रैमरिशः तत्रैव, पृ. 22–28;
3. स्टेला क्रैमरिश, तत्रैव। इसमें दो राय नहीं कि पृथ्वी गोल है । वैदिक "वेदिका" पृथ्वी के प्रथित रूप (विस्तार) का प्रतिनिधित्व करती है । शतपथ ब्राह्मण (7.3.1.27) में कहा गया है कि "वेदि" है पृथ्वी लोक और उत्तर वेदि जो वर्गाकार है वह है स्वर्ग लोक। कालान्तर में हिन्दू मन्दिर की वर्गाकार वेदी पवित्र मानी गयी और पृथ्वी का वृत्ताकार स्वरूप पीछे छूट गया । विस्तार के लिए द्रष्टव्य, क्रैमरिश, तत्रैव, पृ.25.

धर्म–ध्वज था जो समस्त ब्रह्मांड का निमित्त कहा जा सकता है। देवताओं ने इस धर्म–ध्वज को विभिन्न अलंकार प्रदान किया था । विश्वकर्मा द्वारा प्रदत्त अलंकार वर्गाकार था । ब्रह्मा एवं शिव ने दूसरा उपहार दिया विचित्र मेखला के रूप में सम्वत्सर व काल की प्रतीक[1] ।

इस प्रकार भारतीय वास्तु–परम्परा में देवस्थान का वर्गाकृति स्वरूप पारम्परिक और प्रतीकत्व की दृष्टि से सृष्टि का मूल है । भारतीय वास्तु शास्त्र की विदुषी स्टेला क्रैमरिश के अनुसार भारतीय परम्परा में विश्व ने अपने भूगर्भ शास्त्रीय व सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप ही इसे अपनाया है तदनुसार मेरु–पर्वत का मूलाधार वर्गाकार है और चारो वर्णों का निवास इसी दिव्य पर्वत के चतुर्दिक् विहित है ।

वैदिक धर्म मुख्यतः प्रकृतिनिष्ठ धर्म था। अतः देवायतनों की उपस्थिति उस अर्थ में नहीं थी जिस अर्थ में कालान्तर में उनका विकास हुआ । वैदिक संस्कृति में पुरोहितों तथा क्षत्रियों के लिए धार्मिक स्थानों की आवश्यकता थी सम्भवतः श्रौत कर्मों (यज्ञीय कर्मों) के अनुष्ठान हेतु और तात्कालिक संदर्भ में वही देवायतन थे । उपनिषद कालीन ज्ञान मूलक दार्शनिक विचारधारा में भी मन्दिरों के विकास का स्थान न था । कालान्तर में भक्तिवाद[2] के अभ्युदय के फलस्वरूप मन्दिरों का निर्माण होने लगा । मौर्य काल में मन्दिरों का महत्व था और उनके नगर के महत्वपूर्ण स्थानों पर निर्माण कराये जाने की प्रथा थी । अर्थशास्त्र[3] में एक स्थान पर अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, विजयन्त के उपासना–स्थलों तथा शिव अश्विनद्वय, वैश्रवण, लक्ष्मी एवं मदिरा देवी के मन्दिरों का नगर के मध्य में निर्माण कराये जाने का उल्लेख है । देवालय का निर्माण करवाना एक पुनीत कार्य माना जाता था । इससे व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती थी तथा वह स्वर्ग–प्राप्ति का अधिकारी समझा जाता था । ऐसी मान्यता प्रचलित थी कि अनेक यज्ञों के फल एवं अनेक लोक के कार्यों के पुण्य के बराबर एक मन्दिर के निर्माण का फल होता है । शताब्दियों तक मन्दिरों का निर्माण भक्तिभाव से इस उद्देश्य के साथ किया गया कि निर्माण कर्ता को स्वर्ग की प्राप्ति हो । पर्सी ब्राउन[4] के मत में मन्दिर जन सामान्य की धार्मिक चेतना, अभिरुचि तथा श्रद्धा का बोध कराते हैं । उपलब्ध मन्दिर लोगों की धार्मिक प्रवृत्ति का वस्तुनिष्ठ रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं ।

---

1. बृहत्संहिता (42.6 पर भाष्य) के अनुसार आठ पहियों वाला रथ तीन घण्टों वाले आठ यामों में विभक्त दिन (दिवारात्रों) का प्रतीक है । विष्णु पुराण (II.8.4) के अनुसार रथ संवत्सर स्वरूप है और इसका धर्म–ध्वज । इस सन्दर्भ में मत्स्य–पुराण और भविष्य पुराण भी द्रष्टव्य है । विस्तार के लिए क्रैमरिश–तत्रैव, पृ. 40 एवं आगे ।
2. वासुदेव उपाध्याय, भारतीय स्तूप गुहाएवं मन्दिर, पृ. 195
3. अर्थशास्त्र 2–4 ....शिव वैश्रवणाश्विन श्री मदिरा गृंह च पुरमध्ये कारयेत्।
4. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्कीटेक्चर, पृ.1

भारतीय परम्परा में सूर्य–मन्दिरों के निर्माण का प्रचलन, प्रारम्भ में नहीं था। सम्भवतः इसीलिए अर्थशास्त्र की सूची में सूर्य–मन्दिर का उल्लेख नहीं है । सूर्य चूंकि प्रत्यक्ष देव है अतः इनकी प्रतिमा या मन्दिर की आवश्यकता नहीं हुई और लोक में इनकी मण्डल–पूजा अर्थात् अर्घ्यदान एवं सवितृ–मंत्र– पाठ की परम्परा ही प्रचलित रही । मागी प्रभाव के संक्रमण के दूसरे तीसरे चरण के फलस्वरूप सूर्य–पूजकों का भी संघ विकसित हुआ और तत्कालीन समाज में प्रचलित अन्य धार्मिक मतों के समानान्तर सौर मत को स्थापित करने के लिए प्रतिमा एवं मन्दिर के निर्माण का प्रचलन हुआ । सूर्य मन्दिरों के निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिए मागी शास्त्रों व पुराणों में सूर्य मन्दिर की वास्तुगत विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया एवं अन्य अनेक आकर्षक नियम बनाये गए । भविष्य पुराण[1] के अनुसार इष्टापूर्ति कर्मों के द्वारा अर्थात् यज्ञ–कर्मों के सम्पादन अथवा कुआँ खोदवाने से जिन फलों की प्राप्ति होती है उन सबकी प्राप्ति देवालय के निर्माण से हो सकती है । प्लूटार्क[2] के विवरण सिकन्दर काल(चतुर्थ शताब्दी ई. पूर्व) में भारतीय सीमावर्ती प्रदेशों में सूर्य–मन्दिरों की सूचना देते हैं । इस विवरण के आधार पर ऐसा माना जा सकता है कि सूर्य मन्दिरों की परम्परा चौथी शती ई. पूर्व तक प्राचीन है और मन्दिर निर्माण की पूर्व परम्परा की भाँति उनका निर्माण ऐसे साधनों से होता था(सम्भवतः काष्ठ) जो कालान्तर में नष्ट होते गए ।

सूर्य का प्रचीनतम ज्ञात मन्दिर तक्षशिला[3](जाण्डियाल चित्र सं.4) का है जिसका काल सम्भवतः पार्थियन[4] शासन काल है । यूनानी यात्री फिलोस्ट्रैटस(जो लगभग ४४ ई. में भारत आया था)के वृतान्त में भी इस मन्दिर की चर्चा है । फिलोस्ट्रैटस इण्डो–पार्थियन शासक "गोण्डोफर"के शासन काल में तक्षशिला आयाथा । फिलोस्ट्रैटस[5] के विवरण के अनुसार यह मन्दिर नगर के बाहर स्थित था । संगमरमर के बने हुए इस मन्दिर में मुख्य आराधना स्थल अथवा गर्भगृह तथा अनेक स्तम्भों से युक्त परिक्रमा–पथ या बरामदा था । नगर के उत्तरी प्रवेश द्वार पर स्थित इस मन्दिर में उत्तर से आने वाले यात्री प्रायः विश्राम किया करते थे । तक्षशिला के उत्खनन में इस मन्दिर के अवशेष भी प्राप्त हुए है जिनका विस्तृत विवरण मार्शल ने अपनी "रिपोर्ट"में दिया है (मार्शल–तक्षशिला, वाल्यूम–1) तक्षशिला के मन्दिर की वास्तु योजना पर स्पष्ट रूप से ईरानी प्रभाव है । इसकी समस्त संरचना ईरानी अग्न्यास्थान[6] (अग्नि–मन्दिर) के समान है । इस प्रकार के आयदन

---

1. भविष्य पुराण, 1.130.9

   इष्टापूर्त्तेन लभते लोकांस्तांश्च विभूषितान् ।
   देवानामालयं कार्यद्वयं यत्र च दृश्यते ।।

2. ए.कनिंघम, क्वायंश ऑफ द इन्डो–सीथियन्स, शकाज एण्ड कुषानाज, पृ. 23
3. सर जॉन मार्शल, तक्षशिला, खण्ड–1, पृ.222 एवं आगे
4. बी. रोलैण्ड, द आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया, पृ.87
5. बी.एन.पुरी, इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई अर्ली ग्रीक राइटर्स पृ. 146–148
6. आर.ए. जयराजबॉय, फाइन इन्फलूएंस इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ. 153

(अग्निस्थान) सूसा के उत्खनन से प्राप्त हो चुके हैं । जिनका काल लगभग ई.पू. 405 से 358 के मध्य है ।

दूसरा महत्वपूर्ण सूर्य–मन्दिर जिसकी चर्चा साहित्य में शेष है, मुल्तान[1] अथवा मूल स्थान का था । इसका निर्माण सम्भवतः ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में हुआ था । इसकी चर्चा चीनी यात्री हवेन्सांग तथा अलबेरुनी इत्यादि अनेक अरब यात्रियों ने अपने वृतान्तों में की है । यह मन्दिर मुगल काल तक अस्तित्व में रहा और अन्ततः औरंगजेब द्वारा ध्वस्त करा दिया गया ।

प्राचीन सूर्य मन्दिरों का एक संक्षिप्त विवरण

विभिन्न राजवंशों के अभिलेखों में सूर्य मंन्दिरों का उल्लेख मिलता है ।कनिंघम[2] ने ग्वालियर में सूर्य–कुण्ड और उसके तट पर एक सूर्य मंन्दिर का उल्लेख किया है ।

कनिंघम के विचार से यह मन्दिर वहाँ के एक स्थानीय शासक पशुपति के शासन काल (275–300 ई.) में निर्मित हुआ था । 437–438ई. के कुमार गुप्त प्रथम और बन्धु वर्मन के मन्द सौर[3] अभिलेख में दीप्तरश्मि के मन्दिर (सूर्य मन्दिर) का उल्लेख है । इस मन्दिर की भव्यता के सम्बन्ध में अभिलेख का कहना है कि "ये आकाश को स्पर्श करने वाला था" । यह मन्दिर रेशम की बुनाई करने वाले बुनकरों के एक संघ के द्वारा बनवाया गया था । बुनकरों का यह संघ गुजरात के लाट विषय का निवासी था जो कालान्तर में मन्दसौर में रहने लगा था । हूण शासक मिहिरकुल[4] के शासन काल के पन्द्रहवें वर्ष से सम्बन्धित ग्वालियर अभिलेख से एक सूर्य–मन्दिर की सूचना मिलती है ।

गुप्त काल के एक और मन्दिर की सूचना इन्दौर[5] से प्राप्त होने वाले एक दान–पत्र से मिलती है । 466 ई. का यह लेख स्कन्दगुप्त के काल से सम्बन्धित है । यह दान देव विष्णु नामक ब्राह्मण को सूर्य–मन्दिर में दीप जलाने के लिए दिया गया था ।

महाराष्ट्र के थाना जिले में मानपुर (वर्तमान मनोर)[6] से प्राप्त चालुक्य शासक मंगलेश्वर के एक लेख में वहां स्थित सूर्य–मन्दिर की मरम्मत एवं उसकी व्यवस्था के लिए ग्रामदान का उल्लेख है । इस लेख का काल 691 ई. है । यहां का सूर्य–मन्दिर उक्त अभिलेख से अवश्य ही प्रचीन रहा होगा क्योंकि 691 में उसके जीर्णोद्धार की चर्चा है ।

---

1. मुल्तान के मंन्दिर की विस्तृत चर्चा पुस्तक के परिशिष्ट दो में की गयी है
2. ए. कनिंघम, ए.एस.आई.आर. खण्ड–2(1862–65)पृ.342
3. डी .सी. सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिपशन्स,पृ.289 एवं 297; एच.डी. सांकलिया , आर्कियोलॉजी ऑफ गुजरात, पृ.212
4. एच.डी. भट्टाचार्य , क्लासिकल एज, पृ.437
5. डी .सी. सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ. 310–31 ।
6. कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इन्डिकेरम्, खण्ड–4,भाग–1

चितौड़ [1] से प्राप्त मानभंग नामक नरेश के एक लेख से सूचना मिलती है कि उसने एक सूर्य–मन्दिर का निर्माण करवाया था।

इस लेख का काल आठवीं शती ई. है । अब यह मन्दिर काली मन्दिर के रूप में ख्यात है किन्तु इसके साथ का सूर्य–कुण्ड आज भी सती–कुण्ड कहलाता है ।

महाराष्ट्र के उदुम्बरमती नामक स्थान पर एक सूर्य मन्दिर होने की चर्चा है जो राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम के काल में निर्मित हुआ था । इसकी सूचना कृष्ण प्रथम के एक लेख दान से प्राप्त होती है[2] ।

गंग नरेश[3] राजेन्द्र वर्मन के एक लेख (799 ई.) में ग्राम–दान का उल्लेख है जो सूर्य–मन्दिर के निमित्त था । यह लेख आन्ध्र प्रदेश (शालन्तरी) से प्राप्त हुआ है ।

नागपुर के पास रघोली नामक गाँव से शैल वंशीय जयवर्धन द्वितीय[4] का (आठवीं शती ई.) एक लेख प्राप्त है जिसमें इस क्षेत्र में स्थित सूर्य–मन्दिर के लिए दान की व्यवस्था है।

कतिपुर(जिला भड़ौच, गुजरात) नामक से जयभट्ट[5] II ने एक सूर्य–मन्दिर का निर्माण करवाया था । इस मन्दिर की मरम्मत गुजरात राष्ट्रकूट शाखा गोविन्द द्वारा 827 ई. में करवायी गयी थी । चाहमान इन्द्रराज[6] द्वारा घोण्टारसी में बनवाये गए एक सूर्य–मन्दिर की अभिलेखिक सूचना है। यह मन्दिर नौवीं शताब्दी में निर्मित हुआ था ।

धौलपुर[7] में एक सूर्य–मन्दिर के अस्तित्व सम्बन्धी आभिलेखिक साक्ष्य प्राप्त हैं जिसके अनुसार लगभग नौवीं शताब्दी तक यह मन्दिर अस्तित्व में रहा ।

आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर[8] जिले से प्राप्त 844–45 ई. के एक लेख में चालुक्य शासक विजयादित्य के द्वारा सूर्य–मन्दिर को दान दिये जाने का उल्लेख है।

---

1. अर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट (1934–35) पृ.56–57
2. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–14, संख्या–6, पृ.126
   उदुम्बरमन्ति पत्तने कारितादित्यायतन भट्टारकाय
3. जर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, खण्ड–18,पृ.115–119
4. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–9, पृ. 42–45
5. इण्डियन एन्टिक्वेरी, खण्ड–5, पृ.144 एवं आगे
6. एपिग्रैफ्रिया इण्डिका, खण्ड–14, पृ. 182
7. एल.पी.पाण्डेय, सनवर्शिप इन इन्शेन्ट इण्डिया, पृ. 232
8. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–19, पृ. 272–75

चालुक्य वंश के बलबर्मन ने (ई. 892) नक्सिसपुर में स्थित सूर्य–तरुणादित्य के मन्दिर को ग्राम दान[1] दिया था कुछ काल पश्चात् 899 ई. में बल वर्मन के पुत्र अवनि वर्मन के द्वारा उसी सूर्य मन्दिर को एक अन्य ग्राम भी दान में दिया गया ।

महाराष्ट्र के थाना जिले के भदन[2] नाम स्थान से महामण्डलेश्वर अपराजित देव का एक दान पत्र प्राप्त हुआ है जिसमें सूर्य–लोनादित्य के मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए दिये गये दान का उल्लेख है । यह लेख शक संवत 919 (919 + 78 = 997 ई.) का है । इस मंदिर के पुरोहित भोजक ब्राह्मण थे जो उस क्षेत्र में रहा करते थे । ग्यारहवीं शती के बसन्त गढ़ [3] (राजस्थान) से प्राप्त परमार नरेश पूर्णपाल के एक लेख से वहां सूर्य मन्दिर होने की सूचना मिलती है । इस मंन्दिर का जीर्णोंद्धार राजा की विधवा बहन ने कराया था तथा वहाँ एक सरोवर का भी निर्माण करवाया था ।भण्डारकर ने इस मंन्दिर को सातवीं शती का माना है । इसी रानी के द्वारा बाटपुर में भी एक मन्दिर बनवाने का उल्लेख है[4] ।

महाराष्ट्र के कोल्हापुर जिले के ब्रह्मपुरी[5] नामक स्थान पर एक सूर्य मन्दिर होने की सूचना है, जिसे कोडिटामात्य मैलप्पय्य ने ग्यारहवीं शताब्दी में बनवाया था ।

महाराष्ट्र के कुण्डिपत्तन[6] में एक अन्य सूर्य मन्दिर था, जिसका निर्माता महासामन्त निम्बदेवरस था । इस मन्दिर की तिथि 1136 ई. है ।

आन्ध्रप्रदेश के वारंगल[7] जिले के अनम कोंड से प्राप्त एक लेख से सूचना मिलती है कि काकतीय वंश के शासक रुद्रदेव ने अपनी राजधानी अनमकोंडपुर में रुद्र, विष्णु एवं रवि के मन्दिर बनवाये थे तथा उनकी व्यवस्था के लिए मत्ति चेरुवल नामक गाँव दान में दिया था । इस लेख की तिथि 1162–63 ई. है ।

सोनपुर, उड़ीसा से प्राप्त एक लेख[8] से सूचना मिलती है कि श्रेष्ठियों के एक संघ ने सूर्य एवं विष्णु के मन्दिरों के जीर्णोद्धार के लिए ग्रामदान दिया था ।

सोरो[9] (फतीहबाद के पास, उड़ीसा) में एक प्राचीन सूर्य मन्दिर के अवशेष हैं । यह स्थान मग ब्राह्मणों का प्राचीन निवास स्थान भी रहा है।

---

1. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–9, उना प्लेट्स, पृ. 1–4
2. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–3, पृ.274
3. एल.पी. पाण्डेय, सनवर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ. 223
4. तत्रैव ।
5. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–23, पृ–29
6. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–19, पृ.35
7. इण्डियन एन्टिक्वेरी खण्ड–11, संस्कृत एण्ड ओल्ड कनारिज इन्सक्रिप्शन्स, सनवर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.264 में एल.पी.पाण्डेय द्वारा उद्धृत ।
8. एपिग्रैफिया इन्डिका, खण्ड–23, पृ. 249–255
9. एस.एन. **राय**, स्टडीज इन फॉक्लोर, जे.ओ.बी.आर.एस., 1926, पृ.303

गया[1] में भी प्राचीन सूर्य मन्दिर एवं सूर्य कुण्ड होने की सूचना मिलती है ।

गोविन्दपुर [2] (नवादा जिला, बिहार) से प्राप्त बारहवीं शताब्दी के एक लेख में भारद्वाज गोत्र के एक मग ब्राह्मण का उल्लेख है जिसने सूर्य मन्दिर के निकट एक सूर्य कुण्ड बनवाया था ।

उत्तर गुप्त शासकों का देव वरणार्क[3] अभिलेख वहां एक सूर्य मन्दिर होने की सूचना देता है।

उपर्युक्त आभिलेखिक साक्ष्यों के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों से सूर्य की अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जो स्वयं प्रमाण हैं उस स्थान पर मन्दिर होने के । उपर्युक्त आकलन यह भी स्पष्ट करता है कि बारहवीं–तेरहवीं शती तक मागी सूर्य–पूजा का विस्तार लगभग सम्पूर्ण भारत में हो चुका था ।

सौर मन्दिर–निर्माण : स्थापत्य शास्त्रीय अवधारणाएँ

सूर्य–मन्दिरों के आभिलेखिक विवरण के पश्चात् सूर्य मन्दिरों की पारम्परिक रचना अथवा सूर्य मन्दिरों की रचना के पारम्परिक सिद्धात पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है । ध्यातव्य है कि मागी प्रभाव के प्रसार के दूसरे चरण की पहचान के विशेष लक्षणों के रूप में सूर्य–पूजा थी । मगों के लिए यह नवीन नहीं था क्योंकि वे थे मिथ्र के उपासक औरि मिथ्र था सूर्य का ईरानी रूपान्तर मिह = मिहिर । मागी प्रभाव की तीसरी धारा से इन सूर्य–पूजकों के सम्प्रदाय को स्पष्ट पहचान मिली और कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में नवीन युग का सूत्रपात हुआ ।

मगों ने अपने प्रभाव में अपने सिद्धान्तों के अनुरूप सूर्य–प्रतिमाओं और सूर्य–मन्दिरों के निर्माण का प्रारम्भ किया । भविष्य पुराण नाना विषयों पर मागी विचारों का संग्रह है तदनुरूप इसमें शिल्प सम्बन्धी नियमों का भी संकलन है । सूर्य–मन्दिर एवं प्रतिमा के निर्माण से सम्बन्धित विषयों पर इसमें विचार किया गया है । भविष्य पुराण के अतिरिक्त साम्ब पुराण एवं वृहत्संहिता भी मागी विचारों के संकलन कहे जा सकते हैं । प्रस्तुत है सूर्य मन्दिर के निमार्ण से सम्बन्धित मागी नियमों का एक संक्षिप्त विवेचन–

मन्दिर के निर्माण हेतु उपयुक्त स्थान का निर्धार अधिक महत्व रखता था साथ ही भूमि की प्रकृति भी ध्यातव्य होती थी । इस सम्बन्ध में भविष्य पुराण[4] का कथन है कि

1. ए. कनिंघम, ए.एस.आई.आर. (1862–1864–65) खण्ड–1,पृ. 3
2. ए. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड–2,पृ.338
3. ए.कनिंघम, ए.एस.आई.आर.,खण्ड–16(1880–81) पृ. 70–78
4. भविष्य पुराण 1.130.43 शर्करातुष केशास्थिक्षारांगार विवर्जिता । इसके अतिरिक्त पुराण–29.8 में भी इसकी चर्चा है ।

जिस स्थान पर कोयला, बाल, हड्डी इत्यादि मिले, वह स्थान मन्दिर के निर्माण हेतु निरापद नहीं है । इसके विपरीत वह स्थान जहाँ सभी प्रकार के बीज जीवित रहें एवं जहां खोदने पर मेघ–गर्जन की ध्वनि हो, उपयुक्त स्थान है[1] । मत्स्य पुराण भी भूमि–परीक्षण के लिए बीज बोने का विधान करता है, यदि इन बीजों के अंकुरण में तीन,पांच व सात दिन लगें तो भूमि क्रमशः उत्तम, मध्यम और निम्न मानी जानी चाहिए । भविष्य पुराण[2] एक अन्य विधि का भी विवरण देता है जो वृहत्संहिता[3] में भी वर्णित है ।

यथा निर्धारित भूमि में एक हाथ लम्बा,चौड़ा, गहरा गड्ढा खोद कर उसे खोदी गयी मिट्टी से पुनः भरें यदि गड्ढा भर जाए और मिट्टी शेष रहे तो भूमि उत्तम, मिट्टी बराबर रहे तो मध्यम तथा मिट्टी कम हो जाए तो भूमि निम्न होती है । मानसार[4] के अनुसार वह भूमि मन्दिर–निर्माण के योग्य नहीं है जो गोलाकार, अर्ध गोलाकार, त्रिशूल की आकृति की,मछली, हाथी या कूर्म के पृष्ठ भाग जैसी या गाय के मुख के समान हो अथवा जिस भूमि में अस्थि, पत्थर, कृमि, चीटियों के विवर या कीचड़ युक्त हो अथवा गलित काष्ठ, कोयला, खण्डहर, गड्ढे, खपरीला, अन्न की भूसी (अवशेष), चूना, तेल, शहद एवं अन्य त्याज्य पदार्थों से युक्त हो, मन्दिर बनाने योग्य नहीं है । भविष्य पुराण[5] और वृहत्संहिता[6] में भवन (मन्दिर) वास्तु के बीस प्रकारों की चर्चा है । भवन–वास्तु के ये प्रकार कालान्तर में अन्य वास्तु सिद्धान्तकारों द्वारा (विश्वकर्मा प्रकाश–6.82.107 समरांगण सूत्रधार 63.1–34) भी वर्णित किये गये। भविष्य पुराण[7] एवं साम्ब पुराण (29.15.16) में सूर्य के पंचायतन प्रकार के मन्दिर का प्रारम्भिक स्वरूप विद्यमान है । विवरण है कि सूर्य मन्दिर के उत्तर पूर्व तथा पश्चिम दिशा में क्रमशः शिव, ब्रह्मा व विष्णु के मन्दिर बनाये जाने चाहिए। कालान्तर में जब् पचायतन मन्दिरों का विकास हुआ तो उपयुक्त चारों देवताओं के स्थान एक ही मन्दिर में बनाये जाने लगे । भविष्यपुराण सूर्य–मन्दिर के पूर्वाभिमुख अथवा यदि

---

1. भविष्य पुराण, 1.130.43 मेघ दुंदुभि निर्घोषा सर्वबीज प्ररोहिणी ।द्रष्टव्य साम्ब पुराण 29.9
2. भविष्य पुराण, 1.130.47 समे समगुणा ज्ञेया हीने हीन गुणा भवेत ।
   वधमाने तु वै पांसो भवेद् वृद्धि करो क्षितिः ।।

   तुलनीय साम्ब पुराण, 29.11.12
3. वृहत्संहिता, 53.92– गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपरितं पुनःश्वभ्रम ।
   मद्यूनमनिष्टं तत्समे समं धन्यमधिकं यत् ।।
4. पी .के.आचार्य, द आर्किटेक्चर ऑफ मानसार,पृ.18
5. भविष्य पुराण, 130
6. वृहत्संहिता, अध्याय–56
7. भविष्य पुराण, 1.130.49–50 उदड़ मुखं भवेच्छंभोमातृणां गृहमेव च ।
   ब्रह्मा पश्चिमतः स्थापयो विष्णुरुत्तर तस्तथा ।।

ऐसा सम्भव न हो तब पश्चिम की तरफ होने का विधान करता है ।मन्दिर के दक्षिण सूर्य–कुण्ड तथा उत्तर की ओर अग्निहोत्र[1] स्थान होना चाहिए । सूर्य मन्दिर से दाहिनी[2] तरफ निक्षुभा एवं बायीं तरफ राज्ञी का स्थान बनाना चहिए । इसी भांति पिंगल का स्थान दाहिनी तरफ तथा दण्डनायक का स्थान बायीं तरफ होना चाहिए । श्री व महाश्वेता के पूजा–स्थल सूर्य मन्दिर के सम्मुख बनाये जाने चाहिए ।अश्विद्वय, राज्ञ, स्रौश, कल्मष, माथ्र, कुबेर, रेवन्त एवं विनायक के पूजा–स्थल विभिन्न दिशाओं में बनाने चाहिए । मन्दिर [3] के दोनों ओर (दाहिने एंव बायें) दो मण्डप प्रातःएवं सायंकालीन अर्घ्य के लिए निर्मित होने चाहिए दाहिनी[4] ओर के मण्डप में सूर्य का प्रातः कालीन तथा बायीं ओर के मण्डप में सूर्य के सायंकालीन अर्घ्य का सम्पादन होना चाहिए । सूर्यमन्दिर के निकट एक स्थान पुराण[5] के वाचन हेतु निर्मित किया जाना चहिए । मन्दिर में आगमों में वर्णित नियमों के आधार पर निर्मित सूर्य प्रतिमा अन्य ग्रहों के मध्य में पूर्वाभिमुख स्थापित होनी चाहिए। प्रतिमा विभिन्न रंग के वस्त्रों एवं पुष्पों से सज्जित हो । सूर्य का रथ एक चक्र वाला हो तथा उसमें सात अश्व जुते हों । सारथी रूप में अरुण हों ।

स्टेला क्रैमरिश[6] के अनुसार सूर्य की प्रतिमा मुख्य मन्दिर में स्थापित की जानी चाहिए । पार्श्व के मंन्दिरों में दण्ड और पिंगल या शनि और यम अथवा केशव (विष्णु) और शिव की स्थापना होनी चाहिए । इसके अतिरिक्त सहायक देवों के रूप में देवों यथा–चन्द्र, इन्द्र, काम, यम, वरुण और कुबेर की स्थापना की जानी चहिए ।

वास्तु शास्त्रीय नियमों के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि सूर्य–मन्दिर में सूर्य कुल के देवों के साथ सूर्य की प्रतिमा ही स्थापित हो । सूर्य के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु व शिव की प्रतिमा भी स्थापित की जा सकती है । पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु व शिव को सूर्य के विभिन्न रूपों में वर्णित किया गया है । इस प्रकार के मन्दिर के उदाहरण पुरातत्व में प्राप्त

---

1. भविष्य पुराण, 1.130.49 — भवनादीक्षणे पार्श्रे रवेः स्नानगृहं भवेत् ।
   अग्निहोत्र गृहं कार्य खेरुत्तरतः शुभम् ।।साम्ब पुराण 29.14.15
2. भविष्यपुराण, 1.130.50 — निषस्तु दक्षिणे बामे राज्ञी प्रकीर्तिता । साम्ब पुराण 29.16
3. विष्य पुराण, 1.130.55 — यत्र वा विद्यते स्थानं दिक्षु सर्वा गुहादयः ।
   द्वे मण्डलेऽर्ध्य दानार्थ कार्ये सव्यापसव्यतः ।।
4. भविष्य पुराण, 1.130.56 — दद्यादुदयवेलायामर्ध सूर्याय दक्षिणे ।
   उत्तरे मण्डले दद्यादर्ध्यमस्तने रवेः । ।
5. भविष्य पुराण, 1.130.62 — देवस्य पुरतः कार्य व्योमस्थानं समीपतः ।
   पुस्तकवाचनस्थानमथ वा यत्र रोचते ।।
6. स्टेला क्रैमरिश, हिन्दू टेम्पल, खण्ड–2, पृ.422–23

है । कोसर[1] (गुजरात) से प्राप्त सूर्य मन्दिर में सूर्य कुल के देवों के साथ ब्रह्मा, विष्णु व शिव की प्रतिमा स्थापित थी ।

सूर्य मन्दिर[2] में ध्वज स्थापित होने का भी विधान किया गया है । ध्वज–स्तम्भ प्रमाण की दृष्टि से मन्दिर के बराबर ऊँचाई का होना चाहिए । पताका का बाँस वही बनाना चाहिए जो सीधा एवं चिन्ह रहित हो । ध्वजाग्र में देवता की सूचना[3] देने वाले उसके वाहन की आकृति स्वर्ण, रजत अथवा मणि रत्नों से अलंकृत होनी चाहिए ।

ध्वजा पर व्योम[4] का चिन्ह होना चाहिए । तदनन्तर सविधि समस्त औषधियों से ध्वज को स्नान कराकर मध्य मंगल सूत्र बाँधना चहिए । पवित्र बेदी बनाकर मंगल कलशों से युक्त वेदी पर ध्वज को स्थापित करक्रे वहीं रात्रि शयन[5] करना चाहिए । नाना प्रकार के पुष्पों और मालाओं को ध्वज में लटका देना चाहिए तथा सविधि पूजा करके धूपादि देना चाहिए ।

सूर्य मंदिर से सम्बन्धित भविष्यपुराण के विवरण में कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हैं–

1. **सूर्य मन्दिर के पूर्वाभिमुख होने का विधान** – सूर्य मन्दिरों के निर्माण में इस नियम का पालन किया गया और अधिकांश सूर्य–मन्दिर पूर्वाभिमुख ही निर्मित हुए । इस विधान के मूल में उदित होते हुए सूर्य–रश्मियों के द्वारा मन्दिरों में प्रतिस्थापित प्रतिमा का प्रथम अभिषेक ही रहा होगा ।

2. **सूर्य मन्दिरों में अग्निहोत्र स्थान की अनिवार्यता**– सूर्य–मन्दिरों में अग्नि की उपासना मध्येशियायी मागी लक्षणों का स्मरण कराता है ।

3. **सूर्य मन्दिर में विष्णु, शिव व ब्रह्मा के पूजा–स्थल का विधान**– इसी नियम पर कालान्तर में पंचायतन मन्दिर का विकास हुआ । इस नियम के प्रतिपादन का मुख्य उद्देश्य अन्य मतों (शैव,वैष्णव एवं शाक्त) के समर्थकों का सूर्य–पूजा हेतु प्रोत्साहित करना अथवा सर्व धर्म समन्वय की भावना रही होगी । ऐसा प्रतीत होता है कि पंचायतन मन्दिरों की अवधारणा मागी मत में सम्भवतः बौद्ध परम्परा

---

1. आर.के. अरोरा, हिस्टारिकल एण्ड कल्चरल डाटा फ्राम द भविष्य पुराण, पृ. 193
2. साम्ब पुराण, 33.2 कृतान्यु परिचिन्हानिवाहनानि शुभानि तु
3. साम्ब पुराण, 33.6 ध्वजाग्रेचापि कर्त्तव्यो देवतालिंगसूचकः ।
   कान्चनोवाथ रौप्यौ वा मणि रत्नमयोपिवा ।।
4. साम्ब पुराण, 33.7 ब्राह्मणः पंकज कार्यरवेर्व्योस्मृतोध्वजे ।।
5. साम्बपुराण, 33.12 कल्पयित्वा शुभावेदी कलशैस्यशोभिताम् ।
   तस्या वेद्या समारोप्यतां रात्रिमधिवासयेत् ।।

से ग्रहण की गयी है । पेशावर[1] (पुरुषपुर) के बौद्ध चैत्य में पंच स्तूपों की परम्परा दिखायी देती है । इसी प्रकार नालन्दा[2] का मुख्य चैत्य भी उसी परम्परा में है। अस्तु बौद्ध पंचस्तूप की शैली का विकास ही पंचायतन में परिणत हुआ प्रतीत होता है।

4. **सूर्य कुण्ड की परम्परा–प्रायः प्रत्येक सूर्य** – मन्दिर के परिसर में एक जल कुण्ड का निर्माण किया जाता था । सम्भवतः कुण्ड की अनिवार्यता भविष्य पुराण के उस नियम पर आधारित थी जहाँ यह विधान किया गया है कि सूर्य का स्नान स्थान मन्दिर के दक्षिण तरफ होना चाहिए ।

5. **सभामण्डप की परम्परा** – सूर्य मन्दिर की एक और विशेषता जो आठवीं शताब्दी के पश्चाद्वर्ती मन्दिरों में देखने की मिलती है, वह है सभा मंडप, मुख्य मन्दिर से पृथक् एक संरचना का निर्माण सूर्य मन्दिरों में किया जाता था(चित्र 5, 6, 7 कोर्णाक मोढ़ेरा, मार्तण्ड)इनका उपयोग सूर्य से सम्बन्धित कर्मकाण्डों के सम्पादन, पुराणों के वाचन, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, नाटयत्सवों इत्यादि में किया जाता रहा होगा। इस सन्दर्भ में भवभूति से सम्बन्धित एक प्रसंग का उल्लेख समीचीन होगा । भवभूति के तीनों नाटकों का मंचन कालप्रिय नाथ मन्दिर(सूर्य–मन्दिर) के परिसर में सूर्य दर्शन हेतु आए तीर्थ–यात्रियों के सम्मुख हुआ था । कालप्रिय नाथ मन्दिर (वर्तमान कालपी, उत्तर प्रदेश) की अब स्मृति शेष है किन्तु प्रतीत होता है कि इस प्रकार की संरचना वहाँ भी अवश्य रही होगी ।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त सूर्य–मन्दिरों का विकास अन्य देवों के मन्दिरों की भाँति ही विभिन्न शैलियों के अन्तर्गत व देश काल के अनुरूप हुआ ।

प्रमुख सौर मन्दिर

प्रस्तुत है कुछ प्रमुख सूर्य मन्दिरों का कालक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण जो स्पष्ट करता है मन्दिर निर्माण–शैली के क्रमिक विकास को गोप–(चित्र सं. 8 काठियावाड़) के सूर्य मन्दिर की तिथि छठवीं शताब्दी है[3] । शिखर युक्त इस मन्दिर की कुल ऊँचाई 23 फीट है । यह मन्दिर[4] दोहरे चबूतरे पर निर्मित है जिसमें ऊपर चबूतरे का व्यास छोटा है । मन्दिर की दीवारें लम्बवत् खड़ी हैं और सर्वथा अकृत हैं । मन्दिर की दीवार के अन्तिम छोर पर कार्निस है जिस पर सीढ़ीनुमा छत की बनावट है । छत के अन्तिम सिरे पर गुम्बद है । सिरे सीढ़ीदार भाग पर दो चैत्यनुमा मेहराब निर्मित हैं । चैत्यनुमा मेहराब

---

1. देबाला मित्र, बुद्धिस्ट मॉन्युमेन्ट्स, पृ.88
2. तत्रैव, पृ. 119
3. ए.के. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ. 82
4. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर, पृ. 251

की बनावट सुन्दर है और अलंकृत है । कुमारस्वामी[1] इसे कश्मीर के मार्तण्ड मन्दिर केसदृश देखकर इस मन्दिर पर कश्मीरी कला का प्रभाव मानते हैं । किन्तु सांकलिया[2] दोनों मन्दिरों को गांधार के बौद्ध–बिहारों से प्रभावित मानते हैं । अतः दोनों के प्रभाव–स्रोत एक होने से समानता सम्भव हो सकती है ।

पलेठी–गढ़वाल जनपद (उत्तर प्रदेश) के पलेठी ग्राम में स्थित इस पूर्ण मन्दिर[3] का काल सातवीं शताब्दी है । पलेठी में यद्यपि देवमन्दिरों का समूह है किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण यहाँ का सूर्य या भानु मन्दिर ही है । सम्भवतः इसी मंदिर के कारण भागीरथी के निकटवर्ती क्षेत्र को भाष्कर क्षेत्र कहा गया है । यह मन्दिर लगभग 7.5 मीटर ऊँचा है । इसकी तलछन्द योजना में सामान्य वर्गाकार गर्भगृह के सामने आयताकार अन्तराल निर्मित किया गया है । इनकी भीतरी दीवारें सर्वथा सादी हैं । वितान भी सादे ही बनाये गए है । भीतर से 1.72x1.72 मीटर और बाहर से 3.46x3.46 मीटर माप वाले गर्भ गृह की पश्चिमी दीवार से सटा कर सामने से 1.30 मीटर लम्बी भीतर की ओर 0.70 मीटर चौड़ी और 0.52 मीटर ऊँची पीठिका बनायी गयी है । इसके ऊपर सूर्य की एक विशाल प्रस्तर–प्रतिमा प्रतिस्थापित है । इसके अतिरिक्त गर्भ गृह में कुछ अन्य खण्डित पाषाण प्रतिमाएँ भी है। अन्तराल बाहर से 2.22 मीटर चौड़ा और 0.87 मीटर बाहर की ओर निकला हुआ है । भीतर से यही माप क्रमशः 0.96 मीटर और 0.33 मीटर है ।

मन्दिर की ऊर्ध्व छन्द योजना में नीचे खुर, कुम्भ और अन्तर्पत्र से सज्जित वेदी–बन्ध बनाकर उसके ऊपर सादा जंघा–भाग निर्मित किया गया है । जंघा के ऊपर एक एक कर क्रमशः ऊपर की ओर, छोटे होते जाते बारह सादे क्षैतिज पीढ़ों के मध्य ग्यारह अन्तर्पत्र छोड़ कर सज्जित किया गया पीढ़ा, देउल शैली का रेखा–शिखर शोभायमान है । उत्तराखण्ड के ऐसे ही अन्य मन्दिरों के अनुरूप इसका शीर्ष भी एक बड़ी और सुगढ़ आमल सारिका द्वारा सुसज्जित है । मन्दिर का पूर्वाभिमुख त्रिशाखीय प्रवेश द्वार गुप्त कालीन देवालयों के कलात्मक प्रवेश द्वारों के समान है । इस सन्दर्भ में यह देवगढ़ के सुविख्यात दशावतार मन्दिर के प्रवेश द्वार से तुलनीय है ।

मार्तण्ड मन्दिर– (चित्र संख्या 9) यह मन्दिर अनन्त नाग (कश्मीर) से पांच किलोमीटर दूर एक सुरम्य घाटी में स्थित है[4] । प्राचीर से घिरे प्रांगण में मुख्य देवालय निर्मित है ।

1. ए.के कुमारस्वामी, तत्रैव
2. एच.डी. सांकलिया, आर्कियोलाजी ऑफ गुजरात, पृ.57–59
3. राकेश तिवारी, पलेठी के प्राचीन देवालय, ध्यानम, 1982, अंक–2 पृ.31–42
4. वी.सी. श्रीवास्तव, सनवर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ. 325–28

उसका निर्माण सम्राट ललितादित्य ने आठवीं शताब्दी में कराया था । इस मन्दिर में गर्भगृह[1] के चारों ओर स्तम्भ युक्त बरामदा है । इसके स्तम्भों का प्रकार यूनानी स्तम्भों का स्मरण कराता है । कश्मीरी प्रकार के अन्य मन्दिरों से यह मन्दिर अपने विन्यास में थोड़ा भिन्न है । मुख्य मन्दिर[2] के सम्मुख किन्तु इससे पृथक् एक मंडप है जिसके दोनों पार्श्व में दो कक्ष हैं । सम्भवतः यह वास्तु–रूप सूर्य से सम्बन्धित कर्मकाण्डों के सम्पादन हेतु था। इस संरचना का विकसित रूप मोढ़ेरा एवं कोणार्क के मन्दिरों में विद्यमान है। यद्यपि यह मन्दिर ध्वस्त है फिर भी इसकी दीवारों में बने हुए अलंकृत ताखे इसकी भव्यता का बोध कराते हैं । फरगुसन के अनुसार इस मन्दिर की छत काष्ठ–विनिर्मित थी जिसका आकार पिरामिड के समान था[3] । कुछ विद्वानों के अनुसार इस मन्दिर की संरचना में विदेशी प्रभाव विद्यमान है ।[4]

ओसिया– (चित्र सं.10) मध्य प्रदेश में खजुराहो के पूर्व मध्ययुगीन मन्दिर समूह की तरह राजस्थान में ओसिया के मन्दिर भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । ओसिया जोधपुर से उत्तर पश्चिम में 56 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है । खजुराहो की तरह ही यहाँ भी ब्राह्मण और जैन मन्दिरों का समूह दिखाई देता है । ओसिया[5] के सूर्य मन्दिर का काल लगभग 850 ई. है। ओसिया के सूर्य–मन्दिर का वैशिष्ट्य इसका पंचायतन प्रकार है[6] । इस मन्दिर की मूल योजना में स्तम्भ एवं तोरण का समावेश संगठित रूप में किया गया है । सूर्य मन्दिर की बनावट में स्थानीय अन्य मन्दिरों से भिन्नता है । इसमें एक मंडप की वृद्धि हुई है । इस मंडप में स्तम्भ युक्त खुला कक्ष है जिसके आगे छत में ढाल है और सामने ड्योढ़ी है । इसमें अलंकृत तोरण है जिसमें खुले अर्द्ध मंडप सभा एवं गर्भ गृह की ओर रास्ता जाता है । ओसिया के मन्दिरों के दरवाजों में कलाकारों ने अपनी कल्पना तथा कुशलता का परिचय दिया है । द्वार के ऊपरी चौखट नवग्रह की आकृतियों से सुशोभित हैं । दरवाजे के दोनों पार्श्व–चौखटों के ऊपरी कोने में गंगायमुना की आकृतियाँ बनी हैं । सम्भवतः उत्तर गुप्त काल से यह शैली अपनाई गई और देवियों की प्रतिमाओं को ऊपरी कोने में स्थान दिया गया।

---

1. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर, पृ.–256
2. पर्सी ब्राउन, इण्डियन एण्ड इस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ.,190–91
3. जे फरगुसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इस्टर्न आर्किटेक्चर, खण्ड–1,पृष्ठ–261
4. एस.के.सरस्वती, द स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृ.635
5. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ. 139
6. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर, पृ.241–43

मोढेरा- (चित्र सं. 11) मोढेरा या मोधेंरा (गुजरात) का सूर्य -मन्दिर वास्तु का उत्कृष्ट उदाहरण है । इसका काल लगभग 1026 ई. है[1] । इस मन्दिर में शुभ मंडप या सभा मंडप गुप्त मंडप या गूढ़ मंडप तथा गर्भ गृह है ।

गर्भ गृह एवं गूढ़ मंडप एक साथ हैं किन्तु सभा मंडप मुख्य मन्दिर से पृथक् संरचना है । मन्दिर परिसर में एक विशाल सूर्यकुण्ड है जिसे आजकल रामकुण्ड[2] कहते है । मन्दिर का वाह्यभाग अलंकृत है किन्तु भीतरी गलियारा अपेक्षाकृत सादा है । गर्भगृह भी पार्यप्त अलंकृत है[3] और सभा मंडप के स्तम्भ भी पर्याप्त अलंकृत हैं । उसी से गूढ़ मंडप होकर मध्य वीथी में प्रवेश किया जाता है जिसकी आलंकारिक क्रिया धूमिल हो गई है । द्वार-तोरण पर सूर्य की प्रतिमा है ।

कोणार्क (चित्र संख्या 12) उड़ीसा की स्थापत्य-कला की सबसे बड़ी उपलब्धि कोणार्क का सूर्य मन्दिर[4] है । यह मन्दिर गंग वंशीय शासक नरसिंह देव प्रथम केशासन काल में लगभग 1250 ई. में निर्मित हुआ । शक संवत 1225 से सम्बन्धित नरसिंह देव द्वितीय यका या एक ताम्रपत्र [5] परगना असंखाली (जिला मयूरभंज, उड़ीसा) से प्राप्त हुआ है । इस ताम्रपत्र में नरसिंह देव प्रथम के द्वारा कोंकण में सूर्य कुटीरक के निर्माण का उल्लेख है । कोणार्क मन्दिर की कल्पना सूर्य के रथ के रूप में की गयी है । तदनुसार मन्दिर के अधिष्ठान पर रथ के बारह पहियों एवं सात घोड़ों का अंकन है । एक गाथा[6] के अनुसार नरसिंह देव ने इसका निर्माण कुष्ठ से मुक्त होने के उपलक्ष्य में कराया था । इस मन्दिर में उड़ीसा शैली के मन्दिरों के चारों भाग गर्भ गृह (देवल), जगमोहन, नट मन्दिर तथा भोग मंडप विद्यमान थे ।

देवल तथा जगमोहन ऊँचे चबूतरे पर निर्मित हैं । इसका समग्र आकार पहिए सहित बहुशः अलंकृत है । अपनी सीमाओं में इसका अलंकृत वास्तु रूप शैली की दृष्टि से आश्चर्य का विषय है । देवल[7] नष्ट हो गया है किन्तु जगमोहन के ऊपरी भाग में पिरामिड जैसी छत है । मन्दिर की वाह्य भित्ति पर विविध मूर्ति शिल्प उट्टंकित है । मन्दिर के विभिन्न शिला फलकों पर नरसिंह देव वर्मन से सम्बन्धित अनेक दृश्यों का संयोजन[8] है ।

---

1. पर्सी ब्राउन , तत्रैव, पृ.-145-46
2. वी.सी.श्रीवास्तव, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.331
   एल.पी.पाण्डेय, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, 247-48
3. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर, पृ.250-51
4. कोणार्क से सम्बन्धित अन्य विवरण प्रस्तुत के परिशिष्ट में दिए जा चके हैं ।
5. एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड-31, पृ.111
6. रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला, पृ. 231, 1978 ।
7. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ.129
8. रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्ति कला, पृ.231

इन दृश्यों में राजा की सभा, उसके द्वारा विभिन्न देवताओं की पूजा, उसका योद्धा, वेश एवं राजकाज में व्यस्त उसकी मुद्रा अंकित की गयी है । मन्दिर की तीन तरफ की प्रेक्षणिकाओं में सूर्य की तीन विशालकाय प्रतिमाएँ स्थापित हैं । इन समस्त अंकनों के अतिरिक्त गीत–संगीत सम्बन्धी अंकन भी अत्यन्त मनोहर हैं । इन मूर्तियों के यथार्थ पर प्रकाश डालते हुए डा. रमानाथ मिश्र के विचार समीचीन प्रतीत होते हैं । उनके शब्दों में "ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ताल अथवा स्वर की एक ध्वनि को शिल्पियों ने अकस्मात इन मूर्तियों की संगीत लय में शाश्वत कर दिया हो"[1] ।

उपर्युक्त वर्णित मन्दिरों के अतिरिक्त कुछ अन्य मन्दिर[2] भी हैं जिनमें अल्मोड़ा का सूर्य मन्दिर, देवलास का विशाल मन्दिर, गया का दक्षिणार्क मन्दिर, अयोध्या, सहनियाँ (टिकमगढ़) के मन्दिर, जयपुर के गलता जी , कटारमल (अल्मोड़ा), रणकपुर का सूर्य मन्दिर खजराहो तथा कुम्भकोणम् के मन्दिर प्रमुख हैं ।

सौर प्रतिमाएं

शास्त्रीय पृष्ठभूमि

भविष्य पुराण[3] में सात प्रकार की सूर्य–प्रतिमाओं का वर्णन है यहाँ स्वर्ण, रज़त, ताम्र, मृत्तिका प्रस्तर, काष्ठ एवं अष्टधातु की प्रतिमा बनाये जाने का विधान है । प्रतिमाओं के प्रकार के अनुसार उनके फलों का भी विचार है[4] । काष्ठ–दीर्घायु, सम्पन्नता मृत्तिका–सुख ऐश्वर्य , रत्न–समृद्धि, स्वर्ण–आरोग्य, रजत–प्रसिद्धि ताम्र–सन्तति, प्रस्तर–विजय, सम्पन्नता । सूर्य–प्रतिमा की अनेक कोटियों के विधानों के पश्चात् भी पुराणकार ने भविष्य पुराणमें सिर्फकाष्ठ–प्रतिमा के निर्माण पर विस्तृत प्रकाश डाला है । इस सम्बध में यह महत्वपूर्ण है कि वृक्ष काटने से लेकर प्रतिमा बनने तक शुद्धता का ध्यान रखा जाए। ज्योतिषी द्वारा निर्धारित शुभ मूहूर्त में पूजा–विधानों के सम्पादन के पश्चात् व्यक्ति प्रतिमा–निर्माण हेतु वृक्ष काटने वन में जाता था । ऐसे वृक्ष जो पतले हों, जो मन्दिर के परिसर में हो या श्मशान में हो या जिस पर पक्षी शरण लेते हों या वैसे वृक्ष जिन्हें आंधी, आग, विद्युत और हाथियों द्वारा क्षति पहुंची हो अथवा जिनमें एक या दो शाखाएं हों या जिनका एक भाग सूख गया हो या जो दुर्गन्ध युक्त हो या दूसरे वृक्षों के गिरने से क्षतिग्रस्त

---

1. तत्रैव
2. श्री सावलिया बिहारी लाल वर्मा, कल्याण, संख्या–1, 1979
3. भविष्य पुराण 1.131.2.3 कांचनी राजती तामी पार्थिवी शैलजा स्मृता ।
   वार्क्षी चालेख्यका चेति मूर्तिस्थानानि सप्त वै ।।
4. भविष्य पुराण 1.131.5–8

हुए हों या जिन्हें काटने से घी , मधु, तेल या रक्त निकलता हो इस प्रकार के वृक्ष प्रतिमा बनाने के लिए अनुपयुक्त होते हैं ।

प्रतिमा के लिए काष्ठ उत्तम प्रकार का होना चहिए । वृक्षों में चन्दन, देवदारु, बिल्व, निम्ब, रवदिर, श्रीपर्ण, अर्जुन इत्यादि का निर्देश[1] है । वृहत्संहिता (अध्याय-58) में दिये गए विवरण भी भविष्य पुराण के विवरण के समान है । भविष्य पुराण में 84 अंगुल की प्रतिमा उत्तम मानी गयी है । पुराण के अनुसार मुखाकृति के तृतीयांश चिबुक (ठुड्डी) तथा शेष भाग में नाक एवं ललाट होना चाहिए । आंख की लम्बाई दो अंगुल हो, नाक तथा गले की लम्बाई समान हो । बाहु,अग्रवाहु, पैर तथा जंघा की लम्बाई समान हो । पैरों की लम्बाई छः अंगुल तथा चौड़ाई पांच अंगुल हो । स्कन्ध, वक्ष, जंघा, ललाट, नाक तथा कपोल उन्नत होने चाहिए । मुखाकृति कमल के समान हो । देवता के सिर पर मुकुट व कानों में रत्नजटित कुण्डल होने चाहिए । प्रतिमा अव्यंग युक्त होनी चाहिए तथा प्रतिमा के वस्त्र उत्तरी क्षेत्र में प्रचलित (उदीच्य) वस्त्रों के समान होने चाहिए । देवता का शरीर पैर से वक्ष पर्यन्त आवृत होना चाहिए तथा देवता के हाथों में सनाल कमल सुशोभित होने चाहिए। यदि प्रतिमा एक हाथ माप की है तो वह सौम्या होती है, दो हाथ लम्बाई वाली प्रतिमा धनधान्यदा तथा तीन व चार हाथ की प्रतिमाएँ शुभ क्षेमकरी कही गई है[2] । सूर्य रथ एक चक्र वाला तथा सात अश्वों से युक्त होना चाहिए । सूर्य के दक्षिण पार्श्व में निक्षुभ एवं वाम पार्श्व में राज्ञी की प्रतिमा बनानी चाहिए । सूर्य के अनुचरों पिंगल व दण्ड का भी अंकन यथा स्थान होना चाहिए ।

साम्ब पुराण[3] में भी सूर्य की प्रतिमा-निर्माण सम्बन्धी विषय पर विचार किया गया है । समस्त विवरण भविष्य पुराण के समान है । मत्स्य पुराण[4] सूर्य की प्रतिमा निर्माण शैली पर विचार करते हुए विवरण देता है ।सूर्य की प्रतिमा एक चक्र युक्त रथ पर आसीन होनी चाहिए जिसमें सात अश्व जुते हों और देवता के सिर पर मुकुट हो । प्रतिमा के कंधे तक उठे हुए हाथों में कमल हो तथा प्रतिमा के वस्त्र उत्तरी क्षेत्र में प्रचलित वस्त्रों की भाँति

---

1. भविष्य पुराण 1.131.10-11

   मधूको देवदारुश्च वृक्षराजश्च चन्दनः ।
   बिल्वश्चाम्रातकश्चैव खदिरोथान्जनस्तथा । ।
   विम्बः श्री पर्ण वृक्षश्च पनसः सरलोर्ज्जुनः ।
   रक्त चन्दन पर्यन्ताः श्रेष्ठाः स्युः प्रतिमाद्रमाः । ।

2. द्रष्टव्य, परिशिष्ट 4
3. साम्ब पुराण-अध्याय-31
4. मत्स्य पुराण-अध्याय-261

हों । अंशुमदभेदागम तथा सुप्रभेदागम[1] के अनुसार सूर्य की मूर्ति दो हाथों वाली होनी चाहिए तथा दोनों हाथों में कमल होने चाहिए । इनमें ऐसा विवरण है कि हाथों की ऊँचाई कंधे तक हो । सूर्य के सिर पर मुकुट होना चाहिए तथा प्रतिमा के द्वारा धारण किया गया वस्त्र लाल रंग का होना चाहिए। देवता के प्रभामण्डल का भलीभांति अंकन होना चाहिए । प्रतिमा के कानों में रत्न जटिल कुण्डल और गले में हार होना चाहिए । प्रतिमा के वस्त्र उत्तरी भारत में प्रचलित वस्त्रों की भांति होने चाहिए । यज्ञोपवीत का अंकन होना चाहिए। सूर्य-प्रतिमा पद्म-पीठिका पर स्थापित हो अथवा सप्ताश्वों से युक्त एक चक्रीय रथ पर आसीन हो । सारथि रूप में अरुण हों तथा सूर्य के दाहिनी तरफ ऊषा एवं बायीं तरफ प्रत्यूषा का अंकन होना चाहिए। वृहत्संहिता[2] के अनुसार सूर्य की प्रतिमा की नासिका, ललाट, जंघा, उरु, गाल और वक्ष उन्नत हों । वेश उत्तरी क्षेत्र में प्रचलित वस्त्रों से पैर से लेकर वक्ष तक आवृत हो, हाथों में कमल हो, सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार, कमलोदर के समान मुख कान्ति, कंचुक से आच्छादित शरीर, ईषद् हास्य युक्त प्रसन्न मुख और रत्नों से दीप्यमान प्रभामण्डल होना चाहिए।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण[3] में भी सूर्य-प्रतिमा-निर्माण पर विचार किया गया है । इसके अनुसार देवता के चार हाथ होने चाहिए। देवता का शरीर कवच से आवृत्त होना चहिए । दण्ड नायक दण्ड के साथ सूर्य के बायें तथा पिंगल लेखनी पत्रक सहित सूर्य के दाहिने होने चाहिए । देवता के चार पुत्र-यम, रेवन्त और दो मनु देवता के पास बनाये जाने चाहिए। देवता कीचार पत्नियां राज्ञी, निक्षुभा, छाया तथा सुवर्चसा का भी अंकन होना चाहिए । देवता को सप्ताश्व युक्त रथ पर स्थित होना चाहिए जिसके सारथी रूप में अरुण हों ।

उपर्युक्त समस्त विवरण उत्तर भारतीय शैली की सूर्य-प्रतिमाओं के दृष्टिगत होते है। इस प्रकार लक्षणों की विशिष्टता के आधार पर सूर्य-प्रतिमाओं की दो शैलियाँ स्पष्ट होती हैं- उत्तर भारतीय तथा दक्षिण भारतीय । दक्षिण भारतीय[4] शैली की प्रतिमाओं (चित्र सं. 13) में निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं-प्रतिमाओं के हाथ कंधे तक उठे रहते थें जिनमें अर्द्ध विकसित कमल पुष्प होते थे । प्रतिमाओं में उदर बन्ध का अंकन होता था तथा सूर्य के पदयुग्म स्पष्ट बनाये जाते थे । प्रतिमा के सिर पर किरीट मुकुट तथा प्रभा मण्डल का अकंन होता था। सातवीं शताब्दी की गुडीमल्लम से प्राप्त एक प्रतिमा में सूर्य नंगे पैर बनाए गए हैं । इसमें अश्व नहीं हैं किन्तु अरुण का अंकन है । देवता के हाथ कंधे तक उठे हुए हैं जिनमें कमल कलिकाएँ हैं ।

---

1. गोपीनाथ राव, एलिमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, खण्ड-1, भाग-2 पृ.306
2. वृहत्संहिता 58.46-48
3. विष्णु धर्मोत्तर पुराण 3.67.2-17
4. गोपीनाथ राव, एलिमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्रोग्राफी, खण्ड-1,भाग-2, पृ. 311-12

कलाविदों की राय में सूर्य की दक्षिण भारतीय प्रतिमाएँ भारतीय प्रभाव में बनी किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता । द्वितीय शताब्दी ई. में दक्षिण भारत में मगों की उपस्थिति की सूचना टॉलमी से मिलती है। अतः दक्षिण भारत में सूर्य की मूर्ति–पूजा के प्रेरक अवश्य ही मग थे और सूर्य–प्रतिमाओं के निर्माण के मूल में निस्सन्देह सम्प्रदाय वाद की आवधारणा रही होगी । उत्तर तथा दक्षिण भारतीय सूर्य –प्रतिमाओं की शैली गत भिन्नता का कारण उनका दो सुदूर प्रान्तों में विकास हो सकता है । दक्षिण के कलाकार कुषाण प्रभाव से मुक्त थे अतः उनके सम्मुख प्रतिमान भी पृथक् थे । इसलिए दक्षिण में जो प्रतिमाएँ बनीं वे भारतीय मान्यताओं के अधिक निकट थीं । दक्षिण भारतीय शिल्प शास्त्रों[1] में सूर्य–प्रतिमाओं के लिए उत्तर भारतीय प्रकार के वस्त्रों का विधान है । यह विचारणीय हो सकता है कि यदि दक्षिण भारतीय प्रतिमा शैली विशुद्ध भारतीय शैली थी तो फिर उसमें दक्षिण भारतीय शैली के वस्त्रों का निर्देश किया जाना चाहिए था ।

कतिपय मागी प्रतिमान

यद्यपि सूर्य के अंकन का प्रारम्भ मागी प्रभाव के अन्तर्गत ही हुआ फिर भी अधिकतर प्रतिमान वैदिक थे । कालान्तर में कुषाण काल से जब सूर्य प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो प्रतिमान्रों में भी परिवर्तन हुआ । प्रस्तुत है कुछ ऐसे प्रतिमानों का परिचय जिन्हें मागी माना जाता है–

उदीच्य वेश

मागी स्रोत से ज्ञात होता है कि सूर्य प्रतिमाएँ उदीच्य वेश में निर्मित होनी चाहिए । ध्यातव्य है कि शतपथ ब्राह्मण[2] में उत्तर भारतीय क्षेत्र में रहने वालों को उदीच्य कहा गया है। कालान्तर में वराहमिहिर[3] ने सूर्य के वस्त्रों का विधान किया–कुर्यादुदीच्य वेषं "सूर्य के वस्त्र उत्तर भारतीय शैली के होने चाहिए" । मत्स्य पुराण[4] में सूर्य के वस्त्र को चोलक कहा गया है जबकि विश्वकर्मावतार[5] में सूर्य के लिए कंचुक का विधान है । पूर्व करणागम जो दक्षिण भारतीय परम्परा का शिल्प ग्रन्थ है, सूर्य के लिए कंचुक की व्यवस्था देता है । उपर्युक्त अनेक नाम एक ही वस्त्र प्रकार के हैं जैसा कि मेदिनी कोष से स्पष्ट है–

कञ्चुको वार वाणे स्यान्निर्मोके कवचेऽपि च ।
वर्द्धायकगृहीताड. स्थित वस्त्रे च चोलके ।।

1. गोपीनाथ राव द्वारा एलिमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्रोग्राफी, खण्ड–1, भाग–2 पृ. 306 में उद्धत
2. शतपथ ब्राह्मण 11.4.4.4
3. वृहत्संहिता 58.46
4. मत्स्य पुराण 261.4
5. विश्वकर्मावतार शास्त्र 28.5.51–53

उपर्युक्त विभिन्न वस्त्र प्रकार कुछ लोगों की दृष्टि से भारतीय मूल के नहीं थे । भारतीय समाज में इनका प्रवेश अभारतीय[1] स्रोतों द्वारा हुआ । स्पष्ट है कि सूर्य के अन्धकार के साथ निरन्तर युद्धरत रहने की अवधारणा को स्वीकारते हुए कला में भी वैसे ही वस्त्रावरण का विधान किया गया जिससे इस परम्परा का निरन्तर निर्वाह हो सके । इसके अतिरिक्त भारत में पारसीक–यवन–शक–कुषाण संस्कृतियों के संक्रमण के परिणामस्वरूप यहाँ की कला पर भी उनकी छाप प्रतिविम्बत है । शकों व कुषाणों की मूर्तियों अथवा उनकी मुद्राओं पर अंकित जो वेश दृष्टिगत होता है वह उदीच्य शैली का परिचय देता है । सूर्य–प्रतिमाओं पर शक–कुषाण–कालीन इस छवि का मगों के कारण जो प्रभाव पड़ा मागी शास्त्रों में उसी का निर्देश है ।

अव्यंग– भारतीय पौराणिक व अन्य साहित्य में अव्यंग शब्द ईरानी ग्रन्थ अवेस्ता से आया प्रतीत होता है । अवेस्ता में मूल शब्द रहा है एव्योंघेन[2] जो बाद में जरथुस्रीय धर्म का एक पवित्र प्रतीक बना रहा । आधुनिक पारसी इसे ही कुस्ति कहते हैं । अव्यंग का प्रवेश भारतीय समाज में मेखला[3] के नाम से पूर्व से ही था और इसे एक आभिचारिक उपकरण की भाँति प्रयुक्त किया जाता था । कालान्तर में इसके अभिचारिक गुण विस्मृत हो गए और मेखला–धारण पारम्परिक रीति मात्र रह गया । अव्यंग या मेखला[4] को सूर्य प्रतिमाओं का विशिष्ट लक्षण माना गया है । अनेक ग्रन्थों[5] में जहां सूर्य की प्रतिमा बनाने का निर्देश है, अव्यंग के बनाये जाने का उल्लेख है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि शिल्प में मेखला का प्रयोग गुप्त काल में प्रारम्भ हुआ । कुषाण कालीन सूर्य प्रतिमाओं में इसका अभाव है । कुषाण कालीन प्रतिमाओं में इसके अभाव का कारण शैलीगत भिन्नता हो सकती है । कुषाण कालीन शैली में सूर्य के अंकन के तीन प्रकार प्रचलित थे–

1– **सिक्कों पर अंकित सूर्य** – इन अंकनों में यूनानी प्रभाव है । इस सन्दर्भ में अगले पृष्ठ द्रष्टव्य हैं ।

2– **रथारूढ़ सूर्य का अंकन** – सूर्य के इस प्रकार के अंकन में शिल्पी को अधिक सुविधा थी कि वह अनेक लक्षणों का अंकन न करे क्योंकि देवता का अधिकांश भाग रथ से आवृत रहता था ।

---

1. सुलोचना अय्यर, फॉरेन इन्फलूएन्स ऑन द कॉस्टयूम्स एण्ड ऑर्नामेन्ट्स ऑफ एन्शेन्ट इण्डिया, प्राच्य प्रतिभा, खण्ड–4, सं.–2, पृ.109–11, जुलाई 1976
2. डी. के. विश्वास, टूसोलर लीजेन्ट्स री एक्जामिन्ड जे.ओ.एच.एस. खण्ड–1 सं.–1, पृ.26–30,1952
3. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध का तीसरा व चौथा अनुच्छेद
4. जें.एन. बनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्रोग्राफी, पृ.438
5. साम्ब पुराण –31.18
   भविष्य पुराण–1.132.17

3- **स्थानक सूर्य-प्रतिमाएँ** - ये कुषाण शासकों के समान वस्त्रों से आवृत होती थी । इसलिए अव्यंग इत्यादि लक्षणों की अवलेहना कर दी जाती थी ।

गुप्त काल में कला के प्रतिमान बदल गए, शिल्प शास्त्रों की रचना हुई एवं उनके निर्देश के अनुसार प्रतिमाओं के अंकन होने लगे अस्तु प्रत्येक लक्षण का अंकन होना आवश्यक माना जाने लगा ।

उपानह - अधिकांश सूर्य प्रतिमाएँ उपानह युक्त निर्मित हैं । ध्यातव्य है कि मौर्य काल में जब सूर्य के अंकन का प्रारम्भ हुआ तो प्रतिमान वैदिक लिए गए । शिल्पी ने अन्धकार के साथ अनवरत युद्ध रत रहने के कारण सूर्य का योद्धा रूप ही मूर्त किया फलस्वरूप मौर्य कालीन अंकन में सूर्य कवच धारण किये शरसंधान की मुद्रा में दृष्टिगत होते है । कुषाण काल मे सूर्य का एक और रूप सम्मुख आया "स्वतन्त्र सूर्य"का जिसमें सूर्य को रथ मुक्त बनाया गया पर अवधारणा योद्धा की ही रही । देश काल में हुए परिवर्तनों के कारण वीरत्व का स्वरूप बदल गया था । बदलते परिवेश में कुषाण शासक अधिक सफल सिद्ध हुए थे। अतः वीरत्व के अन्यतम प्रतिमान के रूप में शिल्पकार ने कुषाण शासकों की भंगिमा को ग्रहण किया । इन्हीं कारणों से कुषाण काल की प्रतिमाओं में सूर्य देव कुषाण शासकों की भाँति कोट व उपानह धारण करते हैं ।

गुप्त काल में जब शिल्प-सिद्धान्तों का निष्पादन हुआ तो सूर्य-प्रतिमा के कुषाण कालीन अलंकरणों की उपेक्षा नहीं हुई और यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि सूर्य पैर से वक्ष तक आवृत होने चाहिए[1] । पुराणों[2] में तत्सम्बन्धित एक नवीन गाथा का सृजन हुआ जिसके अनुसार एक बार विश्वकर्मा ने अपनी पुत्री संज्ञा (सूर्य पत्नी) के द्वारा सूर्य का तेज सहन न कर पाने के कारण सूर्य-तेज का विकर्तन किया, किन्तु सूर्य वह कष्ट सहन न कर सके फलस्वरूप विश्वकर्मा ने विकर्तन छोड़ दिया और सूर्य के पैर पूर्ववत रह गए। अतः उनके आवृत[3] रहने (तेजसावृतों) का सिद्धान्त प्रचलित हुआ ।

इस गाथा से प्रेरित पद्मपुराण[4] में कहा गया है कि सूर्य के पद युग्म नहीं बनाने चाहिए जो ऐसा करता है वह पाप का भागी होता है । मत्स्य पुराण[5] में सूर्य के लिए तेजसावृत होने

---

1. वृहत् संहिता-58.46, कुर्यादुचीच्य वेषं पादादुरो यावत् ।
2. भविष्य पुराण 1.47.31-33
3. डी.के.विश्वास, टू सोलर लीजेन्डस री-एक्जामिनड, जे.ओ.एच.एस.खण्ड-1 संख्या-1, पृ.26-30
4. पद्म पुराण सृष्टि खण्ड,8.66
5. मत्स्य पुराण-261.4 वस्त्र युग्य समेपेतं चरणों तेजसावृतौ ।

का विधान है जबकि साम्ब पुराण[1] में सदा आवृत रखने चरणों नित्य संवृता का निर्देश है । भविष्य[2] पुराण में एक स्थान पर निर्देश है कि सूर्य प्रतिमा के चरण युगल आवृत होने चाहिए ।

शिल्प सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ इस सम्बन्ध में मौन हैं । सूर्य से सम्बन्धित एक गाथा महाभारत[3] में मिलती है जिसके अनुसार अपनी किरणों से रक्षा हेतु सूर्य ने जमदग्नि ऋषि को उपानह एवं छत्र प्रदान किया था । विद्वानों[4] के मत में यह गाथा कालान्तर में विकसित सूर्य के उपानह सम्बन्धी धारणा का मूल हो सकती है । वैदिक साहित्य में सूर्य के पैरों से सम्बन्धित स्पष्ट विवरण नहीं है । शतपथ ब्राह्मण[5] में एक स्थान पर सूर्य को चरण विहीन बताया गया है ।

दण्ड एवं पिंगल–देवकुल व देवता के अनुचरों की कल्पना प्राचीन भारतीय परम्परा का सामान्य लक्षण था । इस सन्दर्भ में विष्णु व शिव के अनुचरों की प्रथा विदित है । सूर्य के विशिष्ट अनुचरों में पिंगल[6] हाथ में लेखनी कलम लिए प्राणियों के कर्मो का लेखा–जोखा रखने में संलग्न एवं दण्डी[7] दण्ड व्यवस्था के व्यवस्थापक प्रमुख हैं । कला में भी सूर्य के इन्ही अनुचरों का अंकन प्रमुख रूप से हुआ है ।

ईरानी परम्परा[8] में मिथ्र के दो अनुचरों की चर्चा है श्रओस व रश्नु[9] नाम से । ध्यातव्य है कि इनके कार्य दण्डी एवं पिंगल के कार्यें के अनुरूप है श्रओस कार्य पालन का एवं रश्नु न्याय का प्रतीक माना गया है ।

दण्डी एवं पिंगल के शिल्पांकन की परम्परा गुप्त युगीन मूर्ति–कला की प्रमुख विशेषता है । प्रो. वासुदेव शरण अग्रवाल[10] के अनुसार गुप्त युग की मूर्तियों में उनके दो पार्श्वचर दण्ड एवं पिंगल दिखाये जाने लगे । दण्डी के हाथ में एक लम्बा दण्ड और पिंगल

---

1. साम्ब पुराण–15.21
2. भविष्य पुराण–1.132.25

   कुर्यादादित्य वेषं तू गूढ़ पादोदरं तथा ।।
3. महाभारत–अनुशासन पर्व 95.96
4. डी.के. विश्वास, टू सोल लीजेन्ड्स री–एक्जामिन्ड, जे.ओ.एच.एस. खण्ड–1, सं.–1, पृ. 26–30
5. शतपथ ब्रहमण–4.4.55

   यदि ह वा अप्यपाद भवत्वलमेव प्रतिक्रमणाय ।
6. भविष्य पुराण–1.1.67, साम्ब पुराण–6.21,

   विष्णुधर्मोत्तर पुराण 3.67
7. साम्ब पुराण–6.23, भविष्य पुराण–1.76.24,19
8. सैक्रिड खण्ड–23 (मिहिर–यस्त) 10.100
9. वी.राघवन सन वर्शिप, पुराण, खण्ड–12,सं.–2, पृ–206, जुलाई,1970
10. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ.269

के हाथ में कलम दावात बनायी जाती है । दण्डी और पिंगल की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं । उनके वेश में कुलह टोपी, शरीर पर भारी कोट, शलवार और जूते सूर्य जैसे ही है । इनका चोंगा विशेष प्रकार के कपड़े का बना हुआ है जिसे उस युग में स्तवरक कहते थे और जो ईरान से भारत में लाया जाता था ।

उपर्युक्त विवरण के पश्चात् प्रस्तुत है कला में सूर्य के अंकन के क्रमिक विकास का सर्वेक्षण।

सौर प्रतीकों एवं मानवीकृत सूर्य का मुद्रांकन

यह सुविदित तथ्य है कि सूर्य के बहुविध अंकन की परम्परा का प्रारम्भ मगों के प्रभाव में हुआ किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि सूर्य के अंकन की एक पूर्व परम्परा भी थी । मध्यप्रदेश[1] के रायगढ़ जिले की पहाड़ियों में बलुए पत्थर (सैन्ड स्टोन) की चट्टानों पर आदिम काल के कुछ चित्र अंकित मिले हैं जिसमें सूर्य को अर्द्धवृत्ताकार रूप में रश्मियों से युक्त चिन्हित किया गया है । इस सूर्य मण्डल के सम्मुख एक मानव आकृति वंदन की मुद्रा में अंकित है । यह सम्भवतः मानव द्वारा सूर्य पूजा का सर्वप्रथम व्यक्त उदाहरण है । पाषाण–काल के अवशेषों में अनेक प्रतीकचिन्ह प्राप्त हुए हैं जिन्हें विद्वानों ने सूर्य से सम्बन्धित किया है । इन प्रतीक चिन्हों में –स्वास्तिक, चक्र, नेत्राकृति प्रमुख हैं । सैन्धव सभ्यता[2] में भी सूर्य उपासना का परिचय अनेक प्रतीकों के रूप में विद्यमान है । उपर्युक्त समस्त प्रतीक सैन्धव सभ्यता के अवशेषों से भी प्राप्त हुए है ।

वैदिक [3] कर्मकाण्डों में विशेषकर यज्ञ विधानों में अग्नि वेदिका के साथ स्वर्ण पत्र पर अंकित सूर्य मण्डल सूर्य के प्रतीक के रूप में स्थापित किया जाता था । इसके अतिरिक्त सौर प्रतीकांकित अनेक पंचमार्क सिक्के भी मिले है जिनकी तिथि लगभग 1000 ईसा पूर्व[4] मानी गयी है । तक्षशिला[5] औदुम्बर एवं उत्तरी भारत के अन्य अनेक स्थानीय सिक्कों पर सौर प्रतीकों का अंकन है । स्पूनर[6] इन अंकनों को जरथुस्त्री मत से प्रभावित मानते है। इन अंकनों की श्रृंखला में पंचाल मित्र सीरीज के सिक्कों का विवरण समीचीन प्रतीत होता है ।

---

1. एल.पी.पाण्डेय, सन् वर्शिप इन एन्शेन्ट इन्डिया, पृ–1
2. सर जॉन मार्शल, मोहन जोदड़ो एण्ड द इण्ड्स सिविलाइजेशन, खण्ड–1 प्लेट्स– 87,90,91,93
3. शतपथ ब्राह्मण, 7.4.1.10,3.9.2–9
4. ए. कनिंघम, कॉयन्स आफ एन्शेन्ट इन्डिया, पृ.–43
5. जॉन एलन, कैटलॉग आफ एन्शेन्ट इन्डियन क्वायन्स, खण्ड–3, पृ. 13–15
6. स्पूनर डी.बी. जोरस्ट्रीयन पीरिण्ड इन इण्डियन हिस्ट्री, जे.आर.एस., 1915, पृ.412

पंचाल मित्र[1] सीरीज (200 ई.पूर्व से 100 ई.पूर्व) में सूर्य मित्र के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर एक रेलिंग नुमा आकृति है जिसके दोनों सिरों पर एक एक स्तम्भ है । इन स्तम्भों के मध्य में एक चक्राकृति का अंकन है । सूर्य मित्र के एक अन्य प्रकार के सिक्के पर उपर्युक्त समस्त अंकनों के अतिरिक्त एक त्रिकोणीय आकृति सूर्य प्रतीक के नीचे अंकित है तथा यह समस्त आकृतियां एक समतल पर आधारित हैं जो दोनों स्तम्भों के बीच में स्थित है ।

भानु मित्र के एक सिक्के पर रेलिंग है जिसके दोनों सिरों पर दो स्तम्भ है । रेलिंग के ऊपर एक सूर्य चक्र जिसमें आठ किरणें निकलती हुई अंकित है । पार्श्व में है वृषभाकृति। भानु मित्र के दूसरे प्रकार के सिक्के पर एक नन्दि पद जिससे निकलती हुई पांच शाखाएं अंकित हैं । उपर्युक्त सिक्कों पर अंकित समस्त प्रतीक सौर माने गए है । भानुमित्र, सूर्यमित्र के सिक्कों पर अंकित रेलिंग वाली आकृति को अग्निपूजा से सम्बद्ध माना गया है। सूर्य–अग्नि की सम्मिलित उपासना ईरानी धर्म में विद्यमान थी । इसी प्रकार के प्रतीक चिन्ह ईरानी स्रमाट डेरियस[2] की समाधि पर भी अंकित हैं । अतः पंचाल शासकों की मुद्राओं पर अंकित ये चिन्ह ईरानी सौरमत से प्रेरित हो सकते हैं । इन सिक्कों के अतिरिक्त कुषाण शासकों के सिक्कों पर सौराग्नि मत का स्पष्ट प्रभाव लक्षित है । कनिष्क के सिक्कों पर सूर्य को उपानह युक्त अंकित किया गया है । दाहिने हाथ में सूर्य कुछ पकड़े हैं जो स्पष्ट नहीं है तथा बायें हाथ में तलवार[3] है । अपोलोडोटस। के सिक्कों पर सूर्य का अंकन है । इसके अतिरिक्त फिलाक्सिनस टेलीफस तथा प्लेटो के सिक्कों पर भी सूर्य का अंकन है[4] ।

गुप्त कालीन बसाढ़, भीटा, सुनेत तथा राजधाट से प्राप्त होने वाली सीलों पर सौर–अग्नि प्रतीक अंकित है ।पुरातत्ववेत्ता इन्हें ईरानी परम्परा से प्रभावित मानते है ।

उपर्युक्त सौर अंकनों के अध्ययन से सौर अंकनों की दो परम्पराएँ स्पष्ट होती हैं–पूर्व एवं अवान्तर । पूर्व परम्परा में मात्र सौर प्रतीकों के अंकन की प्रथा थी किन्तु अवान्तर परम्परा में सौर प्रतीकों (जैसा कि पंचाल मित्र सिक्कों है) के साथ सूर्य के मानव रूप के अंकन की प्रथा भी ज्ञात थी ।

---

1. बी.सी. श्रीवास्तव, फ्रेश इन्टरप्रीटेशन ऑफ सोलर सिम्बल्स आन सूर्य मित्र भानू मित्र कॉयन्स 8.9,जे.एन.एस.आई ,खण्ड–31 भाग1
2. वी.सी. श्रीवास्तव, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ–279
3. जे.एन.बनर्जी,इण्डियन एन्टिक्वेरी, खण्ड–54, पृ.166,
4. एल.पी.पाण्डेय, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ74
5. जे.एन.बनर्जी, डेवलप ऑफ हिन्दू आइक्रोग्राफी, पृ. 148-99

मानवीयकृत सूर्य के अंकन की परम्परा

सूर्य के मानव रूप के अंकनों की परम्परा मौर्य काल से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है । इन अंकनों में पाटलिपुत्र, मथुरा, बोधगया, अनन्त गुम्फा तथा लाला भगत से प्राप्त होने वाले अंकन महत्वपूर्ण है ।

पाटलिपुत्र [1] से प्राप्त होने वाला चित्र मिट्टी के बर्तन पर है । मौर्य काल से सम्बन्धित इस अंकन में सूर्य चार अश्वों से युक्तरथ में आरुढ़ है शर संधानरत मुद्रा में, साथ में सारथी अरुण का अंकन है ।

बोध गया[2] (चित्र सं. 15) पहली शती ईसा पूर्व का अंकन पत्थर की रेलिंग पर है इसमें सूर्य चार अश्वों से युक्त एक चक्रीय रथ पर आरुढ़ है । सूर्य के दोनों पार्श्व में दो नारी आकृतियाँ शर–संधान रत मुद्रा में हैं (सम्भवतः उषा, प्रत्ययूषा) इस शिल्पांकन में एक नवीन अंकनों में छत्र अंकित है पर प्रभा मण्डल का अभाव है । मथुरा[3] से प्राप्त कुषाण कालीन नारी मूर्ति के सिर पर आभूषण पर रथारुढ़ सूर्य का अंकन है । अनन्त गुम्फा[4] (उड़ीसा प्रथम शती ई.) से प्राप्त अंकन में सूर्य चार अश्वों से सज्जित, एक चक्रीय रथ पर आसीन है । दोनों पार्श्व में एक–एक नारी आकृति, हाथ में छत व चॅवर लिए हुए । देवता के दाहिने हाथ में कमल तथा बायें हाथ में अश्वों की वल्गा है, दहिनी तरफ एक असुर का अंकन है । लाला भगत[5] (कानपुर दूसरी शती ई.) का अंकन एक स्तम्भ पर प्राप्त है । इसमें सूर्य चार अश्वों तथा एक चक्रीयत्व में आसीन है । सूर्य के दोनों तरफ दो नारी आकृतियां हाथ में चॅवर व छत्र लिए हुए है । देवता के पीछे भी नारी आकृतियों का अंकन है ।

उपर्युक्त रिलीफ चित्रों में एक समान विशेषता है जो समस्त अंकनों से प्राप्त है, वह है, सूर्य–रथ का एक चक्रीय एवं चार अश्वों से युक्त होना । इसके अतिरिक्त सूर्य के दोनों पार्श्व में दो नारी आकृतियों तथा छत्र का अंकन । ये विशेषताएँ प्रारम्भिक सूर्य प्रतिमाओं में भी देखने को मिलती हैं । सूर्य के उपर्युक्त प्रकार के अंकन को कनिंघम[6] यूनानी प्रभाव मानते है । विशेषकर सूर्य रथ के चार अश्वों को, किन्तु जे. एन. बनर्जी[7] ने इन्हें विशुद्ध

---

1. विन्देश्वरी प्रसाद सिंह, भारतीय कला को बिहार की देन, . पृ.82
2. ए.के कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ.32–33
3. एल.पी.पाण्डेय, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.77
4. सी.शिवराममूर्ति, इण्डियन स्कल्पचर, पृ.26
5. जे. एन. बनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ.433
6. ए.कनिंघम, ए.एस. आई ए.आर.खण्ड–3, पृ– 43
7. जे.एन. बनर्जी, सूर्य, आदित्याज एण्ड द नव ग्रहाज, जे.आइ.एस.ओ.ए.खण्ड, 14, पृ.54

वैदिक परम्परा के अन्तर्गत माना है । उनका मत ऋग्वेद के उस उल्लेख[1] पर आधारित है जहाँ सूर्य रथ को एक, तीन चार और सात अश्वों से युक्त कहा गया है ।

ईरानी परम्परा[2] में भी मिथ्र के रथ में चार अश्वों के जुते होने का उल्लेख है । सूर्य के चार अश्वों की परम्परा इण्डोईरानी प्रतीत होती है , जहाँ से यह ग्रीक कला में स्वीकारी गयी । ईरानी कला में इस प्रकार के अंकन के उदाहरण भी प्राप्त हैं । प्रो. रोस्तोज़ेफ[3] ने दक्षिणी रुस में ईरानी कला के कुछ नमूने खोजे हैं । इनमें सूर्य के चार अश्वों के रथ पर आसीन रूप का भी अंकन है । इन कलाकृतियों का काल लगभग चतुर्थ शती ई. पूर्व है ।

भारतीय कला में मौर्य काल से प्रारम्भ हुए सूर्य के इस नवीन प्रकार के अंकन का स्वरूप निश्चय ही मागी है । मौर्य काल में जब मागी प्रभाव के अन्तर्गत सूर्य के मानवीकृत रूप के अंकन का प्रारम्भ हुआ तो शिल्पकारों के सम्मुख सूर्य से सम्बन्धित अभिप्रायों का कोई स्पष्ट रूप नहीं था । यह धारणा अवश्य उनके मानस में थी कि सूर्य दिन रात का नियन्ता एवं संवत्सर से सम्बन्धित है अर्थात निरन्तर गतिमान । गति के इस अनन्य प्रतीक रूप को व्यक्त करने हेतु ही सूर्य के रथारुढ़ स्वरूप की कल्पना की गयी । प्रारम्भ में सूर्य की समस्त पूजा उपासना दृश्यगत सूर्य मण्डल के प्रति ही समर्पित थी किन्तु अन्य धमों के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव के समक्ष सौर धर्म को स्थापित करने की प्रक्रिया में सूर्य के मानवीकृत स्वरूप के अंकन की आवश्कता हुई । अतः सूर्य के उसी रूप का अंकन हुआ जो पुरातन और सार्वभौमिक था । तत्पश्चात शु ंग काल तक अभिप्राय और भी स्पष्ट हुए और सूर्य के साथ शर–संधानरत मुद्रा में उनकी सहायिकाएँ पत्नियाँ उषा और प्रत्यूषा तथा रथ संचालित करते हुए अरुण का अंकन होने लगा ।

कुषाण काल सूर्य की प्रतिमाओं के निर्माण के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण माना जा सकता है । इस समय सूर्य के मुद्रा अंकन के साथ–साथ सूर्य की प्रतिमा के निर्माण का भी आरम्भ हुआ । प्रो. अग्रवाल के अनुसार आरम्भिक कुषाण[4] काल की सूर्य प्रतिमा जो मथुरा से प्राप्त हुई है जिसमें उदीच्य वेश में सूर्य दो घोड़ों के रथ पर बैठे हैं । उनके बांए हाथ में तलवार तथा दाहिने हाथ में कमल के फूलों है । इस पर शक प्रभाव है उसमें लम्बा कोट, पाजामा और जूते शकों के वेश से लिए गए । सूर्य की कुछ खड़ी मूर्तियां भी हैं जिनका वेश और हाथों के आयुध इसी प्रकार के है । कालान्तर में तलवार की जगह भी कमल ही चित्रित किया जाने लगा और गुप्त काल के बाद दो कमलों से युक्त सूर्य मूर्ति सर्वमान्य हो गयी ।

मथुरा से प्राप्त एक प्रतिमा (चित्र सं.16) जिसका काल चौथी शताब्दी ई. है, सूर्य की

---

1. ऋग्वेद 1.115.3,10.37.3
2. सैक्रिड, खण्ड–23, मिहिर यस्त, एफ क्यूमॉन्ट, मिस्ट्रीज ऑफ मिथ्र, पृ 2
3. डब्लू. डब्लू टॉर्न द्वारा द ग्रीक्स इन इण्डिया एण्ड बैक्ट्रिया, पृ.–210 में उदृत
4. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ. 269

बैठी मुद्रा की है । सूर्य के बायें हाथ में तलवार तथा दाहिने हाथ में कमल है । वेश कुषाण शैली का है । प्रारम्भिक गुप्त काल की दो अन्य महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ क्रमशः कुमारपुर[1] व नियामतपुर से प्राप्त हैं । इनमें भी सूर्य के साथ उनके दो अनुचरों का अंकन है शक–कुषाण वेश भूषा में । इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त भूमरा[2] के शिव मन्दिर के ताखे में एक सूर्य प्रतिमा स्थापित है । इसमें देवता ने लम्बा कोट पहना हुआ है और कमर में पटका (Scart) बाँधा हुआ है । पैरों में उपानह है । साथ में दो पार्श्व चर दण्ड और पिंगल हैं । मथुरा से ही प्राप्त गुप्त काल की एक अन्य प्रतिमा (चित्र सं. 17) में सूर्य रथासीन हैं । देवता के हाथों में कमल प्रतीत हो रहे हैं । इसमें कोई पार्शवांकन नहीं है, देवता के गले में हार स्पष्ट है ।

उपर्युक्त लक्षण स्पष्ट करते हैं कि कुषाण काल में सूर्य प्रतिमाओं के निर्माण में नवीन विधा का प्रयोग किया गया और सूर्य की प्रतिमाएँ रथासीन, बैठी, खड़ी इत्यादि विभिन्न मुद्राओं में बनायी जाने लगीं । अनुचरों के अंकन का प्रचलन नहीं था । कुषाण काल के पश्चात् सूर्य के साथ–साथ उनके दो अनुचर दण्ड एवं पिंगल तथा सारथी अरुण भी बनाये जाने लगे एवं अन्य लक्षणों में कुषाण कालीन कृपाण के स्थान पर कमल अंकन होने लगा ।

धीरे–धीरे सूर्य प्रतिमाओं की सजावट की प्रवृत्ति बढ़ी ।लगभग छठीं शताब्दी के आस–पास सूर्य की प्रतिमाओं में अनुचरों के साथ–साथ सूर्य की दो पत्नियाँ भी अंकित की जाने लगीं । सूर्य का मुकुट भी अलंकरण युक्त होने लगा । प्रभा मण्डल का अंकन भी मिलता है। अश्वों की संख्या सात हो गयी और उपानह पूर्ववत रहे । इस काल तक कुषाण वस्त्र शैली का भारतीय करण हो चुका था, उदीच्य वेश के अन्तर्गत । मथुरा से प्राप्त एक सूर्य प्रतिमा में (चित्र सं.16) उपयुक्त समस्त लक्षण देखे जा सकते हैं । सातवीं आठवीं शताब्दी तक उपर्युक्त लक्षण ही प्रचलित रहे आठवीं शताब्दी के उत्तरार्थ –नौवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सूर्य के प्रतिमा लक्षणों में कुछ वृद्धि हुई । (चित्र सं.17) सूर्य प्रतिमा के साथ उनकी पाँच पत्नियों –संज्ञा, छाया, राज्ञी, निक्षुभा एवं महाश्वेता (सुवर्चसा) का अंकन होने लगा । इसके अतिरिक्त इस काल की प्रतिमाओं[3] में एक और विशिष्टता दिखाई देती है । इस काल से सूर्य प्रतिमाओं में यज्ञोपवीत का अंकन होने लगा । बैठी एवं खड़ी दोनों ही प्रकार की प्रतिमाओं में यज्ञोपवीत के तीन तुन्तुओं का कुशल अंकन दिखाई देता है । पाल काल के पश्चात् प्रतिमा परिकर पर सौर कुल के अन्य देवों के अंकन की प्रवृति दिखती है । सूर्य प्रतिमा का पूर्ण विकसित स्वरूप तेरहवीं शताब्दी की कोणार्कसे प्राप्त प्रतिमा (चित्र सं.21) में प्राप्त होता है सूर्य प्रतिमाओं के विकास के साथ–साथ उनके संयुक्त रूप का भी प्रचलन हुआ और एक ही फलक पर सूर्य के साथ अन्य देवों का भी अंकन होने लगा । इसी परम्परा

1. जे. एन. बनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ आइक्नोग्राफी, पृ 435
2. एल.पी.पाण्डेय, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.85
3. गीता शाही, तुरपट्टी महुअवा की सूर्य महोत्सव स्मारिका पृ.1–7,1987

में दशवतार सूर्य की प्रतिमा भी उद्धरणीय है जिसमें विष्णु के अवतारों के साथ सूर्य का अंकन है ।

दूसरा मुख्य लक्षण जो दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में प्रकाश में आया वह था द्वादश आदित्यों का अंकन । मुख्य देव के साथ ही द्वादश आदित्यों को बनाने का प्रचलन था । इसके साथ ही कला में नवग्रहों के अंकन का प्रचलन भी परिलक्षित होता है ।

भारतीय परम्परा में सूर्य के अंकन की आवश्यकता नहीं थी, वस्तुतः सूर्य के लिए लोक में जो उपासना पद्धति प्रचलित थी वह दृश्यमान सूर्य के निमित्त थी । यज्ञीय कर्मकाण्डों में स्वर्ण पत्रांकित सौर प्रतीकों का उपयोग अवश्य होता था किन्तु सौर प्रतिमा और प्रतीकों का प्रचलन नहीं था । मगों की दूसरी तीसरी धारा के प्रभाव स्वरूप कला में मानवीकृत सूर्य के अंकन का प्रचलन हुआ ।

यद्यपि मागी प्रभाव के अन्तर्गत ही इन अंकनों का प्रारम्भ हुआ फिर भी प्रतिमान यथा सम्भव वैदिक रहे । अनेक शास्त्रों की रचना हुई जिनमें शिल्प सम्बन्धी मागी नियमों का संकलन हुआ तथा कालान्तर में उन नियमों पर आधारित प्रतिमाएँ बनीं । परवर्ती काल में यद्यपि सौर प्रतिमाओं की दो शैलियाँ दृष्टिगत होती हैं उत्तरी तथा दक्षिण भारतीय किन्तु मूल प्रेरणा एक ही थी"मागी" । इस सम्बन्ध में एक परम्परा का विवरण समीचीन होगा । बंगाल[1] के कुछ क्षेत्रों में जो मग बाहुल्य है, बीसवीं शती के प्रारम्भ तक देव-प्रतिमा के निर्माण को अन्तिम स्वरूप मग ब्राह्मण ही देते थे यह क्रिया प्रतिमा के किसी भाग को रंग कर पूर्ण की जाती थी । मुख्यतः जिसमें आँख का मध्यवर्ती भाग ही होता था । यद्यपि यह एक धार्मिक अनुष्ठान होता था किन्तु इसके मूल में उनके आदिशिल्पी या मूर्ति पूजा के मूल प्रचारक होने की स्मृति विद्यमान प्रतीत होती है ।

---

1. एन.एन. वसु, आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ मयूरभंज, भूमिका, पृ.- XIV

सप्तम – अध्याय

उपसंहार

एक सामान्य धारणा के अनुसार संशय न हो तो शोध कैसा ? लेकिन शोध के निष्कर्ष जन्य स्वरूप को स्पष्ट करने लिए पूर्वाग्रहों को अनिवार्य माना जाता है । यह पूर्वाग्रह (हाइपोथीसिस) ही आधार बनता है किसी नवीन शोधपूर्ण दृष्टि (थीसिस)का । किन्तु इस परिदृष्टि की अपनी सीमाएँ भी होती हैं–विवेच्य प्रसंग में भाषा की, भाषा–चिन्तन और सर्वोपरि शब्दों के सही सतर्क अभिज्ञान की । उदाहरण के लिए हमारे शोध–विषय का केन्द्र बिन्दु का शब्द रहा है "मग"–अद्यावधि, अत्यन्त विवादास्पद–कम से कम मूलार्थ–अभिप्राय और प्राचीनता के संदर्भ में । प्रथम अध्याय–अभिज्ञान में हमने भाषा वैज्ञानिक विवेचन के साथ न केवल "मग"के मूल भारत–ईरानी स्वरूप "मघःमोघु" की पहचान स्थापित की अपितु इसके अर्थ–विकास का यथार्थ भी लक्षित किया । इस तरह प्राक् ऋग्वेदीय युग के आर्यों के ही इस वर्ग विशेष की उत्तर वैदिक युगीन पहचान को हमने विकसित होते देखा ईरान में, प्रत्यक्षतः जरथुस्त्रीय धर्म के अभ्युदय काल में । अभिज्ञान की इस कसौटी पर स्पष्टतः प्रतीत हुआ कि मगाख्य ब्राह्मण अत्यन्त पुरातन युग में मूल रूप से प्राकृतिक चिकित्सकों का वर्ग था, ऐतरेय ब्राह्मण आदि उत्तर वैदिक स्रोतों से ज्ञात "अरुर्मघ"इसी वर्ग से सम्बद्ध रक्त–स्राव के चिकित्सक थे । वे इन्द्रोपासना और यज्ञीय कर्मकाण्ड आदि से असम्बद्ध थे पर अपने इष्ट देवता रूप में सूर्य–अग्नि की उपासना करते थे जिसका विधिवत् प्रचार–प्रसार किया आर्यों की ही ईरानी शाखा ने । मिथ्र=मिहिर के ये उपासक इस समय तक भैषज्य ही नहीं, ज्योतिष और विविध आभिचारिक क्रियाओं का सम्पादन करने लगे थे । इन मागी तत्वों के साथ शनैः शनैः कतिपय वैदिक–आवेस्तिक तत्व भी जुड़ते गए परिणामतः कालान्तर में इस समन्वित विचारधारा का प्रभाव बढ़ता गया । ऐतिहासिक कारणों से इसकी प्रतिष्ठा समग्र उत्तर भारत में अतः भारतीय सांस्कृतिक जीवन में प्रभावी हुयी–मात्र सूर्योपासना की नवीन धारा लेकर ही नहीं धार्मिक कर्मकाण्ड से लेकर सामाजिक व्यवस्था के कतिपय महत्वपूर्ण अंगों पर इस परम्परा (मागी मत) की गहरी छाप पड़ती गई।

इसमें संदेह नहीं कि मागी मत का जो प्रसार भारत में मुल्तान से लेकर बंगाल तक ऐतिहासिक युगों में परिलक्षित होता है उसकी पृष्ठभूमि व्यापक है । मध्येशियाई मागी स्रोत के अध्ययन के द्वारा एतत्संबन्धी संदर्भ सामने आते हैं । आभिलेखिक साक्ष्य, यूनान के यशस्वी इतिहासकार हेरोडोटस के विवरण और अन्य ग्रीक इतिहासकारों के वृत्तान्त मागियों के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हैं । इसके अतिरिक्त सहज प्रकृतिनिष्ठ ईरानी कर्म–काण्डों की जो जटिल व्याखया प्रस्तुत की गई उसका श्रेय मागी जनों को है, वे आराध्य

और आराधक के मध्य माध्यम बनते गए फलतः वे मागी जन ईरानी तंत्र पर भी हावी होते रहे। वहाँ इनके दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं, एक वे जो जरथुस्त्रीय धर्म के आन्दोलन के साथ मज्दावादी हो गए और दूसरे वे जो परम्परया मागी धर्म से सम्बद्ध थे जिसमें प्रकृति–पूजन, ज्योतिष, स्वप्न–विचार से भविष्य–कथन और अभिचारों तक का समावेश था । रहस्यमयता, विचित्रता मागी कर्मकाण्डों की पहचान थी । मॉल्टन की यह धारणा उल्लेखनीय महत्व की है कि फ्रवशी (पितृ) अर्थात् पितरों की पूजा में पुनर्जन्म के विकसित सिद्धान्त के जो सूत्र हैं, वे विचार भारतीय आर्य–परम्परा से अभिप्रेरित प्रतीत होते हैं । मगों के कतिपय पवित्र प्रतीकों में पइतिदान, खफ्रस्त्रहन, उर्वर, अस्त्रमइरि, बरसम उल्लेखनीय हैं ।

भारतीय सामाजिक जीवन–दर्शन से जुड़े अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कारों में उपनयन, विवाह व अन्त्येष्टि के अन्तर्गत मागी तत्व देखे जा सकते हैं, इनमें उपनयन के अन्तर्गत आने वाले कुछ संस्कार निश्चय ही इसी परम्परा की देन प्रतीत होते हैं ।

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही पुनःस्मरण किया मागी मत के तत्व अथर्ववेदीय समाज में देखे जा सकते हैं । इसे सम्प्रदाय–सम्बद्ध मगों के प्रथम चरण के रूप में लिया जा सकता है जिसका आगे चलकर भारतीय संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा । अथर्ववेद अथवा अथर्वाङ्गिरस (भृग्वांगिरस) परम्परा में अनेकविध अभिचार व भैषज्य ऐसे रहे हैं जिनकी आलोचना भी होती रही है, वे वस्तुतः मागी तत्व प्रतीत होते हैं । भारतीय सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया में मागी विचार धारा का छठीं शताब्दी ई.पू. के बौद्धिक क्रान्ति–काल में दूसरी बार संक्रमण हुआ वह धारा मुख्यतया सूर्य–पूजा से सम्बद्ध प्रतीत होती है । बौद्धों द्वारा सूर्य–पूजा की निन्दा इसका सबल साक्ष्य है । हम प्रश्न करें और उस ओर आपका ध्यान आकृष्ट करें कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में सूर्य के मंडल की उपासना अस्तित्व में थी तो आखिर सूर्य के अंकन की आवश्यकता क्यों हुई? स्पष्टतः यह सूर्य–पूजकों (मगों) के संघ की उपस्थिति का सूचक है । मागी विशिष्टता का तीसरा चरण शक–कुषाण–युग में अपने कई तरह के धार्मिक व सामाजिक आचार–व्यवहार के प्रतीकों को व्यक्त करता हुआ तत्कालीन समाज में परिलक्षित होता है । इस धारा का भारतीय कला पर गहरा अ़सर दिखाई देता है । पूर्वोक्त धार्मिक व सामाजिक प्रभावों में ही पूजा–विधान एवं व्रतों की महत्ता बढ़ी । सौर धर्म के ऐसे तमाम तत्व मागी मत की बढ़ती प्रतिष्ठा के सूचक हैं । पूजा–अर्चना विधि–विधान सहित रथ–यात्रा और मन्दिरों के सम्मुख खुले आकाश तले संगीत–नाट्य–मंचन इसी प्रक्रिया का परिणाम है । इस मत के अभ्युदय के फलस्वरूप सौर सम्प्रदाय का उद्भव एवं विभिन्न क्षेत्रों में मगों के निवास का आकलन किया जा सकता है।

मागी कृत्यों विशेषतः भेषज, अभिचार एवं ज्योतिष के क्षेत्र में मागी प्रभावों का विवेचन च्यवन, अश्विनद्वय की समीक्षा, अरुर्मघ का आदि–भिषग् के रूप में वर्णन एवं अभिचार–पद्धति से है । ज्योतिष से मगों का अभिन्न सम्बन्ध रहा है । मगों का

मध्येशियाई इतिवृत्त भी इसी की सूचना देता है। वैदिक युग में ज्योतिष व ज्योतिर्विदों की उपस्थिति की चर्चा है। बौद्ध काल में ज्योतिष–विद्या को निन्दनीय माना जाना ग्रंथकारों के किसी पूर्वाग्रह की सूचना है । मागी ज्योतिर्विद वराहमिहिर का योगदान तो भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण निधि बन गई है । वराहमिहिर वास्तव में मग थे और सम्भवतः उनका कुल मगध से सम्बद्ध था । वृहत्संहिता के टीकाकार भट्ट उत्पल ने वराहमिहिर को मगध द्विज कहा है–

"सताभयमाचारो यच्छास्त्रप्रसारम्भेष्वभिमत देवतानमस्कारं कुर्वन्ति,
तदयमप्यावन्तिकाचार्य–मगध–द्विज–वराहमिहिरोर्कलब्ध वर प्रसादो.. ।"

इस टीका के आधार पर डॉ.कर्न ने वराहमिहिर के कुल को मगध से सम्बद्ध माना है। इसके विरुद्ध डी. के. विश्वास (दि मग ऐंसेस्ट्री आफ वराहमिहिर, आई.एच.क्यू.खण्ड–25,1947,पृ.175–83) का तर्कहै कि वराहमिहिर के "बृहज्जातकम्" में उसे "आवन्तिक" कहा गया है और उक्त टीका में आवांतिकाचार्य अस्तु वह अवंती का निवासी रहा होगा । लेकिन डॉ. विश्वास का यह कथन अर्द्ध सत्य है । वराहमिहिर का कुल मगध से अवन्ती आकर बस गया होगा या अवन्ती में उसे आचार्यत्व की प्रतिष्ठा मिली होगी, था तो वह "मगधीद्विज"ही । 'मगध'नाम मगध(= मग धारयतीति मगधः) और मागी वर्ण–व्यवस्था के क्षत्रिय वर्ण के लिए मगध नाम तथा उत्तरवैदिक काल (द्र.वैदिक इंडेक्स, भाग–2,पृ.116) से ही श्रौत–स्मार्त–परम्परा में मगध–क्षेत्र की निन्दा–परम्परा–ये बातें ऐसी हैं जो ई.पू. की शताब्दियों से ही मगध को मगों की निवास भूमि प्रमाणित करती हैं । पुनः भविष्य पुराण (1.117.53) में "मग"और "मगध"को पर्यायवाची रूप में प्रस्तुत किया गया है–

"ना भोज्यं भुंजते यस्मात्तेन ते भोजका स्मृताः ।
मगं ध्यायन्ति ते यस्मात्तेन ते मगधाः स्मृताः ।।"

मगध की पौराणिक ऐतिहासिक महत्ता को कम नहीं किया जा सकता । यह शब्द विवादास्पद हो सकता है पर मगध (क्षेत्र) से लेकर मगहर (क्षेत्र) तक मग–द्विजों की उपस्थिति आज भी देखी जा सकती है; साथ ही मागी कला विशेषतः प्रतिमा–निर्माण–कला का महत्वपूर्ण क्षेत्र भी "मगध"ही रहा है । भारतीय कला में सूर्य का अंकन वस्तुतः मागी देन है, इसके अतिरिक्त सूर्य–प्रतिमा में अव्यंग, उपानह,सूर्य के अनुचरों दण्ड व पिंगल तथा उदीच्य वेश का प्रचलन मागियों की ही देन है । इन प्रतीक तत्वों के साथ सूर्य–प्रतिमाओं का क्रमिक विकास व समस्त उत्तर भारत में इनकी पूजा का प्रसार मागी मत के महत्व को सूचित करता है । अन्ततः यही कहना होगा कि मगों ने विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में वैशिष्ट्य प्रदर्शित करके अपना सामाजिक स्तर शनैः शनैः ऊँचा किया और राजकीय संरक्षण अर्जित किया । यह उनकी महत्ता का परिचायक है ।

गोविन्दपुर शिलालेख मगों की विशेषताओं का परिचय प्रस्तुत करता है । इसके अनुसार लेखकार का परिवार वेदों के प्रति समुत्सुक विहित कृत्यों के प्रति श्रद्धालु, शिक्षा एवं ज्ञान के लिए विश्रुत, ज्योतिर्विद, निरुक्त के ज्ञाता, छन्द (साहित्य) में पटु और व्याकरण ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था । संक्षेपतः यह वर्ग वेदों तथा वेदांगों के प्रति निष्ठावान् था । शाकद्वीपी ब्राह्मण अपनी बहुविध विशेषताओं के कारण समाज में अपनी महत्ता को बनाये रख सके और इसी कारण ये न तो काल प्रवाह से समाप्त हुए और न ही मूल धारा में समन्वित । ब्राह्मण समाज की दृष्टि सदैव इनके प्रति द्वेष पूर्ण रही तथापि अपनी योग्यताओं के आधार पर ये समाज में विशिष्ट और महत्वपूर्ण रहे । एक आभिलेखिक साक्ष्य ध्यातव्य है–

देवो जीयात् त्रिलोकीमणिरियमरुणो यन्निवासेन पुण्यः,
शाकद्वीपश्च दुग्धाम्बुधिवलयितो यत्र विप्रामगारूपाः ।
वंशस्तद्वद्द्विजानां भ्रमिलिखिततनोर्भास्वतः स्वाङ्गमुक्तः,
साम्बोयानानिनाय स्वयमिहमहितास्ते जगत्यां जयन्ति[1] ।।

"त्रिलोकीमणि यह अरुणदेव (रक्तवर्ण सूर्य) विजयी हों जिनके निवास से दुग्धाम्बुधि से परिवेष्टित शाकद्वीप पुण्य (पवित्र)है और जहाँ "मग" नामक ब्राह्मण रहते हैं। शाण से तराशे गए शरीरवाले भास्वान् (सूर्यदेव) की देह से निकला ब्राह्मणों का यह वंश उसी प्रकार का(भा युक्त)है जिन्हें साम्ब यहाँ लाए, वे स्वयं ही प्रशंसनीय हैं । इस जगती में वे विजयी (उत्कर्षयुक्त) हैं ।"

1. मग कवि गंगाधर, गोविन्दपुर शिलालेख

परिशिष्ट–एक

शकस्थान : शाकद्वीप की पहचान की समस्या

शाकद्वीप की पहचान अद्यावधि विवादास्पद रही है । शाकद्वीप सम्बन्धी विवरण के लिए मुख्यतः दो प्रकार के स्रोत हैं–भारतीय व भारतेर ।

भारतीय स्रोत– मगों के आदि स्थान के लिए महाभारत[1] में सर्व प्रथम शाकद्वीप का नाम आया है, पुनः मथुरा[2] "सिंह–शीर्षक–स्तम्भ" में शकस्थान का उल्लेख है । अनेक पुराण[3] भी इस सन्दर्भ की चर्चा करते हैं जिसके अनुसार साम्ब ने सूर्यपूजक मगों को लाने के लिए गरुड़ को शाकद्वीप भेजा और उन्हें लाकर चन्द्रभागा नदी के तट पर मूल स्थान में नव निर्मित सूर्य–मन्दिर में पुरोहित के पद पर प्रतिष्ठित किया । भविष्य पुराण[4] के अनुसार शाकद्वीप जम्बूद्वीप से इतर लवण सागर के दूसरे तट पर स्थित है जिसके चतुर्दिक क्षीर समुद्र है । महाभारत[5] में भी शाकद्वीप के चतुर्दिक क्षीर सागर होने की चर्चा है । वायु पुराण[6] में शाकद्वीप को क्षीरोद सागर का तटवर्ती माना गया है । मत्स्य पुराण[7] उसे लवण सागर का तटवर्ती मानता है। मत्स्य पुराण[8] में शाकद्वीप में स्थित एक शाकवृक्ष की भी चर्चा है जिससे शाकद्वीप नाम की उत्पत्ति हुयी। यह विवरण महाभारत में भी मिलता है ।

मत्स्य पुराण (122.29–33) शाकद्वीप की सात गंगाओं की भी चर्चा करता है– अनुतप्ता, सती, नन्दा, शिविका, इक्षू, वेणुका, सुकृता । बाल्मीकीय रामायण[9] में भी गंगा की सात शाखाओं की चर्चा है–हृदिनी, पावनी, नलिन, सुचक्षु, सीता, सिन्धु और गंगा के नाम से। उपर्युक्त विवरण शाकद्वीप को भारत से इतर सागर का तटवर्ती प्रदेश मानते हैं जिसके मध्य एक शाक वृक्ष था और इस प्रदेश में बहने वाली अनेक नदियों में एक इक्षू थी। महाभारत में शाकद्वीप में बहने वाली दो नदियों की चर्चा है चक्षुर्वर्धनिका एवं कुमुद।

---

1. महाभारत, भीष्म पर्व, 11.36–38
2. परमानन्द गुप्त द्वारा ज्योग्राफी इन एन्शेन्ट इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, जे.बी.आर.ए.एस., खण्ड–10, पृ.375; उद्धृत ।
3. भविष्य पुराण, अ. 139, साम्ब पुराण–अ., 3,29,26, ब्रह्मपुराण अ.–20,
4. भविष्य पुराण, 1.139.71–72 लवणोदात्परे पारे क्षारोदेन समावृतः ।
   जम्बूद्वीपात्परो यस्माच्छाक द्वीप इति स्मृतः ।
5. महाभारत, पूर्वोद्धृत
6. वायु पुराण, 49.99
7. मत्स्य पुराण, 122.10
8. मत्स्य पुराण, 122 .27
9. रामायण, बालकाण्ड, 42.13–14

इन्हें ही कोमेदाइ और जख़ार्तुस[1] कहा गया । कोमेदाइ को चीनियों ने–की–यू–मी और अरब यात्रियों ने अल–कुमेध कहा है ।

भारतेतर साक्ष्य– भारतेतर साक्ष्यों में मुख्य यूनानी यात्रा–वृत्तकारों के विवरण एवं ईरानी सम्राटों के लेख हैं । हेरोडोटस[2] ने स्कीथिया का उल्लेख किया है जो सागर का तटीय क्षेत्र था। स्ट्रैबो[3] के अनुसार सुग्द और शकों के मध्य जख़ार्तुस् नदी बहती थी तथा सुग्द एवं बैक्ट्रिया के बीच की सीमा ऑक्सस नदी थी । टॉलमी[4] ने शकों के सम्बन्ध में किसी अज्ञात यात्री को उद्धृत किया है जिसके अनुसार शक सुग्द (सोग्दियाना) के पूर्व में रहते थे । डियोडोरस [5] ने स्कीथिया के वही विवरण दिये हैं जो हेरोडोटस के हैं लेकिन उसके काल तक शकों ने अपना विस्तार सिन्धु तक कर लिया था ।

डेरियस के बेहिस्तून[6] व पर्सिपोलिस अभिलेखों में शकों की चर्चा है जिनकी तीन शाखाएँ थीं–(1) शक–हओमवर्क (2) शक–तिग्रज़ैन्द (Tigraxanda) एवं शक त्येतिरोजूस (Tyetirojya)।

इनमें से शक तिग्रजैन्द का वास–स्थान कुछ विद्वानों ने द्रंजियाना के निकट बताया है। परवर्ती काल में जिसे शक–स्थान कहा गया[7] । डेरियस के हमादान[8] लेख में शकों को सोग्दियाना का दूरवर्ती कहा गया है । शक–स्थान के सम्बन्ध में प्राचीनतम विवरण "चरख के इसिदर"[9] का है (जिसका काल 27 ई. पू. से 14 ई. तक है) जिसमें शक स्थान की स्थिति द्रंजियाना के पूर्व में वर्णित है । उसके अनुसार शक अपने आदि निवास भूमि से द्वितीय शती ईसा पूर्व में शक स्थान में आये ।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों ने भी शाकद्वीप की पहचान विषयक समस्या पर विचार किया है । गैरेनी[10] ने शाकद्वीप की पहचान श्याम–कम्बोदिया से की है किन्तु बुद्ध प्रकाश[11] के अनुसार शाकद्वीप की उपस्थिति सुदूर पूर्व में संभव प्रतीत

---

1. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अखामेनिड्स इन इण्डिया, पृ 26
2. हेरोडोटस 4
3. स्ट्रैबो, 11.8.2
4. एस.एन.चोपड़ा,द मीडियन्स एण्ड द इन्डियन सोलर कल्ट, जे.आई.एच. खण्ड 54, सं. 3, पृ.523.
5. तत्रैव, पृ. 524
6. ओल्ड पर्सियन ग्रामर–टैक्सट्स–लेकसकॉन, जेम्स.बी. प्रीचर्ड द्वारा सम्पादित, पृ.116 एवं आगे।
7. डॉ. जे.रैप्सन, सी.एच.आई.खण्ड 1, पृ.564 65
8. पूर्वोद्धत–ओल्ड पर्सियन ग्रामर–टेक्स्ट–लेक्सिकॉन, पृ.–137
9. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अखामेनिड्स इन इण्डिया,पृ.27
10. जी.इ.गेरेनी,रिसर्चेज ऑन टॉलमीज ज्योग्राफी ऑफ इस्टर्न एशिया पृ.164–65
11. बुद्ध प्रकाश, शाकद्वीप, पुराणम्, खण्ड 3, सं. 2, पृ.285–86

नहीं होती, अपितु इसे कैस्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेश में होना चाहिये।विद्याभूषण[1] ने इसकी पहचान सोग्दियाना एवं राय चौधरी ने आधुनिक सीस्तान से की है । एन. एल.डे[2] ने हेरोडोटस के स्कीथिया सम्बन्धी विवरण, पुराणों एवं महाभारत में वर्णित शकस्थान का समन्वय प्रस्तुत किया है । कतिपय अन्य विद्वानों ने भी शाकद्वीप की पहचान की है । एल.पी.पाण्डेय[3] ने शाकद्वीप की पहचान सौराष्ट्र क्षेत्र से की है ।

वी.सी.श्रीवास्तव[4] के अनुसार सीस्तान ही शाकद्वीप हो सकता है । माया प्रसाद त्रिपाठी [5] भी सीस्तान को ही शाकद्वीप मानते हैं । सत्यश्रवा [6] के विचार में भी सीस्तान ही शाकद्वीप है ।

पर्सिपोलिस से प्राप्त एक पहलवी लेख[7] में जिसका काल 310-11 ई. है, शापुर II को सिन्ध शकस्थान एवं तुखारीस्तान के राजाओं का राजा कहा गया है । इससे स्पष्ट है कि चौथी शती ई. तक शकस्थान नाम प्रचलन में था । पौराणिक शाकद्वीप की स्मृति, कथा सरित्सागर [8], हर्ष चरित[9] एवं कादम्बरी [10] में भी सुरक्षित है । मथुरा[11] "सिंह-शीर्षक-स्तम्भ" में कम्बोज से तक्षशिला तक के प्रदेश को शक-स्थान माना गया है ।

महाभारत से शाकद्वीपीय सामाजिक व्यवस्था की भी सूचना मिलती है जिसकी पुष्टि विष्णु पुराण[12] एवं भविष्य पुराण[13] से होती है, जहाँ शाकद्वीपीय समाज के चार वर्णों की सूचना है-मग, मागध, मामग एवं मन्दग नाम से । हेरोडोटस[14] से शकसमाज के तीन वर्णों की सूचना मिलती है- कृषक, योद्धा एवं विद्वत् वर्ग । कालान्तर में इसमें एक वर्ग और सम्मिलित हुआ शिल्पकारों का[15]।

---

1. एस.सी. विद्याभूषण, आर.के.अरोरा,हिस्टॉरिकल एण्ड कल्चरल डाटा फ्राम द भविष्य पुराण, पृ. 30 पर उद्धृत ।
2. एन.एल.डे, ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शेन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया
3. एल.पी.पाण्डेय, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.185
4. वी.सी.श्रीवास्तव, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया,पृ. 244
5. माया प्रसाद त्रिपाठी, डेवलपमेन्ट ऑफ ज्योग्राफिक नॉलेज इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.344,357
6. सत्यश्रवा, शकाज इन इण्डिया, पृ.10
7. ए.जयराज बॉय, फॉरन इन्फलूएन्स इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.157
8. कथा सरित्सागर 9.4.20
9. हर्ष चरित, पृ. 59,216,258
10. कादम्बरी, पृ. 259
11. परमानन्द गुप्ता,ज्योग्राफी इन एन्शेन्ट इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स
12. महाभारत,भीष्म पर्व 11.36.38
13. भविष्य पुराण, 1.139.75
14. हेरोडोटस, 4.5-6
15. जे.सी.तवाडिया, जीरोस्ट्रीयन्स एण्ड प्री जोरस्ट्रीयन्स,जे.बी.आर.ए.एस.खण्ड-28, पृ. 180-181.1953

ज्ञातव्य है कि मागी संक्रमण की तीसरी धारा जो शक–कुषाण काल से सम्बंधित है, शक क्षेत्र से सम्बद्ध प्रतीत होती है । अतीत में ये मग किसी स्थान पर शकों के साथ रह चुके थे । इसलिए मूल भूमि के रूप में शाकद्वीप की कल्पना उनके मानस में थी, जिसके स्रोत संदर्भ पुराणों में हैं । विभिन्न स्रोतों से हमें ज्ञात है कि शक एक यायावर वर्ग था, अतः उनके निवास समय–समय पर बदलते रहे । हेरोडोटस[1] से सूचना मिलती है कि हखामनी शासक डेरियस के राज्यारोहण के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ही शकों ने मीडिया विजय कर ली थी। इस दृष्टि से लगभग 1500 ई. पू. में मीडिया शकस्थान था । डियोडोरस[2] के विवरण के अनुसार उसके काल में शकों का प्रभुत्व भारत के सीमावर्ती प्रदेशों तक था। अस्तु शकों के इस नवीन प्रभुत्व क्षेत्र को भी शक स्थान कहा जा सकता है । यह क्षेत्र जिसे कालान्तर में सीस्तान कहा गया, शक स्थान के रूप में अधिक मान्य रहा । शकों का निवास काल भी इस क्षेत्र में अधिक रहा । सम्भवतः हाखामनी काल से हेलेनिक[3] काल तक । महाभारत[4] काल में सिन्धु तीर पर शकों की उपस्थिति का ज्ञान महाभारतकार को भी था ।

इस प्रकार एक कालावधि में भले ही सीस्तान को ही शक स्थान मान लें पर उसे शकों के साथ ही मगों की मूल भूमि मान लेना अप्रांसगिक और त्रुटिपूर्ण होगा । मगों की मूल भूमि (मूल क्षेत्र) पर हम प्रथम अध्याय में विचार कर ही चुके हैं । यहाँ शाकद्वीप की पौराणिक स्मृति को रेखांकित करने की बात है, इस सन्दर्भ में उपर्युक्त साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि पौराणिक स्मृति में शाकद्वीप की स्थिति सीस्तान से ही मेल खाती है, जहाँ शकों के प्रभुत्व के साथ–साथ मागी मत का वर्चस्व अत्यन्त प्रभावी रहा होगा और जिसका कालान्तर में भारत भूमि पर व्यापक प्रभाव पड़ा ।

---

1. हेरोडोटस, 1-104
2. डियोडोरस, 11.43
3. एफ. डब्लू. थॉमस, जे.आर.ए.एस. 1906, पृ.181 एवं आगे सुधाकर चट्टोपाध्याय द्वारा अखामेनिडस इन इण्डिया, पृ–26 में उद्धृत ।
4. महाभारत, अनुशासन पर्व , 33.19

   शका यवन काम्बोजास्तास्ताः क्षत्रिय जातयः ।
   वृषलत्वं परिगता ब्राहमण नाम दर्शनात् ।।

परिशिष्ट–दो

मागी परम्परा के तीन प्रमुख सौर केन्द्र

मागी सूर्य पूजा के तीन प्रमुख केन्द्र माने गए हैं जिनकी चर्चा साहित्य में भी बार–बार हुई है। ये तीनों मन्दिर थे – समुद्र तट पर कोणार्क मन्दिर, यमुना तट पर कालप्रिय मन्दिर तथा चन्द्रभागा के तट पर मूल स्थान का मन्दिर। कोणार्क–मन्दिर आज भी अपने स्थापत्य–वैभव का नमूना प्रस्तुत करता है जबकि अन्य दोनों मन्दिर पौराणिक गाथा बन चुके हैं । साम्ब पुराण में एक स्थान पर साम्ब सूर्य–संवाद उद्धृत है जिसमें सूर्य को यह कहते हुए दिखाया गया है–

साान्निध्यं मम पूर्वाह्ने सुतीरे द्रक्ष्यते जनः ।
कालप्रिये च मध्याह्नेऽपराह्ने चात्र नित्यशः ।। 26.14

अर्थात् "लोगों को मेरा सान्निध्य प्रातः सुतीर (सिन्धु तीर) पर, मध्याह्न में कालप्रिय पर और सायंकाल चन्द्रभागा के तीर पर स्थित मूल स्थान में ही होगा" । यही बात अन्यत्र वाराह पुराण में भी दिखाई देती है जिसके द्वारा सूर्य मूर्ति की स्थापना उदयाचल पर यमुना के दक्षिण में कालप्रिय देव के रूप में और अस्तमानाचल पर अर्थात् मूल स्थान में करने का निर्देश है । तात्पर्य यह कि सूर्य के उदय मध्याह्न और अस्तंगत रूप के प्रतीक के रूप में, पूर्व में कोणार्क, मध्य में कालप्रिय और पश्चिम में मूलस्थान के विख्यात सूर्य–मन्दिरों का निर्माण किया गया जो समग्र उत्तर भारत में इस विशिष्ट पूजा–परम्परा को उद्भाषित करते हैं । वस्तुतः मूल स्थान (दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से दूसरी शताब्दी ई.) कालपी (सम्भवतः छठी-सातवीं शताब्दी ई.) तथा कोणार्क (तेरहवीं शताब्दी का मध्य) के मन्दिर के निर्माण काल एवं इन स्थानों की स्थिति मागी सूर्योपासना के क्रमिक प्रसार के भी द्योतक हैं ।

1. **मूलस्थान** – हाजरा[2] के विचार में "मूलस्थान" से तात्पर्य भारतवर्ष में मागी सूर्य उपासना परम्परा के मूल स्थान से है[3] । भविष्य व साम्ब पुराणों[4] में इसे आद्यस्थान (आदि स्थान)

---

1. वाराह–पुराण– 178.55–57
   साम्बः सूर्य प्रतिष्ठां च कारयामास तरुववित् ।
   उदयाचले च संश्रित्य यमुनायाश्च दक्षिणे ।।
   मध्ये कालप्रिय देवं मध्याह्ने स्थाप्य चोत्तमम्
   मूलस्थानं तत् पश्चात् अस्तमानाचले रविम् ।
   स्थाप्य त्रिमूर्ति साम्बस्तु प्रातर्मध्यापराह्णिकम ।।
2. आर.सी. हाज़रा, स्टडीज इन द उप पुराणज, खण्ड–1, पृ.39
3. कनिंघम ने "मूल" का अर्थ "सूर्य" अतः मूलस्थान का अभिप्राय "सूर्य देव के मन्दिर का नगर" माना है । इस स्थान के कई नाम मिलते है यथा मित्रवन, कश्यपपुर, हंसपुर भगपुर, साम्बपुर, प्रह्लादपुर और आद्यस्थान । ये सभी नाम स्पष्टतः सम्बद्ध है सूर्योपासना से –द्र., कनिंघम ज्योग्राफी ऑफ ऐंसियेन्ट इण्डिया, पृ. 156
4. आर.सी. हाज़रा, तत्रैव, पृ–105

कहा गया है । साम्बाख्यान[1] से भी यह स्पष्ट होता है कि सूर्य की प्रतिमा पूजा व मन्दिर निर्माण की शैली का प्रारम्भ सर्वप्रथम मूलस्थान से ही हुआ । यहाँ का सूर्य मन्दिर ईसा[2] पूर्व दूसरी शताब्दी से ई. पश्चात् की दूसरी शताब्दी के मध्य निर्मित हुआ होगा । यह क्षेत्र वस्तुतः ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी से ही सूर्य–उपासना का महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा है जिसकी पुष्टि इस क्षेत्र के पुरावशेषों[3] से भी होती है । मूल स्थान या आधुनिक मुल्तान (पाकिस्तान) के क्षेत्र को महाभारत में (सभा पर्व–अ.31) मालवा कहा गया है जो हस्तिनापुर के पश्चिम में स्थित था । रामायण[4] इसकी चर्चा मल्लभूमि के नाम से करता है । सिकन्दर के इतिहासकार इसका उल्लेख मल्लिक देश[5] के नाम से करते हैं । यह स्थान विष्णु के नृसिंहावतार से भी सम्बद्ध किया गया है। कुछ काल पूर्व तक यहाँ नृसिंह का एक मन्दिर था जिसके नाम पर मन्दिर के क्षेत्र को प्रह्लादपुरी[6] भी कहा जाता था । यह स्थान (मुल्तान) मल्ल देश की राजधानी थी । मूल स्थान में प्रतिष्ठित होने के कारण इस सूर्य–पीठ को मूलादित्य भी कहा गया है । मूल स्थान का सूर्य मन्दिर वर्तमान मुल्तान से चार मील दक्षिण में था। इसके निकट एक सरोवर भी था जिसका व्यास132 फीट तथा गहराई 10 फुट थी[7]। सातवीं शताब्दी में भारत आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इसका उल्लेख महत्वपूर्ण सूर्य पूजक क्षेत्र के रूप में किया है जहाँ दूर–दूर से लोग आया करते थे। ह्वेनसांग ने मन्दिर में स्वर्ण प्रतिमा स्थापित होने की बात कही है और मन्दिर के चतुर्दिक सरोवर होने का भी संकेत किया है, जिसके तट पर वृक्ष लगे थे । देव प्रतिमा बहुमूल्य रत्नों से आच्छादित अलंकृत थी[9] । शाहनामा[10] के विवरण के अनुसार–मुल्तान के शासक जिबाविन ने, जो ब्राह्मण वर्ग से सम्बन्ध रखता था नगर के पूर्व दिशा में एक सरोवर का निर्माण करवाया था। इस सरोवर के मध्य में एक मन्दिर भी बनाया गया जिसमें सोने की देव प्रतिमा स्थापित की गयी थी। 713 ई. में मुहम्मद कासिम[11] ने मुल्तान पर आक्रमण किया तथा मन्दिर की अन्य सम्पदा के साथ–साथ देव प्रतिमा भी लूट कर ले गया । इसके पश्चात मन्दिर में काष्ठ की देव प्रतिमा स्थापित की गयी । अल–मसूदी[12] ने जो 915 ई. के आस–पास भारत आया

---

1. सांम्ब पुराण–24.26
2. वी.सी.श्रीवास्तव, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया,पृ. 323
3. एच.डी. सांकलिया, आर्कियोलोजी ऑफ गुजरात, पृ. 60,80,137, 212
4. रामायण, उत्तर काण्ड, 115
5. एन.एल.डे,द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शेन्ट एण्ड मेडिकल इण्डिया
6. ए.।कनिंघम, ज्योग्राफी ऑफ एन्शेन्ट इण्डिया, पृ. 230
7. एन. एल.डे, द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शेन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया
8. एसंबील,बुद्धिस्ट रिकार्डस ऑफ वेस्टर्न कन्ट्रीज, खण्ड–2, पृ.274
9. तत्रैव
10. बी.डी.मीर चन्दानी, जे.आई.एच.,खण्ड–46,सं. 2, अगस्त 1968, पृ.274
11. तत्रैव
12. तत्रैव,पृ. 212

था मुल्तान के मन्दिर की काष्ठ प्रतिमा का उल्लेख मूलादित्य (या मूल देव) के नाम से किया है । उसके कुछ समय पश्चात् दूसरा अरब यात्री अल–इश्तखरी[1] भारत आया । इश्तखरी ने मुल्तान के मन्दिर का विवरण दिया है । उसके अनुसार यह मन्दिर नगर के मुख्य भाग में था । देव प्रतिमा मानवाकृति में बैठी मुद्रा में थी । प्रतिमा पूर्णतया लाल रंग के चर्म से मढ़ी हुई थी जिससे इसकी मात्र आँखे ही दिखती थीं, जो बहुमूल्य रत्नों की थीं । प्रतिमा के हाथ घुटनों पर रखे थे। सम्भवतः यह प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में रही होगी । ग्यारहवीं शताब्दी ई. में भारत आने वाला अरब यात्री अलबेरूनी[2] ने इस प्रतिमा का उल्लेख आदित्य के नाम से किया है । उसके अनुसार यह प्रतिमा काष्ठ की थी तथा लाल रंग के चर्म से आच्छादित थी । इस प्रतिमा की आँखे माणिक की थीं । अरब आक्रमण के कारण इस स्थान को काफी क्षति पहुंची और अंततः यह मुगल काल में औरंगजेब के द्वारा ध्वस्त करा दिया गया ।

2. **कालप्रिय** – इसकी पहचान आधुनिक कालपी[3] से की गयी है किन्तु इस पर मतभेद है । कॉणे व भण्डारकर[4] प्रभृति विद्वानों ने इसकी पहचान उज्जयिनी के महाकाल से स्थापित की है, जो समीचीन प्रतीत नहीं होती। मिराशी[5] व अल्तेकर[6] ने इसको कालपी माना है । वर्तमान कालपी मान्यखेट–कन्नौज मार्ग पर कन्नौज से 75 मील की दूरी पर स्थित है । संस्कृत के प्रसिद्ध कवि–नाटककार भवभूति (आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध) के तीन नाटकों (मालती माधव, महावीर चरितम् एवं उत्तर राम चरितम्) का मंचन कालप्रिय देव–मन्दिर के प्रांगण में देव–दर्शन हेतु आये तीर्थयात्रियों के मध्य हुआ था । मिराशी के अनुसार तत्कालीन कालप्रिय में सूर्य का विशाल देवालय था जिसकी ख्याति सर्वत्र थी । वहां यात्रा के निमित्त दूरस्थ प्रदेशों से हजारों लोग आया करते थे । नटों का समुदाय लोकाश्रय के लिए यहाँ नवीन–नवीन नाटकों मंचन का किया करता था। कालप्रिय नाथ से सूर्य का समीकरण करते हुए मिराशी ने मालती माधव की दो हस्तलिखित प्रतियों का आधार प्रस्तुत किया है । इसमें कालप्रिय नाथ स्पष्टतः सूर्य का नाम है– भगवतः कालप्रियनाथस्य सकल जगदेक चक्षषो विश्वात्मनः सूर्यस्य...... ।[7] अस्तु कालपी ही कालप्रिय है और कालप्रिय देव मन्दिर ही सूर्य का मध्यान्ह में सान्निध्य प्रदान करने वाला परम पावित्र सूर्य मन्दिर ।

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड वाई इट्स ओन हिस्टॉरियन्स, खण्ड–1, पृ. 28
2. साचाउ, अल्बेरूनीज इण्डिया, पृ.116
3. मिराशी, श्री फेमस टेम्पल्स ऑफ द सन, पुराणम्, खण्ड–8, सं.–1, पृ. 42
4. पी.वी.कॉणे, (सम्पादित) उत्तर रामचरित, भूमिका, भण्डारकर, एपिग्रैफिया इन्डिका, खण्ड–7, पृ.30
5. बी.बी. मिराशी, आइडेन्टीफिकेशन ऑफ कालप्रिय, स्टडीज इन इन्डॉलाजी, खण्ड–1, पृ.33
6. ए.एस. अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज एण्ड दीयर टाइम्स, पृ. 102
7. बी.बी. मिराशी, भवभूति, पृ. 84–85

3. **कोणार्क –** सूर्य क्षेत्र के रूप में विख्यात तीसरे स्थान को कोणार्ककहा गया है । कोणार्क के अतिरिक्त इसे सुतीर, मुंडीर, उदयाचल, सूर्यकानन, रवि क्षेत्र, मित्रवन, सूर्यक्षेत्र एवं पद्म क्षेत्र भी कहा गया है । ब्रह्म पुराण[1] में इसे उत्कल या ओंड्र देश (वर्तमान उड़ीसा) में स्थित बताया गया है । कोणादित्य की पहचान आधुनिक कोणार्क[2] से की गयी है जबकि डॉ. कॉणे[3] इसको गुजरात में स्थित मोढ़रा मानते हैं । कोणार्क वर्तमान जगन्नाथ पुरी से 24 मील पश्चिमोत्तर कोण पर स्थित है । वस्तुतः जगन्नाथपुरी के कोण पर इस (सूर्य)अर्क मन्दिर के स्थित होने के कारण ही इसे कोणार्क(कोण पर अवस्थित अर्क) कहा गया ।

इस स्थान को चन्द्रभागा[4] भी कहा जाता है । भविष्य पुराण[5] में कोणार्कका उल्लेख तो नहीं है परन्तु सूर्य के एक नाम कोण–बल्लभ की चर्चा अवश्य है । साम्ब पुराण[6] कोणार्क के मन्दिर को भी साम्ब निर्मित मानता है, यद्यपि ऐतिहासिक गाथाओं के अनुसार इसका निर्माण गंग नरेश नरसिंह देव ने करवाया[7] था । इस मन्दिर का निर्माण–काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य है। परम्परानुसार नरसिंह देव प्रथम ने कुष्ठ रोग से मुक्ति अथवा अपनी विजयों की स्मृति स्वरूप इस विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया था । प्रख्यात कलाविद् पर्सी ब्राउन[8] के विचार में यह मन्दिर नागर शैली के शिल्पियों के शताब्दियों के अभ्यास को मुखर करता है । डॉ.मीराशी[9] ने इस स्थान को प्राचीन सूर्य–क्षेत्र माना है जहाँ बाद में सूर्य–मन्दिर का निर्माण कराया गया । ए.एल.मेहता[10] के विचार में कोणार्क का मन्दिर प्राचीन निर्माण पर नवीन संरचना है ।

इस प्रकार सूर्योदय के प्रतीक रूप में निर्मित उड़ीसा का कोणार्क, मध्याह्न का प्रतीक कालपी का कालप्रिय तथा पश्चिम में अस्तंगत सूर्य का प्रतीक मूल स्थान के मन्दिर ही परम्परानुसार मागी सूर्योपासना के केन्द्र थे ।

---

1. ब्रह्म पुराण, 28.32
2. हाजरा, स्टडीज इन द उप पुराणाज, खण्ड1, पृ.146,मिराशी, श्री एन्शेन्ट फेमस टेम्पल्स ऑफ द सन,पुराणम्, खण्ड–8, सं.–1, पृष्ठ–4 ।
3. पी. वी. कॉणे (सम्पादित) उत्तर रामचरित ऑफ भवभूति, भूमिका
4. एन.एल.डे, ज्यॉग्राफीकल डिक्शनरी ऑफ इन्शेन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया
5. भविष्य पुराण, 1.150.53
6. साम्ब पुराण, 42.43
7. एल.पी.पाण्डेय, सन वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ.220
8. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ.107
9. वी .वी.मिराशी, भवभूति, पृ. 85
10. ए.एल.मेहता, एन्टिक्विटीज ऑफ उड़ीसा, खण्ड–1, पृ.250

परिशिष्ट–तीन

शाकद्वीपी ब्राह्मणोंके 72पुर, 18 एवं 16 गोत्र*

तथा वेदोपवेदादि

1. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । आस्पद; मिश्र । पुर, उरु–उरुवार । यजुर्वेद। धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, टेकारी ।

2. कौण्डिन्य गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, खनेटा–खन्टवार । सामवेद । गंधर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, बेलागञ्ज ।

3. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, छेरियार–छेरियारी । सामवेद । गंधर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, मकदूमपुर !

4. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, मखया–मखपवार । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, टेकारी ।

5. कौण्डिन्य गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, वरा–कुरैवार । सामवेद ।गन्धर्व वेद। शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, कुरथे । पश्चिम में आने वाले ऋषि का नाम, कौण्डिन्य । पश्चिम में खाँप, कुवारा । पश्चिम में वेदगोत्र, गौतम। पश्चिम में भैरव, काला । देवी, चामुण्डा ।

6. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, देवकुली–देवकुलियार । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, देव (कुली) । पश्चिम में आने वाले ऋषि का नाम, कटात । पश्चिम में खाँप, कटारिया, पश्चिम में वेदगोत्र, कपिञ्जल । पश्चिम में भैरव, गौर । पश्चिम में देवी, चामुण्डा ।

7. शाण्डिल्य गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, भलुनी–भलुनियार । सामवेद । गन्धर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, आरा–शाहाबाद । पोस्ट, दीनार । पश्चिम में आने वाले ऋषि का नाम, मघवन् । पश्चिम में खाँप, मुथरिया । पश्चिम में वेदगोत्र, काश्यप । पश्चिम में भैरव, काला । पश्चिम में देवी, संचिया, सिद्धमाता ।

---

* पं. रवेन्द्र नाथ शुक्ल की पुस्तक ब्राह्मण समाज का ऐतिहासिक अनुशीलन, काशी, पृ.278–288 से साभार ।

8. भृगु गोत्र । प्रवर, पाँच । मिश्र । पुर, डुवरी–डुमरियार । ऋग्वेद । आयुर्वेद। शाखा, शाकल । सूत्र,आश्वलायन । छन्द, गायत्री । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव, ब्रह्ममा । जनपद,गया । पोस्ट,दुर्गावती ।

9. भारद्वाज गोत्र । प्रवर,तीन । मिश्र । पुर,पड़ारी–पडरियार । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव रुद्र । जनपद,पटना । पोस्ट, विक्रम ।

10. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, अदई–अदइयार । शेष, संख्या9 की भाँति । जनपद, गया । पोस्ट,कोच ।

11. कौशिक गोत्र । प्रवर,तीन । मिश्र । पुर श्यामरो–श्यामरियार । सामवेद । गन्धर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण,वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, आज़मगढ़ । पोस्ट, सोमरी ।

12. भारद्वाज गोत्र । प्रवर,तीन । मिश्र । पुर, पवई–पवइयार । यजुर्वेद । धनुर्वेद। शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव,रुद्र । जनपद,गया । पोस्ट, औरंगबाद ।

13. वत्स (गर्ग) गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, ओडो–ओडरियार तथा पीतियार । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा,कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट हसुवा ।

14. पराशर गोत्र । प्रवर,तीन । मिश्र । पुर, ग्राम,पवई–शकुनी (मौल) । योतियार । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, सासाराम ।

15. पराशर गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, आयेर–ऐआरो । शेष वेद से कुलदेव तक सं.14 की भाँति । जनपद, आरा–शाहाबाद । पोस्ट, गड़हनी ।

16. पराशर गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, आयेर–सरैयार । वेद से कुलदेव तक संख्या 14 की भाँति । जनपद तथा पोस्ट, संख्या 15 की भाँति ।

17. कौण्डिन्य गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, वेरी–सिवौरियार । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, मदनपुर ।

18. कौशिक गोत्र । प्रवर,तीन । मिश्र । पुर, छतियाना–छत्रवार । सामवेद । गन्धर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद,गया । पोस्ट, बैला । पश्चिम में आने वाले ऋषि का नाम, छाप्रवेन । पश्चिम में गोत्र (खांप) छाप्रवाल । पश्चिम में वेदगोत्र, चान्द्रास्य । भैरू, काला । देवी, चामुण्डा ।

19. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, वरा–वारवार । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, पैरइया ।

20 भृगु गोत्र । प्रवर, तीन, पाँच । मिश्र । पुर, बँधवा–बद्धवार(योधयार) । ऋग्वेद । आयुर्वेद । शाखा, शाकल । सूत्र, आश्वालायन । छन्द, गायत्री । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, ब्रह्मा । जनपद, गया । पोस्ट, पहलोजा ।

21. गर्ग गोत्र । प्रवर, पाँच । मिश्र । पुर, जमुअरा–जमुअरा । यजुर्वेद । धनुर्वेद। शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, टेकारी । पश्चिम में आने वाले ऋषि का नाम, जगवन । खाँप, जांगला । पश्चिम में वेदगोत्र, मौन्दगल (भरद्वाज)। भैरू, काला । देवी, संचिया (सिद्धामाता) ।

22. कौशिक गोत्र । प्रवर तीन । मिश्र । पुर, सिकरोर–सिकरौरिआर ।सामवेद । गन्धर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती ।शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, शाहाबाद (आरा) । पोस्ट, डुमराँव ।

23. कौण्डिन्य गोत्र ।प्रवर, तीनमिश्र ।पुर, मलौडी–मलौडियार ।वेददेवादि संख्या 22 की भाँति । जनपद, गया । पोस्ट, परइया । पश्चिम में आने वाले ऋषि का नाम, मगधय ।खाँप, मुद्याड़ा ।वेदगोत्र, वत्स्य ।भैरू, काला ।देवी, संचिया ।

24. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, रहदौली–रहदौलियार । देववेदादि संख्या 22 की भाँति । जनपद, भुज । पोस्ट, रहयार ।

25. भृगु गोत्र । प्रवर, पाँच । मिश्र । पुर, ऊँला–उल्लार्क । ऋग्वेद । आयुर्वेद । शाखा, शाकल । सूत्र आश्वलायन । छन्द, गायत्री । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव, ब्रह्मा । जनपद तथा पोस्ट, गया । संख्या 1–25 तक में केवल 25 में, अर्काम्नाय लिखा है ।

26. मुर्द्धधनी ऋषि,(मौनस) गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, पाठन–पुण्डरीक । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा - चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद- पो., पटना ।अर्काम्नाय 2–7

27. गर्ग गोत्र । प्रवर, पाँच । मिश्र । पुर, देवकुली–मार्कण्डेयार्क । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायन । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, देवकुली ।

28. शाण्डिल्य गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, सरयूतीर–वालार्क । सामवेद । गन्धर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, अयोध्या (अयोध्या को जनपद कहने का उददेश्य स्पष्ट नहीं है । अयोध्या स्वयं फैजाबाद जनपद में है) । पोस्ट, अयोध्या । पश्चिम

से आनेवाले ऋषि का नाम, शाण्डिल्य । खाँप, वलद, शाण्डेसर । वेदगोत्र, शाण्डिल्य । भैरू–गौरा । पश्चिम में देव, पिप्पलाद ।

29. भृगु गोत्र । प्रवर, पाँच । मिश्र । पुर, काशी–लोलार्क । ऋग्वेद । आयुर्वेद । शाखा, शाकल । सूत्र, आश्वलायन । छन्द, गायत्री । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव ब्रह्मा । जनपद, वाराणसी । पोस्ट, काशी ।

30. कौण्डिन्य गोत्र, प्रवर तीन । मिश्र । पुर, कोना–कोणार्क । सामवेद । गन्धर्व वेद। शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, मदनपुर ।

31. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, पुण्यार्क । सामवेद। गन्धर्ववेद । शाखा से कुलदेव पर्यन्त, संख्या 30 की भाँति । जनपद, पटना । पोस्ट, पुण्यार्क ।

32. कौण्डिन्य गोत्र । प्रवर, तीन मिश्र । पुर, पञ्चान–वरुणार्क । आदित्याम्नाय 3–12 । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद तथा पोस्ट, पटना ।

33. भरद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । पाठक । पुर, बेलामी–बिलुसैया । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गाजीपुर । पोस्ट, करण्डा ।

34. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, मलवाँ–मलोड़ियार । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, मलवाँ । पश्चिम में आने वाले ऋषि का नाम, कौशिक । खाँप, लल्लड़ । वेदगोत्र, कौशिक (कौत्स्य) । भैरू, काला । कुलदेवी, संचिया, सिद्धमाता ।

35. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । पाठक । पुर, सपहा–सर्पहार्क । वेद से कुलदेव पर्यन्त संख्या 34 की भाँति । जनपद, आजमगढ़ । पोस्ट, बाबा का बाजार ।

36. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, मोहरासुदेव–महुरसिया । वेद से कुलदेव पर्यन्त संख्या 34 की भाँति । जनपद, गया । पोस्ट, मौंरगा ।

37. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, डीहा–देवडीहार्क । यजुर्वेद । धनुर्वेद। शाखा माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, देवकुली पश्चिम में आये ऋषि का नाम, देवदत्त । खाँप, दवेरा । वेदगोत्र, शाण्डिल्य । भैरू, काला । कुलदेव अथवा इष्टदेव, खिवज ।

38 काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, डुमरा–डुमरौर । सामवेद । गन्धर्व वेद। शाखा, कौथुमी । सूत्र, गाभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, हसनपुर ।

39. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, गंगरी (शिव), शिवाण–गुनसैय्या । वेद से कुलदेव तक संख्या 38. की भांति । जनपद, गया । पोस्ट, शिवाण ।

40. कौण्डिन्य गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, कुड़वा–कुण्डार्क । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, गोह ।

41 भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, गंगरी–गन्नैया, गडवार, गण्डार्क। यजुर्वेद। धनुर्वेद। शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायनी। छन्द, त्रिष्टुप् ।शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, गंगटी ।

42. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । पाण्डेय । पुर, ऐआरी–अरिहंसिया । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण वाम । कुलदेव विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, देव । पश्चिम में आनेवाले ऋषि का नाम, आश्विन । खाँप, आशिवाल । वेदगोत्र, औपमन्य । भैरू, काला । कुलदेवी, चामुण्डा ।

43. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, डेहरी–देवलसिया (देहुलास) । वेद कुलदेवादि संख्या 42 की भाँति । जनपद, गया । पोस्ट, डेहरी ।

44. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, जुट्ठी–जुट्ठीवरी । किरणाम्नाय 4–17 । वेद कुलदेवादि संख्या 42 की भाँति । जनपद, गया । पोस्ट, डेहरी ।

45. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, कुकरौधा–कुकरैधा । वेद कुलदेवादि, संख्या 42 की भाँति । जनपद, गया पोस्ट, डेहरी ।

46. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, देवचन्दा–देववरुणार्क । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यानी । छन्द, त्रिष्टप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, आरा । पोस्ट, पीरो ।

47. अत्रि गोत्र । प्रवर, पाँच । मिश्र । पुर, देवा–देवहा । ऋग्वेद । आयुर्वेद । शाखा, शाकल । सूत्र, आश्वलायन । छन्द, गायत्री । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव, ब्रह्मा । जनपद, गया । पोस्ट, देवा ।

48. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, गोह–गोरहा । सामवेद । गन्धर्व–वेद। शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, गोह ।

49. काश्यप गोत्र । प्रवर तीन । मिश्र । पुर, सोरगंपुर–सौरियार । सामवेद । गन्धवेद । शाखा, कौथुमी । सुत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, पटना । पोस्ट, सैदाबाद ।

50. अंगिरस् गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, ठकुरी–ठकुरमेराव । यजुर्वेद ।

धनुर्वेद । शाखा, माध्यान्दिनी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, शाहाबाद (आरा) । पोस्ट, पवना ।

51. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, पंचमी–पचकण्ठी (पचकठ) ।वेद देवादि, संख्या 50 की भाँति । जनपद, गया । पोस्ट इमामगंज ।

52. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । पाठक । पुर, पंचानपुर–पंचहाय । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया । पोस्ट, टेकारी ।

53. पराशर गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, विनयार्क (काशी) एवं विनायक (गनेशपुर)–गुण्यार्क । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, टेकारी ।

54. भृगु गोत्र । प्रवर, पाँच । मिश्र । पुर, ककरही–शुण्डार्क । ऋग्वेद । आयुर्वेद। शाखा, शाकल । सूत्र, आश्वलायन । छन्द, गायत्री । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव, ब्रह्मा । जनपद, गया । पोस्ट, टेकारी ।

55. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, देव–देवयार । वेददेवादि संख्या 53 की भाँति । जनपद, गया । पोस्ट, टेकारी ।

56. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, महोश–महोशवार । वेददेवादि संख्या 52 की भाँति । जनपद, गोरखपुर । पोस्ट, मौआयर ।

57. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, अरवाल–औधियार । वेददेवादि संख्या 52 की भाँति । जनपद, गया । पोस्ट.

58. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, गंगटी– गडणर्क । यजुर्वेद । धनुर्वेद। शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया । पोस्ट, गोह ।

59. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, कोरी । किरणाम्नाय । सामवेद । गन्धर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, आरा । पोस्ट, जगदीशपुर । पश्चिम में आनेवाले ऋषि का नाम, सार्वल्य । खाँप, सावलेस । पश्चिम में वेदगोत्र, सनकस। भैरू, काला । देवी संचिया (सिद्धमाता) ।

60. मौद्गल्य गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, पुनरख–पुनरखिया । वेद देवादि संख्या 59. की भाँति । जनपद, पटना । पोस्ट, बाढ़ ।

61. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, चाँदपुर–चण्डरोह (चण्डरोटि) मण्डलाम्नाय । वेद देवादि संख्या 59 की भाँति । जनपद, पटना ।

62. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर,डीहा–डीहिक । वेददेवादि संख्या 58 की भाँति । जनपद, पटना ।

63. शाण्डिल्य गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, पिसनारी–पट्टिस । सामवेद । गन्धर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । पश्चिम में आनेवाले ऋषि का नाम, मुर्धधनी । पश्चिम में खाँप, मेडतवाल पारासर । वेदगोत्र, पारासर । भैरू, काला । देवी, संचिया ।

64. कौण्डिन्य गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, खनेटा–खड़सूप । वेद देवादि, संख्या 63 की भाँति । पश्चिमी सूचना रहित । जनपद, गया । पोस्ट टेकारी ।

65. गर्ग गोत्र । प्रवर,पाँच । मिश्र । पुर,कैथुवा–कपित्थक । वेद देवादि, संख्या 58. की भाँति । जनपद, गया ।

66. भृगु गोत्र । प्रवर पांच । मिश्र । पुर, बधवा–बलिबाँध । ऋग्वेद । आयुर्वेद । शाखा, शाकल । सूत्र, आश्वलायन । छन्द, गायत्री । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव, ब्रह्मा । जनपद, गया ।

67. वैतायन गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, खजनी–काझू (कँझ) । अथर्ववेद । उपवेद, अथर्ववेद । शाखा, शौनकी । सूत्र, आश्वलायन । छन्द, अनुष्टुप् । शिखा और चरण वाम । कुलदेव,इन्द्र । जनपद, गया ।

68. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, खजुरी–खजुरहा । सामवेद । गंधर्ववेद। शाखा, कौथुमी । सूत्र, बोधायन । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया ।

69. जमदग्नि गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, जूड़ा–जुत्थ (जुठन) । सामवेद गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद,गया । पोस्ट,कोच ।

70. वसिष्ठ गोत्र । प्रवर, पाँच । मिश्र । पुर, वरसाँ–वड़सार (वटसार) । यजुर्वेद। धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, गया ।

71. भारद्वाज गोत्र । प्रवर,तीन । मिश्र । पुर, भंडरिया–भैडापाकर । वेद देवादि संख्या 70 की भाँति । पश्चिम से आगत ऋषिनाम, मींडल्य । खाँप, भीवमाल । वेदगोत्र, भारद्वाज । भैरू, काला । संचिया (सिद्ध–माता) । जनपद, गया ।

72. जमदग्नि गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, विहरा–विहरीह । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, जगती । शिखा और चरण,वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद,गया ।

73. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, मृगा–मृगहा । सूत्र गोभिल , शेष 72 की भाँति । जनपद, गाजीपुर, बस्ती । आम्नाय, अथोपकिरण 6–(18) ।

74. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । पाठक । पुर, पठकौली–पठकौलियार । सामवेद । गन्धर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गाजीपुर, बस्ती ।

75. मिहिर गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, मिहिरसी । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी ।सूत्र, गोभिल । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव, रुद्र । पश्चिम से आगत ऋषिनाम, हरिगोन । खाँप, हीरगोती। पश्चिमी वेदगोत्र, हारीतस । भैरू, काला । देवी, चण्डी । जनपद, गाजीपुर, बस्ती ।

76. भारद्वाज गोत्र । प्रवर तीन । मिश्र । पुर, (सेत) रामपुर–स्वेतभद्र । यजुर्वेद धनुर्वेद । शाखा,माध्यन्दिनी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । पश्चिमागत ऋषिनाम, भरत । खाँप, भरतानी। वेदगोत्र, भारद्वाज । भैरू, काला । देवी, संचिया । जनपद, गाजीपुर, बस्ती ।

77. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, हुणराही–हुड़रियार । वेद देवादि संख्या 76 की भाँति । पश्चिमागत ऋषिनाम, हटवल्य । खाँप, हठेला । वेदगोत्र, लोमस(लोंढावान) ।भैरू, गौरा ।देवी, चामुण्डा ।जनपद, गया ।पोस्ट, टेकारी।

78. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, सियारी–सियरियार । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गोरखपुर । पोस्ट, भौआपार ।

79. काश्यप गोत्र ।प्रवर, तीन । मिश्र ।पुर,गोरखपुर–गोरखपुरिया । सूत्र, गोभिल। शेष देव देवादि संख्या 78. की भाँति हैं । जनपद आदि, गोरखपुर नगर ।

80. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, श्रीमौर–श्रीमौरियार । सूत्र, गोभिल। शेष वेद देवादि संख्या 78. की भाँति हैं । गोरखपुर ।

81. पराशर गोत्र । प्रवर तीन । मिश्र । पुर, पारस–पारसम । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, गोभिल । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव, रुद्र । जनपद, आरा ।

82. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर मलवाँ, मल्लोर । सामवेद । गंधर्ववेद। शाखा, कौथुमी । सूत्र, कात्यानी । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, गया ।

83. मौद्गल्य गोत्र । प्रवर पाँच । मिश्र । पुर, मुजंड़िया–मुजादित्य । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, गोभिल । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, आरा (भोजपुर) । पोस्ट, बासी ।

84. कौशिक गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, हरिहास–हरिहसिया । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, छपरा (सारन) । पोस्ट, हुसेनगंज ।

85. पराशर गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, पिपरा–पिपरहा । यजुर्वेद । धनुर्वेद। शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, गोभिल । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण। कुलदेव, रुद्र । जनपद, छपरा (सारन) ।

86. काश्पय गोत्र । प्रवर, तीन । पाठक । पुर, बेलगाँव–बेलपार । सामवेद । गन्धर्व वेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम। कुलदेव, विष्णु । जनपद, छपरा (सारन) ।

87. भारद्वाज गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, देवकली–धर्मादित्य । यजुर्वेद । धनुर्वेद । शाखा, माध्यन्दिनी । सूत्र, गोभिल । छन्द, त्रिष्टुप् । शिखा और चरण, दक्षिण । कुलदेव, रुद्र । जनपद, छपरा (सारन) ।

88. काश्यप गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर,समरी–श्यामबौर । सामवेद । गन्धर्ववेद। शाखा, कौथुमी । सूत्र, कात्यायनी । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, छपरा (सारन) ।

89. च्यवन गोत्र । प्रवर, पाँच । मिश्र । पुर, चैनवार । सूत्र, गोभिल, शेष वेद देवादि संख्या 88 की भाँति । जनपद, छपरा (सारन) ।

90. वत्स्य (सत्यवाक्) गोत्र । प्रवर, तीन । मिश्र । पुर, सेतपुर (समरी)–सप्तार्क । सामवेद । गन्धर्ववेद । शाखा, कौथुमी । सूत्र, गोभिल । छन्द, जगती । शिखा और चरण, वाम । कुलदेव, विष्णु । जनपद, छपरा (सारन) ।

अध्याय के आधार ग्रन्थ–

1. पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ. 397 ।
2. श्री छोटेलाल श्रोत्रिय, ब्राह्मण निर्णय, पृ.479–92 ।
3. चित्ररेखा गुप्ता, ब्राह्मनाज ऑफ इण्डिया, पृ. 167–76 ।
4. भगवतशरण उपाध्याय, वृहत्तरभारत, पृ. 38,39 ।
5. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड 11, पृ. 242 ।
6. श्रीरामबक्स शर्मा, शाकद्वीपीय परिचायिका, पं. सुर्दशन मिश्र (अस्सी, वाराणसी) की कृपा से प्राप्त ।

परिशिष्ट–चार

सांखेड प्लेट– 642 ई.

15 भूमिच्छिद्रन्यायेनाचाटभटप्रावेश्यमाचन्द्राक्कार्णर्णवक्षिति स्थितिसमकालीनं

16 पुत्रपौत्रान्वयभोग्यं दशपुरविनिर्ग्गत क्षीरसरग्रामवास्तव्य भरद्वाजसगोत्रवाजिस

17 नेयमाध्यन्दिनसब्रह्मचारिब्राह्मणसूर्यायबलिचरुवैश्वदेवाग्निहोत्रपंचमहायज्ञादि-

18 क्कियोत्सर्प्पणार्त्थ मातापित्रोरात्मनश्च पुण्यशोभिवृद्धयेद्य वैशाखशुक्ल-
पंचदश्यामुद–कातिसर्गेणातिसृष्टं

19 यतोस्यास्मद्वंश्यैरन्यैर्व्वा गामिभोगपतिभिः प्रबलपवनप्ररितोदधिजलतंग चन्चलं

20 जीवलोकमभावानुगतानसारान्विभवान्दीर्ग्धकालस्थेयसश्च गुणानाकलय्य सामान्य
भोगभूप्र

21 दानफलेप्सुभिःशशिकररुचिरंय शश्चिराय चिचोषुभिरयमस्मद्दायोनुमन्तव्य पाल-
यितव्यश्च ।

देववरणार्क अभिलेख–7वीं शताब्दी ई.

4 [राजाधिराज परमेश्वर] श्री देवगुप्तदेवस्तस्यसुतस्तत्यादानुध्यातः परम भट्टारिकायां
राज्ञ्यां महादेव्यां श्री कुमारदेव्यांमुत्पन्नः परम माहे

5. [श्वर] परमं [भट्टारक] महाराजाधिराज परमेश्वर श्री विष्णुगुप्तदेवस्तस्य
पुत्रस्ततपादानुध्यातः परम भट्टारिकायां राज्ञ्यां महादेव्यां श्री इज्जा

6. [देव्या] मुत्पन्नः परम भागवतः परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री सवितृगुप्त
देवः कुशली नगर भक्तौ वालवी वैषयिक श्री वा

7 ... लिकान्तव्याति वारुणिक ग्रामा गा... ल–तलवाटक–दूत–सीमाकर्मकर–महा

8 ...तक राजपुत्र राजामात्य–महा ... क– महादण्ड नायक–महाप्रतिहार–महासा

9 [न्धिविग्रहिक?]...कुमारामात्य राजस्थानीय–रे ...द... धिक चौरोद्दूरणि-
दण्डक दण्ड

10 ...क... बम्मवल व्याहतकि श्रूरवटक ग्रामस्त (?) तदत्र वारुणिक ग्राम–म–कर्म
(?)

11. ...ध्यामितास्मत्याद प्रसादोपजीविनः प्रतिवासिनश्च ब्राह्मणोत्तरम हत्तर...

12. ...विज्ञापित श्री वारुणवासि भट्टारक प्रतिबद्ध भोजक सूर्य मित्रेण उपरिलिखि

13. [त] ...श्री माहेश्वरः परमेश्वर श्री बालादित्य देवा । खशासनेन भगवान श्री वारुण वासि भट्टारक ।

14. ...तद्दत्त.. परवाहक... भोजकहन्स मित्रस्य समर्पितं ध्यासिभिश्च रावं परमेश्वर

15 [श्री] शर्व्व बर्म्म... भोजकर विमिल... कएवं परमेश्वर श्रीम (द्) वन्ति वर्म्मण प्रस्नदत्त कमवल ।

16 स्त्र...रावं महाराज परमेश्वर... वर्म्मदेव नृपतिः शासन दानेन भोजक दुर्ल्लर मित्रस्यानुमो

17 दित... तेन मुज्यते तदहं किमपि... मतिः रातावता [राज्ञा] नुमोदित मिति पंरम समाज्ञापना राता

हुण्डा अभिलेख 774-75 ई.

1. ओं स्वस्ति ।। महाराज्ञी श्रीकामेश्वरीदेव्या सत्क
2. देवकुले नवकर्मपति उपेन्द्रपुत्रजयन्तरा-
3. ज आवन्तिको। सूर्यद्विजोः ।। पंचकुल श्रीवीरादि-सूर्य
4. त्यपुत्र श्रीपिल्लकब्राह्मणः ।। कायस्थ श्री विहे-
5. न्दपुत्र श्री भोमिक सूर्यद्विजः ।। इति
6. संवत् १६८ आश्वयुजवति ८ शनौः अतो
7. दिना आरभ्य संवत् १६९ आषढ़शुति १२ वृहौ प्र-
8. तिष्ठा कृताः ।।

घटियाला अभिलेख-861 ई.

10 त्रसुदि 2 [1] लिखितं मगे [न] मातृरविणा [1] उत्कीर्ण्णं हेभकारेण (क्ल) ष्णे-

11 श्वरेण ।। सूत्रधारोत्र नि .... विष्णु ।।

गोविन्दपुर अभिलेख-1137ई.

1 ओं [II] ओं नमः सरस्वत्यै ।।
एकत्रोव्रतगा त्रगौरवभरात् प्राप्ते तथा नम्रता-
मन्यत्र श्रियमुद्वहत्यतिलघुं तुंगे भुंजगेश्वरे ।
वक्षः सम्मुख सम्भृतस्तनतटीसंगोपसर्प्पत्सुखं निद्रा [णी]

2 द[यां] दधातु दयितामश्लिष्य विश्वम्भरः ।।[1]
देवो जोयात्रिलोकोमणिरयमरुणो यन्निवासेन पुण्यः
शाकद्वीपस्य दुग्धाम्वु (म्बु) निधिवलयितो यत्र विप्रे मगाख्या ।
बङ्गस्तत्र द्विजानां भ्रमलिखिततनोर्भ्रा (र्भ्रा) स्वतः स्वांग...

3 शाम्बो यानानिनाय स्वयमिह महितास्ते जगत्यां जयन्ति ।। [2]
तेषां स प्रथमः समस्त निगमज्ञानात्मविद्यापदं
वु (बु) द्ध्या व्यापृत एवं नित्ययजनव्यापारपारीण्या ।
भारद्वाजमुनिर्व (र्ब) भूव भुवनोहाराभिपातै तपः

4 यस्य मुखे मगद्विजमहावंशावतन्सोपमः ।। [3]
गोत्रश्च तस्य शतशाखमभूदभूतपूर्वैस्तपोभिरथ सुप्रसरैर्यशोभिः।
यत्रापरे प[रं] मतत्वविदोन–वद्यविद्यावदातमतयः पतयोद्विजानां ।।[4]

भदन दान पत्र–शक संवत्–919

अचाटभटप्रवेश्यः जगत्रयोद्योतकरायलवनेततनिवासिने श्री लोनादित्यदेवाय पुष्पधूपदीपनैवेद्यप्रक्षणकाद्युपभोगार्थ खण्डस्फटिक स्फुटितद्वारादिजीर्णोद्धारार्थ च अम्बुश्रेष्ठिवाप्पैयश्रेष्ठि–वणिक चेलप्पैयुभोजकविप्रगोवनैया दिगणपौर नगराधिष्ठितहस्तोपदकम् विधाय हरिहरहिरण्यगर्भदहनादीन् देवान् अमल श्रद्धया सम्पूज्य च पुत्रपौत्राद्युपभोगवृत्तित्वेन ग्रामः सम्प्रदत्तः ।

ई० आई०, खण्ड ३, पृ० २८

परिशिष्ट–पाँच

(1) बृहत्संहिता

आदित्यः

नासाललाट जंघोरुगण्डवक्षांसि चोन्नतानि रवेः ।
कुर्यादुदीच्यवेषं गूढं पादादुरो यावत् ।।46 ।।
विभ्राणः स्वकररुहे बाहुभ्यां पंकजे मुकुटधारी ।
कुण्डलभूषितवदनः प्रलम्बहारो वियद्‌गवृतः ।।47 ।।
कमलोदरद्युतिमुखः कंचुकगुप्तः स्मितप्रसन्नमुखः ।
रत्नोज्जवलप्रभामण्डलश्च कर्तुः शुभकरोऽर्कः ।।48 ।।
सौम्या तु हस्त मात्रा वसुदा हस्तद्वयोच्छिता प्रतिमा ।
क्षेमसुभिक्षाय भवेत् त्रिचतुर्हस्तप्रमाणा या ।।49 ।।
नृपभयमत्यड. गायां हीनाड. गायामकल्यता कर्तुः ।
शातोर्या क्षुद्‌भयमर्थविनाशः कृशाङ्गायाम् ।।50 ।।
मरणं तु सक्षतायां शस्त्रनिपातेन निर्दिशेत् कर्तुः ।
वामावनता पत्नीं दक्षिणविनता हिनस्त्यायुः ।।51 ।।
अन्धत्वमूर्ध्वदृष्ट्या करोति चिन्तामधोमुखी दृष्टिः ।
सर्वप्रतिमास्वेवं शुभाशुभं भास्करोवक्तसम् ।।52 ।।

(2) अंशुमद्‌भेदागम

द्वादशादित्यः **एकोनपन्ननशपटले ।**

द्विभुजाः पद्महस्ताश्च रक्तपद्मासने स्थिताः ।रक्तमण्डलसंयुक्ताः करण्डमुकुटान्विताः ।।
रक्ताम्बरधरास्सर्वे सर्वाभरण भूषिताः । छत्रवीरसमायुक्ता : भास्करा द्वादशा इमे ।।
वैवस्वतो विवस्वांश्च मार्तण्डो भास्करो रविः।लोक प्रकाशकश्चैव लोकसाक्षी त्रिविक्रमः ।।
आदित्यश्च तथा सूर्यः अंशमांश्च दिवाकरः। एते वै द्वादशदित्याश्चोत्तरादिक्रमास्थिताः ।।

(3) सुप्रभेदागम

द्वादशादित्यः **(एकोनपञ्चाशत्तमपटले)**

आदितेः पुत्रभावत्वदादित्यस्यति चोच्यते ।
ईश्वरस्यर्धभागे तु जगश्चक्षुरिति स्मृतः ।।
द्विभुजं पद्महस्तं तु रक्तवर्णं सुरूपकम् ।
करण्डमुकुटोपेत सर्वाभरणभूषितम् ।।

मुकुटद्विगुणं तारं प्रभामण्डलमध्यमम्
उषाश्च प्रत्युषा देवी सव्यासव्ये तु संस्थितः
अरुण चाग्रतः कृत्वा पङ्कजे तत्स्वरूपकम् ।
सप्ताश्वरथमध्यस्थं भास्वर पापनाशनम् ।।
रक्तपद्मासनस्थ हि आसन तमकल्पयेत् ।
पूर्वोक्तविधिना सर्वमादित्यं परिकल्पयेत् ।।

(4) शिल्परत्न

आदित्यः **(पञ्चविंशाध्याये)**

रक्तवर्णो महतेजा द्विबाहुः पद्मभृद्रविः ।
सप्तभिस्तुरगैर्युक्ते सर्वरज्जुसमन्विते ।।
एकचक्रे रथे तिष्ठन्पादाक्रान्तसरोरुहः ।
माणिक्य कुण्डलोपेतः पद्मरागकिरीटकः ।।
रक्ताम्बरधरो रमयस्सुव्यक्ताङ्गोमनोहरः ।
अनुसारथिः कार्यो प्रतिहारौ च पार्श्वयोः ।।
मण्डलपिङ्गलनामानौ खड्गखेटकधारिणी ।।

(5) विश्वकर्मशास्त्र

द्वादशादित्याः

श्रृणु वत्स प्रवक्ष्यामि सूर्यभेदांस्तु ते जय ।
यावत्प्रकाशकस्सूर्यो जायते मूर्तिभिर्यथा ।।
दक्षिणे पौष्करी माला करे वामे कमण्डलुः ।
पद्माभ्यां शोभितकरा सा धात्री प्रथमा स्मृता ।।
शूलं वामकरे चाख्या दक्षिणे सोम एव च ।
मैत्री नाम त्रिनयना कुशेशयविभूषिता ।।
प्रथमे तु करे चक्रं तथा वामे च कौमुदी ।
मूर्तिराममयी ज्ञेया सपद्मैः पाणिपल्लवैः ।।
अक्षमालाकरे सव्ये चक्रं वामे प्रतिष्ठितम् ।
सा मूर्ति रौद्री ज्ञातव्या प्रधाना पद्मभूषिता ।।
चक्रं तु दक्षिणे यस्या वामे पाशस्सुशोभनः ।
सा वारुणी भवेन्मूर्तिः पद्मव्यग्रकरद्वया ।।

कमण्डलुर्दक्षिणतो माला चाक्षमयी भवेत् ।
सा भवेत्सम्मता सूर्यमूर्ति पद्मविभूषिता ।।
यस्या दक्षिणतश्शूलं वामहस्ते सुदर्शनः ।
भगमूर्तितस्माख्याता पद्महस्ता शुभा जय ।।
अथ वामकरे माला त्रिशूलं दक्षिणे स्मृतम् ।
विवस्वन्मूर्तिरेषा स्यात्पद्मलांछनलक्षिता ।।
पूषाख्यस्य भवेन्मूर्तिद्विभुजा पद्मलाञ्छिता ।
सर्वपापहरा ज्ञेया सर्वलक्षणलक्षिता ।।
दक्षिणे तु गदा यस्या वामे चैव सुदर्शनः ।
पद्मव्यग्रा तु सावित्री मूर्तिस्सर्वार्थसाधनी ।।
सूत्रं च दक्षिणे हस्ते वामे होमजकालिकाम् ।
मूर्तिस्त्वाष्ट्री भवेत्सा स्यात्पद्मरुद्वकरद्वया ।।
सुदर्शनकरा सव्ये पद्महस्ता तु वामतः ।
एषा स्याद् द्वादशी मूर्तिविष्णोरतितेजसः ।।
धाता मित्रोऽर्यमा रुद्रो वरुणस्सूर्य एव च ।
भगो विवस्वान्पूषा च सविता दशमस्मृतः ।।
एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते ।

(6) पूर्वकरणागम

द्वादशादित्याः **(त्रयोदशपटले)**

एकचक्रससप्ताश्वससारथिमहारथम् ।
कृत्वा तु स्थापयेत्सूर्यं पुरुषाकृतिरूपिणम् ।।
तदर्घ वामतश्श्यामं नारी रूपसमन्वितम् ।
कृत्वा तु स्थापयेत्सम्यक् सर्वाभरणभूषितम् ।।
आकुञ्चितसुकेशास्तु प्रभामण्डलसंयुतम् ।।
मुकुटं वा विघातव्यमन्यत्सर्व सुमण्डलम् ।।
हस्तद्वयलसत्पद्मं कंचुकाञ्चितविग्रहम् ।
एकवस्त्र द्विदीर्दण्ड स्कन्धे सक्तकराम्बुजम ।।
रथोपेतं विना वाथ केवलं पद्मसंस्थितम् ।
पादौ सखेटको तस्य स्थिर पद्मासने स्थितम् ।।
जातिहिङ्गल्यवर्णस्था संस्थप्यां सूर्यमण्डलम् ।
वैकर्तनो विवस्वांश्च मार्तण्डो भास्करो रविः ।।
लोकप्रकाशकश्चैव लोकसाक्षी त्रिविक्रमः ।
आदित्यश्च तथासूर्यः अंशुमांश्च दिवाकरः ।।

एते वै द्वादशादित्या एवमाकृतिरुच्यते ।
द्विभुजाश्च द्विनेत्राश्च पद्मस्थाः पद्महस्तकाः ।।
रक्ताम्बरसुवर्णाश्च प्रभामण्डलमण्डिताः ।
उपवीतसमायुक्तास्सर्वाभरणभूषिताः ।।
आदित्याकृतिरेवं तु चन्द्राकृतिरथोच्यते ।।

(7) रूपमण्डन

आदित्यः

सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वाभरणभूषितम् ।
द्विभुजं चैकवक्त्रं च श्वेतपङ्कजधृत्करम् ।।
वर्तुलं तेजसो बिम्बं मध्यस्थं रक्तवाससम् ।
आदित्यस्यत्विदं रूपं कुर्यात्पापप्रणाशनम् ।।

आदित्यप्रतिहाराः

तर्जन्यंशुता भ्रचूडदण्डैर्दण्डी तु वामतः ।
तर्जनी शक्तिकिरण दण्डैस्स्यात्पिङ्गलः परः ।।
द्वे तर्जनयौ वज्रदण्डावानन्दो वामगो दघत् ।
तर्जनीदण्डापसव्ये विचित्रो दक्षिणे स्थितः ।।
द्वे तर्जन्यो पद्मदण्डौ चित्रो धत्ते स वामतः ।
तर्जनीदण्डापसव्ये विचित्रो दक्षिणे स्थितः ।।
तर्जन्यौ किरणं दण्डं किरणाक्षस्तु धारयेत् ।
तर्जनीदण्डापसव्ये प्रतीहारस्सुलोचनः ।।
चतुर्द्वारेषु संस्थाप्या दिशास्वेते प्रदक्षिणम् ।।

(8) विश्वकर्मावतारशास्त्र

आदित्यः

एकचक्ररथो दिव्यस्ताक्ष्यानुजसुसारथिः ।
तुरगैः सप्तभिर्युक्तः ऊर्ध्वस्तमस्थितो रविः ।।
बृहद्वक्षः सुरक्तश्च सुलावण्यो कुमुद्यथा ।
सहस्त्रांशुर्महा तेजो मणिकुण्डलमंडितः ।
.....................कचच्छन्नविग्रहः ।
सनालपद्मराजीवे बिभ्रत् स्कन्धे करे क्रमात् ।।

(9) विश्वकर्माशिल्प

आदित्यः

एकचक्रकः ससप्ताश्वः पद्मगर्भदलद्युतिः ।
सप्ताश्वरथसंस्थाश्च द्विभुजश्च सदागतिः ।

(10) मानसोल्लास

सूर्यः

रक्तवर्णो महातेजा द्विबाहुः पद्भुद्रविः ।।819।।
सप्तभिस्तुरगैर्युक्ते सप्तरज्जुसमन्विते ।
एकचक्रे रथे तिष्ठन्पादाक्रान्तसरोरुहः ।।820।।
माणिक्य कुण्डलोदारः पद्मरागकिरीटकः ।
रक्तामबरध्यो रम्यः सुव्यक्तां मनोहरः ।।821।।
पादौ तस्य प्रकर्तव्यो सुमहत्तेजसावृतौ ।
अनूरुः सारथिः कार्यः प्रतिहारो च पार्श्वयोः।।822।।
दण्डपिंगलनामानों खंग गखेटकधारिणौ ।
धाता च लेखनी हस्तो जगत्कर्मविलेखकः ।।823।।
कार्यो मानुसमीपस्थश्चिकर्मविशारदैः ।इतिसूर्या मूर्तिः।।

(11) अग्निपुराण

(अध्याय-51)

आदित्यः

ससप्ताश्वे एकचक्रे रथे सूर्यो द्विपद्मधृक् ।
मषीभाजनलेखिन्यौ बिभ्रत्कुण्डी तु दक्षिणे ।।
वामे तु पिंगगलो द्वारि दण्डमृत्स रवेर्गणः ।
बालव्यजनधारिण्यौ पार्श्वे राज्ञी च निष्प्रभा ।
अभयाश्वसमारूढः कार्य एकस्तु भास्करः ।।

(12) मत्स्यपुराण

(अध्याय-261, श्लोक 1-8)

सूर्यः

प्रभाकरस्य प्रतिमामिदानीं श्रृणुत द्विजाः ।
रथस्थं कारयेद्देवं पद्महस्तं सुलोचनम् ।।1।।
सप्ताश्वन्चैकचक्रंच रथं तस्य प्रकल्पयेत ।
मुकुटेन विचित्रेण पद्मगर्भसमप्रभम् ।।2।।
नाना भरणभूषाभ्यां भुजाभ्यां धृतपुष्करम् ।
स्कन्धस्थे पुष्करे द्वे तु लीलयैव धृतेसदा ।।3।।
चौलकच्छन्नवपुषं क्वचिच्चित्रेषु दर्शयेत् ।
वस्त्रयुग्मसमोपेतं चरणौ तेजसावृतौ ।।4।।
प्रतिहारौ च कर्तव्यो पार्श्वयोर्दण्डपिंगलौ ।
कर्तव्यो खड्गहस्तौ तो पार्श्वयोः पुरुषावुभौ ।।5।।
लेखनीकृतहस्तं च पार्श्वे धातारमव्ययम् ।
नानादेवगणयुर्क्तं एवं कुर्याद् दिवाकरम् ।।6।।
अरुणः सारथिश्चास्या पद्मिनीपत्रसन्निभः ।
अश्वौ सुवलयग्रीवावन्तस्थौ तस्य पार्श्वयोः ।।7।।
भुजंरज्जुभिर्बद्धाः सप्ताश्वारश्मिसंयुताः ।
पद्मस्थं वाहनस्थं वा पद्महस्तं प्रकल्पयेत् ।।8।।

(13) विष्णुधर्मोत्तर पुराणम्

(खण्ड 3, अध्याय 67)

आदित्याः

रविः कार्यः शुभश्मश्रुः सिन्दूराभरणप्रभः ।
सुदीप्तवेशः स्वाकारः सर्वाभरणसंयुतः ।।2।।
चतुर्बाहुर्महातेजाः कवचेनाभिसंवृतः ।
कर्तव्या रशना चास्य या वियांगेति संज्ञिता ।।3।।
रश्मयस्तस्य कर्तव्या वामदक्षिणहस्तयोः ।
ऊर्ध्वस्त्रग्दामसंस्थानाः सर्वपुष्पान्विताः शुभाः ।।4।।
सुरूपरूपः स्वाकारो दण्डी कार्योऽस्य वामतः ।
दक्षिणे पिंगलो भागे कर्तव्यश्चातिपिंगलः ।।5।।
उद्दीप्तवेशौ कर्तव्यों तावुभावपि यादव ।

तयोर्मूघ्नि विन्यस्तौ करौ कार्यो विभावसोः ।।6।।
लेखनीपत्रककरः कार्यो भवति पिंगलः
चर्मशूलधरो देवस्तथा यत्नाद्विघीयते ।।7।।
सिंहो ध्वजश्च कर्तव्यस्तथा सूर्यस्य वामतः ।
चत्वारश्चास्य कर्तव्यास्तनयास्तस्य पार्श्वयोः ।।8।।
रेवन्तश्च यमश्चैव मनुद्वितयमेव च ।
ग्रहराजो रविः कार्यो ग्रहैर्वापरिवारितः ।।9।।
राज्ञी च निक्षुभाच्छाया तथा देवी सुवर्चसा ।
चतस्त्रश्चास्य कर्त्तव्याः पत्न्यश्च परिपार्श्वयोः ।।10।।
एकचक्रेऽथ सप्ताश्वे षड्रे खाङ्के रथोत्तमे ।
उपविष्टस्तु कर्तव्यो देवो वारुणसारथिः ।।11।।
गायत्रयुष्णिगनुष्टुभ च बृहती पंक्ति खेच ।
त्रिष्टुप् च जगती सप्त छन्दास्यर्करथे हयाः ।।12।।
रश्मिभिः करसंस्थस्तु धारयत्यखिलं जगत् ।
सिंहो ध्वजगतश्चास्य साक्षद्धर्मः प्रकीर्तितः ।।13।।
रशनास्थं जगत्सर्वं देवोधारयते यथा ।
राज्ञी भूनिक्षुभाद्याश्चच्छाया छाया प्रकीर्तिता ।।14।।
प्रभा सुवर्चसा प्रोक्तास्तस्य देवस्य पत्नयः ।
रक्तवर्णः स भगवानस्तेजसां धामकारणात् ।।15।।
असह्य तेजोधारित्वाद्गूढगात्रस्तथैव च ।
एवं सर्वमयं धाम सूर्य एव प्रकीर्तितः ।।16।।
रूपं तथैतद्दिवसस्य भर्तुर्मयेरितं सर्वजगन्मयस्य ।
तेजोनिधानस्य परोज्जवलस्य सर्वाधिनाथस्य सनातनस्य ।।17।।

(14) पद्म पुराण

(सृष्टिखण्ड, अध्याय 8)

आदित्यः

रूपं चाप्रतिमं चक्रे त्वष्टा पद्ममृते महत् ।
न शशाकाथ तं द्रष्टुं पादरूपं रवैः पुनः ।।65।।
अद्यापि च रवैः पादौ न कश्चित्कारयेत् क्वचित् ।
यः करोति स पापिष्ठां गति प्राप्नोति निन्दिताम् ।।66।।
कुष्ठरोगमवाप्नोति लोकेऽस्मिन् दुःख संयुतम् ।
तस्माच्च धर्मकामार्थी चित्रेष्वायतनेषु च ।।67।।
न क्वचित्कारयेत् पादौ देवदेवस्य धीमतः ।।68।।

(15) ब्रह्मपुराण

(अध्याय 32)

आदित्यः

आजानुलिखितश्चासौ निपुणं विश्वकर्मणा ।
नाभ्यनन्दतु लिखनं ततस्तेनावतारितः ।।106।।
न तु निर्भीत्सत् रूपं तेजसो हननेन तु ।
कान्तात्कान्ततरं रूपमधिकं शुशुभे ततः ।।107।।

(16) साम्ब पुराण

आदित्यः

आजानुलिखितश्चासौ सुरासुरमहोरगैः ।
नाम्यनन्दत्स लिखनं ततस्तेनावतारितः ।।
ततः प्रभृति देवस्य चरणौ नित्यसंवृतौ ।
पापय () हृदयं चैव युक्तेत्तेजोऽभवत्तत ः ।।15/20-21
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रतिमालक्षणं क्रमात् ।
एकहस्ता द्विहस्ता च त्रिहस्ता वा प्रमाणतः ।।1।।
तथा सार्द्धत्रिहस्ता वा सवितुः प्रतिमा शुभा ।
एकहस्ता भवेत्सौम्या द्विहस्ता धनधान्यदा ।।2।।
त्रिहस्ता प्रतिमा भानोः सर्वकामप्रदा स्मृता ।
सार्द्धत्रिहस्ता तु सुभिक्षेमकारिका ।।3।।
अग्रे मध्ये च मूले च प्रतिमा सर्वतः शुभा ।
गान्धर्वीसा तु विज्ञेयो बहुधान्यधनावहा ।।4।।
प्रसादाद् द्वारतो वापि यत्प्रमाणं प्रकीर्तितम् ।
तद्वा प्रमाणं कर्तव्यं सततं शुभमिच्छता ।।5।।
देवागारस्य यद्द्वारं तस्मादष्टांगमुत्सृजेत ।
तृतीये पिंडिका कार्या द्वौ भागौ प्रतिमा भवेत् ।।6।।
अंगुलैः स्वैर्भवेन्मूर्तिरशीतिश्चतुरंगुला ।
विस्तारायामतः कार्या वदनं द्वादशांगुलम् ।।7।।
मुखं त्रिभाग चिबुकं ललाटं नासिका तथा ।
कर्णौ नासिकया तुल्यौपादौचानियतौ तयौः ।।8।।
नयने द्वयंगुले स्यातां तत्त्रिभागे तु तारके ।
तृतीयं तारकाभागं कुर्याद्दृष्टिं विचक्षणः ।।9।।
ललाटं मस्तकोत्सेधं कुर्यात्तत्सममेव तु ।

परिणाहस्तु शिरसो भवेद्द्वात्रिंशदंगुलम् ।।10।।
तुल्या नासिकया ग्रीवा मुखेन हृदयांतरम् ।
मुखमात्रा भवेन्नाभिस्ततो मेढमनन्तरा ।।11।।
मुख विस्तारमुरसस्तोऽर्द्धतु कटिर्भवेत् ।
बाहू प्रवाहतन्तुल्यावूरुजंघे च तत्समे ।।12।।
गुल्फाधस्तातु पादः स्यादुच्छ्रितश्चतुरंगुलैः ।
षडंगुलस्तु विस्तीर्णस्तस्यांगुष्ठोगुलत्रयम् ।।13।।
प्रदेशिनी च तत्तुल्याहीनाः शेषनखान्नखम् ।
चतुर्दशांगुलः पादस्यायामः परिकीर्तितः ।।14।।
एवं लक्ष्णयुक्ता या भवेत्पूजित लक्षणा ।
अंसौ भुजौ तथैवोरुभ्रूललांट सनासिकम् ।।15।।
गंडं चानियतं मूर्तेः कुर्यात्तज्ज्ञः समुन्नतिम् ।
विशालधवलाताम्रपक्ष्मलायतलोचनम् ।। 16।।
सस्मिताननफ्ष्मास्यचारुबिम्बाधरः शुभः ।
रत्नप्रोद्भासिमुकुटः कटकांगदहारवान् ।।17।।
अव्यंगपदबंधादिसमायोगोपशोभितः ।
सुबहुमंडलश्चारुविचित्रमणिकुण्डलः ।। 18।।
कराभ्यां कांचनीमुद्रप्राप्तहस्तसरोरुहम् ।
एवं लक्षणसंयुक्तां कारयेदीप्सितप्रदाम् ।।31/1-9
निक्षुभां दक्षिणे पार्श्वे रवे राज्ञी तु वामतः ।
पिंगलो दक्षिणे भानोर्वामतो दंडनायकः ।।
स्थाप्यश्चैव ततो बह्नि संस्थाप्य विधिवत्पुनः ।।32/42-43

आदित्य प्रतिहारः

अग्निर्दक्षिणपार्श्वे तु पिंगलत्वात्सपिंगलः ।
अश्विनौ चापि सूर्यस्य पार्श्वयोरुभयोः स्थितौ ।।
पूर्वद्वारे स्थितौ तस्य राज्ञस्तोषौ महाबलौ ।
कार्तिकेयः स्मृतो धातुर्नकारः प्रत्ययोऽस्यतु ।।
राज दीप्तौ स्मृतो धातुर्नकारःप्रत्योऽस्य तु ।
सूरसेनापतित्वेन समत्वाद्दीप्यते सदा ।।
तस्माच्च कार्तिकेयस्तु नाम्ना राज्ञ यतिः स्मृतः ।
स गतौ स्मृतो धातुस्तस्य सः प्रत्ययः स्मृतः ।।
गच्छत्यतीव यस्माद्वा राज्ञस्तोषो विधीयते ।
खरं हि दुरतिक्रातं कृत्वा द्वारं व्यवस्थितौ ।।
पक्षिप्रेताधिपौ नाम्ना स्मृतौ कल्माषपक्षिणौ ।
वर्णस्य शबलत्वाततु वयः कल्माष उच्यते ।।

पक्षोऽस्यास्तीत्यतः पक्षो गरुड परिकीर्तितः ।
स्थितो दक्षिणतस्तस्य जान्दकारः समाठरः ।।
जान्दकारश्चित्रगुप्तो माठरः काल उच्यते ।
यमस्यार्धकरो नित्यं चित्रगुप्तो महामतिः ।।
अर्थो जान्द इति प्रोक्तो जान्दकारस्ततस्सुतः ।
दक्षिणस्य निवासोस्य दिशि यस्मात्तु नित्यशः ।।
धातुर्म्मठनिवासे हि कालस्तेन तु माठरः ।
प्राप्नुयानक्षुतायौ तु रवैः पश्चिमतः स्थितौ ।।
क्षुतायो वरुणो ज्ञेयः प्राप्नुयानस्तु सागरः ।
उत्तरेण स्थितोऽर्कस्य कुबेरः सविनायकः ।।
रेवंतश्चैव दिंडिश्च द्वावेव पूर्वतः स्थितौ ।
दिंडिर्ज्ञेयस्तो रुद्रो रेवन्तस्तनयो रवेः ।।
इत्येते अनुचराः प्रोक्ताः संख्या चैषां निबोध मे ।
माठरो जान्दकारश्च धनदोऽथ विनायकः ।।
प्राप्नुयानक्षुतायौ च द्वौ च कल्माषपक्षिणौ ।
अश्विनौ तु ततो ज्ञेयो दंडनायकपिंगलौ ।।
सखरद्वारिकौ ज्ञेयो राज्ञस्तोषौ ततः समृतौ ।।
रेवन्तश्चैव दिंडिश्च हीत्येतेनुचराः स्मृताः ।
दशाष्टौ च समाख्याताः संक्षेपात्संख्या पुनः ।।(16/7-21)

(17) भविष्यमहापुराण

आदित्यः

अथ तक्षा प्रकाशं वै तस्य रूपं विभावसोः ।
मुखादारभ्य पदान्तं ततक्ष करणैः स्वकैः ।।
किरणैस्तुद्यमानेषु तस्यांगेषु पुनः पुनः ।
क्षणे क्षणे मूर्च्छयति मार्तण्डो वेदनातुरः ।।
तस्य शापभयात्वक्षा पादौ गुल्फादि यावतः ।
चकाराथ निराकारा अंगुल्यो न प्रकाशयत् ।।(47/31-33)
अहं ते सर्वदेवानां प्रतिमालक्षणं परम् ।
वचामि वै यदुशार्दूल आदित्यस्य विशेषतः ।।1।।
एकहस्ता द्विहस्ता वा त्रिहस्ता वा प्रमाणतः ।
तथा सार्द्धत्रिहस्ता च सवितुः प्रतिमा शुभा ।।2।।
प्रसादादद्द्वारतो वापि प्रमाणं च प्रकल्पितम् ।
तद्वतप्रमाणं कर्तव्यं सततं शुभमिच्छता ।।3।।
एकहस्ता भवेत्सौम्या द्विहस्ता धनधान्यदा ।

त्रिहस्ता प्रतिमा भानोः सर्वकामप्रदा स्मृता ।।4।।
सार्द्धत्रिहस्ता प्रतिमा सुभिक्ष्क्षेमकारिणी ।
अग्रे मध्ये च मूले च प्रतिमा सर्वतः समा ।
गान्धर्वी सा तु विज्ञेया धनधान्यावहा स्मृता ।।5।।
देवागारस्य यद्द्वारं तस्मादष्टिशंमुद्यता ।
त्रिभागैः पिंडिका कार्या दौ भागो प्रतिमा भवेत् ।।6।।
अंशुलैश्च तथा मूर्तिश्चतुरशीतिसंमितैः ।
विस्तारायामतः कार्या वदनं द्वादशांगुलम् ।।7।।
मुखत्रिभागैश्चिबुकं ललाटं नासिका तथा ।
कर्णौ नासिकया तुल्यौ पादौ चानियतौ तयोः ।।8।।
नयने द्वयंगुले स्यातां त्रिभागा तारका भवेत् ।
तृतीये तारकाभागात्कुर्याद्दृष्टिं विचक्षणः ।।9।।
ललाटमस्तकोत्सेधं कुर्यात्तत्सममेव च ।
परिणाहस्तु शिरसो भवेद् द्वाविंशदंगुलः ।।10।।
तुल्या नासिकया ग्रीवा मुखेन हृदयान्तरम् ।
मुखयात्रा भवेन्नाभिस्ततो मेढ्रमनन्तरम् ।
मुखविस्तारणमुरस्ततौर्द्ध तु कटिः स्मृता ।।11।।
बाहु प्रवाहतुल्यो तु उरु जंघे च तत्समे ।
गुल्फाधस्तात्तु पादः स्यादुच्छितश्चतुरंगुलः ।।12।।
षडंगुलसविस्तारस्तस्याङगुष्ठांगुलत्रयम् ।
प्रदेशिनी च तत्तुल्या हीनाशेषनखैर्युताः ।।13।।
चतुर्दशांगुलः पाद आयामात्परिकीर्तितः ।
एवं लक्षणसंयुक्ता प्रतिमार्च्या भवेत्सदा ।।14।।
अंसौ हरे स्तथैवीरु ललाटं च सनासिकम् ।
नियते नयने गण्डौ मूर्तेः कुर्यात्समुन्नते ।।15।।
विशालधवलाताम्रपक्ष्मालायतलोचने ।
सस्मिताननपद्मास्यचारुबिम्बाधरस्तथा ।। 16।।
रत्नप्रोद्भासिमुकुटकटकांगदहारवान् ।
अव्यंगपदमध्यादिसमायोग ोपि शोभितः ।।17।।
सुप्रभो मंडलश्चारुविचित्रमणिकुंडलः ।
कराभ्यां कांचनीं मालां प्रोद्वहन्सरोरुहाम् ।।18।।
एवं लक्षणसंयुक्तां कारयेदीहितप्रदाम् ।
प्रजाभ्यश्च सदा भानुः शिवारोग्याभयप्रदः ।।19।।
अल्पांगायां नृपभयं हीनां गायामकल्यता ।
शातोदर्यां च क्षुत्पीडां कृशायां तु दरिद्रता ।।20।।
सक्षतायां भयं शस्त्रात्स्फुटिता मृत्युकारिणी ।

दक्षिणावनतायां तु शश्वदायुःक्षयो भवेत् ।।21।।
उत्तरावनतायां तु वियोगो भवति ध्रुवम् ।
नालोक्या नाप्यनालोक्या रक्ष्या मूर्तिः प्रशस्यते ।।22।।
तस्माद्भास्करभक्तेन्न लोकद्वयहितैषिणा ।
तन्मूर्तैश्चादरः कार्यस्तदधीनास्तु संपदः ।।23।।
शिरोरुगण्डवदनैः सर्वांगावयवैस्तथा ।
एवं लक्षणसंपूर्णा प्रतिभा भवेत शुभा ।।23।।
नासाललाटजंघोरुगण्डवक्षोभिरन्विता ।
कुर्यादादित्यवेषं तु गूढपादोदरं यथा ।।25।।
कमलोदरकान्तिनिभः कन्चुकगुप्तः प्रसन्नमुखः ।
रक्तोत्पलप्रभामण्डश्चल कर्तुः शुभमर्कः ।।26।।
कुण्डलभूषितवदनः प्रलंबहारोपि गृहवृत्तः ।
नृपतिभयं व्यंगायां हीनांगायामकल्पना कर्तुः ।।27।।
शातोदर्या क्षुद्भयमर्थ विनाशः कृशांगायाम् ।
मरणं तु सक्षतायां शस्त्रनिपातेन निर्दिशेत्कुतः ।।28।।
वामोन्नता तु पत्नीं दक्षिणावनता हिनस्त्यायुः ।
अन्धत्वमूर्द्वदृष्टि करोति चिन्तामघोमुखी दृष्टिः ।।29।।
सर्वप्रतिमास्ववं शुभाशुभं भास्करेणोक्तम् (132/1-29)

(18) चतुर्वर्ग–चिन्तामणि

आदित्यः

एकेन वा स्वशकत्या च सूर्यप्रतिकृति शुभां ।
कुर्यादद्विहस्तामूदृर्ध्वन्मु पद्मद्वसुभूषिताम् ।
रथोपरिस्थितां रक्तवान्सा समलंकृताम् ।
कुंकुमेनांकितां सम्यक् रत्नमा ल्यैरलंकृताम् ।
स्वरूपरूपः स्वाकारो दण्डः कार्योऽस्य वामतः ।
दक्षिणे पिंगले भागे कर्तव्यश्चातिपिंगलः
राज्ञी सवर्णा छाया च तथा देवी सुवर्चसा । ।

अदित्यायतनः

मृण्मयं दारुणं शैलं पक्वेष्टकमथापि वा ।
कृत्वानन्तगृहं वापि यथा विभवसंभवात् ।
सर्वोपरकरणोपेतं सर्वधान्यसमन्वितम् ।
सूर्यायेदं गृहं दत्वा सर्वान् कामनवाप्नुयात् ।

(भविष्यपुराणोक्तम्)

SELECT BIBLIOGRAPHY

VEDAS

Atharva veda — Tr. (English) by Whitney William Dwight; Motilal Banarasidas, 1962.

Rigveda — Samhita and Pada Text with Sayana's Comm. Edited by Vaidika Samsodhana Mandala, Poona, Four Vols, 1933.

Ed. and Tr. (Into English) by H.H.Wilson Banglore Printing and Publishing Co.Ltd, Banglore city, 2nd ed. 1946.

Hindi Rigveda: Pandit Ram Govind Dwivedi.

BRAHAMNAS

Aitraiya Brahmana — Ed. with Sayana's Comm. A.S.S No. 32, Poona, 1931.

Ed.& Tr. Martin Haug, Bombay, 1863.

Gopatha Brahamana — Ed. R.L.Mitra and H.Vidyabhushan, Calcutta, 1872.

Satapatha Brahamana — Ed.with Sayana's Comm. A Weber, London, 1885.

GRIHYASUTRAS

Asvalayana Grihyasutra — Ed. A.G. Stenzler, Leipzig, 1864.

Apastamba, Samkhayana, Gobhila, Khadira etc. — Tr. Oldinberg, S.B.E, Vols XXIX & XXX, Oxford, 1886 and 1892.

Baudhayana Grihyasutra — Ed. R Shamasastri, Mysor, 1927.

Paraskara Grihyasutra — Ed. Gopal Shashtri, Varanasi, 1926.

DHARMSATRAS AND ALLIED LITERATURE

Apastamba Dharmasutra — Ed. G Buhler, Bombay, 1932.

Baudhayana Dharma Sutra — Tr. G. Buhler, S.B.E. , Vol. IV, XIV, Oxford, 1879-82.

Gautam Dharmasutra — Tr.G.Buhler, S.B.E.,Vol. IV, XIV, Oxford, 1879-82.

Katyayana Smriti — Ed.with reconstructed text, tr. notes and intro, P.V.Kane, Bombay, 1933.

Manu Smriti — Ed. V.N. Mandlik, Bombay, 1886.

Narda Smriti — Tr. J. Jolly, S.B.E. Vol XXXIII, 1889.

EPICS

Mahabharata — Tr. (Hindi) Gita Press, Gorakhapur, (3rd ed.) 1968.

Ramayana — Tr. (Hindi) with text, Gita Press, Gorakhapur, 1967.

PURANAS

Agni Purana — Tr. M.N.Dutt, Calcutta, 1901.

Bhavishya Purana — Pub. Venkatesvara Press, Bombay, 1910.

Bhagavata Purana — Tr. M.N. Dutt, Calcutta, 1895.

Garuda Purana — Pub. Venkatesvara Press, Bombay, 1906.

Markandeya Purana — Pub. Venkateswara Press, Bombay, 1910.

Matsya Purana — Ed. A.S.S.,Poona, 1907.

Samba Purana — Pub. Venkateswar Press, Bombay, 1899.

Sakanda Purana — Pub. Venkateswar press, Bombay,1910.

Vishnu Purana — Pub. Venkateswara Press, Bombay, 1889.

BUDDHIST TEXTS

Anguttara Nikaya — Ed. R. Morris & E. Hardy, P.T.S. London, 1885-1900.

Digha Nikaya — Tr. (Dialogues of the Buddha) T.W. Rhys Davids, 3 vols. S.B.B., London, 1899, 1921.

Dhamma Pada — Tr. F. Max Muller, S.B.E, Oxford, 1898.

Majhima Nikaya — Tr. (Further Dialogues of the Buddha) Lord Chatmess, 2 Vols, S.B.B., London, 1926-27.

Sanyukta Nikaya — Tr. (Book of the Kindred Sayings or Grouped Suttas). Mrs. Davids & F.L. Woodward, P.T.S. London, 1917-30.

Vinaya Pitaka — Tr. (Vinaya texts) T.W. Rhys Davids & H. Oldenberg, S.B.E., Oxford, 1881-85.

TECHNICAL WORKS

Arthashastra - Kautilaya	Tr. R. Shamashastri, Mysore, 1920.
Ashtadhyayi- Panini	Ed. S.C.Vasu, Delhi, 1962.
Brihaddevata	Ed. A.A. Macdonell, Delhi, 1965.
Brihat-Samhita-Varaha Mihira	Ed. H.Kern, B.I., Calcutta, 1865. Eng. Tr. H.Kern J.R.A.S, 1870-1875.
Nirukta-Yaska	Ed. with Durgacarya's Comm., Pub. V.K.Rajavade, Poona, 1921-26.

CLASSICAL SANSKRIT LITERATURE

Harsh Charit	Ed. P.V.Kane, Bombay, 1918.
	Tr. E.B. Cowell and F.W. Thomas, London, 1897.
Malati Madhava	Ed. with the Commentary of Jagaddhara, R.G.Bhandarkar, B.S.S. Bombay, 1876.
Surya Satakam-Mayura	Ed. & Tr. R.N. Tripathi, Chowkhambha Vidya Bhavan, Varanasi, 1964.

CLASSICAL ACCOUNTS

Majumdar, R.C.	The Classical Accounts of India. Calcutta, 1960.
Mc Crindle, J.W. (Tr.)	Ancient India as Discribed by Megasthenis and Arrian, Calcutta, 1877.
	Ancient India As Discribed by Ptolemy (2nd Ed), Calcutta, 1927.
Mayhoff.C.(Ed.)	Naturalis Historia (Pliny). Leipzig, 1892-1909.
Miller, W. (Ed.&Tr.)	Cyropaedia (Xenophen), NewYork, 1914.
Schoff, W.H.(Tr.)	The periplus of the Erythraen Sea, London, 1912.
Silincourt Aubrey De (Tr.)	The Histories, (Herodatus), Penguin Classics, 1954.

CHINESE LITERATURE

Beal, S. (Tr.)	Si-Yu-Ki Buddhist Records of the Western World, 2 vols, London, 1906.
	The life of Hiuen Tsyang by S. Hwui-Li and Yen Tsung, London, 1988.
Elliot, Sir H.M.and Dowson, J (Tr.)	History of India As Told by it's Own Historians, 8 vols., London, 1866-67.
Gilis, H.A. (Tr.)	The Travels of Fa-hsien or Record of Buddhistic Kingdoms, 1928.
Sachau, E.C.(Tr)	Kitab-ul- Hind and Athar-Al-Boquia of Al-Biru-ne (Alberunis India), London, 1914.
Watters, T.	On Yuan Chwng's Travels in India, Ed. T.W. Rhys Davids and S.W. Bushell, 2 vols. London, 1904-05.
Pliny	Natural History, ed. by W.H.S Jones.

COINS

Allan, J.	Catalogue of Indian Coins in the British Museum, Coins of Ancient India, London, 1936.
Cunningham, A.	Coins of Ancient India, Varanasi, 1963.
	Coins of the Indo Scythians (Rep.), Num. Chron, London, 1888-92.
	Later Indo-Scythians, Varanasi, 1962.
Gardner, P.	The Coins of The Greek and Scythian Kings of Bactria and India, London, 1886.
Rapson, E.J.	Indian Coins, Straisburg, 1897.
Singhal, C.R.	Bibliography of Indian Coins, Bombay, 1950.
Whitehead, R.B.	Catalogue of Coins in the Punjab Museum, Lahore Vol. I,Indo Greek Coins, Oxford, 1929.

INSCRIPTIONS

Hultzch, E. (ed.)	Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. I, London, 1925.

Konow, S. — Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. I, London, 1929.

Sircar, D.C.(ed.) — Select Inscriptions, Vol, I, Calcutta, 1942.

REPORTS

Ancient India — The Journal of the Archaeological Department, Delhi.

Bihar District Gazetteers

Sir Alexander Cunningham — Archaeological Survey of India Report

Marshall, J. and Others — Mohenjo-daro and the Indus Civilization, 3 vols, London, 1931.

Marshall, J. — Taxila (Vols 1-3) Cambridge, 1951.

Mackey, E.J.H. and others — Further Excavations at Mohenjo-Daro, (2 vols.), Delhi, 1938.

Sankalia, H.D. — Investigations into Prehistoric Archeology of Gujarat, Poona, 1946.

Vasu N.N — Archaeological Survey of Mayurabanj.

IMAGES AND MONUMENTS

Agrawala V.S. — A Catalogue of the Brahmanical Images in Mathura Art. Lucknow, 1951.

A Short Guide book to the Archaeological Section of the Provincial Museum, Lucknow, Allahabad, 1940.

Bhattasali, N.K.. — Iconography of Buddhist and Brahamanical Sculpture in the Dacca Museum, Dacca, 1929.

Burgess, J. — Ancient Monuments Temples and Sculptures of India, 2 Vols. London 1897.

Davar, F.C. — Ancient Monuments of Kashmir, London, 1927.

SECONDARY WORKS

Apte, V.M. — Sanskrit-English Dictionary, Bombay, 1922.

Bloomfield, M. — A Vedic Concordance, Delhi, (Rep.) 1964.

Buck C.D. — A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo European languases, Chicoago, 1949.

Conney, M.A. — An Encyclopaedia of Religion, London, 1921.

Cultural Heritage of India, 4 Vols, Calcutta, 1937-53;

Dey, N.L. — The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India, NewDelhi 1971.

Dikshitr, V.R.R — The Purana Index, 3 vols, Madras, 1955

Etymological Dictionary of English Literature.

Encyclopaedia Britanca, Cambridge, 1910.

Ferm, V. — An Encyclopaedia of Religion, New York, 1945.

Hastings, J. — An Outline of the Religious literature of india. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vols. I-XIII, New York, 1908.

Macdonell, A.A. and Keith, A.B. — Vedic Index of Names and Subject, 2 Vols.,Varanasi, 1962.

Mayr Hofer — The Concise Etymological Sanskrit Dictonary, London, 1912.

Macdonell, A.A — A vedic Grammar For students.

Monier Williams — A Sanskrit -English Dictionary, Oxford, 1951.

Old Persian Grammar-Text-Lexicon, Vol-33, 1953.

An Index to the Names in the Mahabharata, 2 Vols, Delhi, 1963.

MODERN BOOKS

Agrawala, V.S — India as Known to Panini, Lucknow, 1953,

Indian Art, Vol. I,Varanasi, 1966.

Andre Godard — The Art of Iran, Paris, 1962.

Aiyar, C.P. Ramaswami — Phase of Religion and Culture, Bombay, 1949.

Acharya, P.K. — The Architecture of Mansar.Varanasi, 1979

Altekar, A.S. — Rastrakuas and their times. Poona, 1934.

Arora, R.K. — Historical and Cultural data from the Bhavisya Purana, New Delhi, 1972.

Admes, Evangeline — Astrology for Everyone, Philadelphia, 1945.

Basham. A.L. — Studies in Indian History and Culture Calcutta, 1964.

Berry, M.M. — Sources of Indian Tradition, Delhi, 1963.

Bhattacharya , B.C. — Indian Images. Vol, I, Brahamanic Iconography, Calcutta, 1931.

Bhattacharya, N.N — Ancient Indian Rituals and their Social Contents, London, 1975.

Bhandarkar, D.R. — Some Aspects of Ancient Indian Culture,Madras, 1940.

Buchanan Frances. — An Account of District of Purnia, 1809-10 Patna, 1928.

Burgess Ebrnezu. — Surya Siddhanta, Rep, Delhi, 1977.

Bag, A.K. — Mathematics in Ancient and Medival India, Varanasi, 1979.

Bali Suryakant. — Historical and critical studies in the Atharvaveda, Delhi 1981.

Bhargava, Dr. Nirmala. — Vedic Sahitya Evam Sanskriti Jaipur, 1972.

Bharucha, A.S. Dadabhi. — Zoroastrian Religion and Customs. Bombay, 1928.

Bhargwa, P.L. — India In the Vedic age, Lucknow, 1971.

Bhadarkar R.G. — Vaishnavism Saivism and other MinorReligious Systems, Stressburg,1913.

Bhatt, Ramakrishna Tr. — Brhat Samhita, Varanasi, 1981.

Barth, H. — The Religions of India, London, 1882.

Biswas, D.K — The Origin and Antiquity of the Sun Images in India, P.I.S.L. 1953.

Chakaraborty, S.K. — A Study of Ancient Indian Numismatics Calcutta, 1931.

Chanda, R.P. — The Indo Aryan Races, Rajshahi, 1916.

Chattopadhyaya, S. — Achaemenids in India, Calcutta, 1950.

Cusartlli, L.C. — Phllosophy of the Mazdayasin.Religion under the sassanids, Bombay, 1889.

Childe, V.G. — New light on the Most Ancient East, London, 1952.

The Aryan ,Yew York, London, 1926.

Clement, Huart	Ancient Persia and Iranian Civilization, Rep. London, 1972. The Mythology of the Aryans Nation, London, 1870.
Collins Robert	The Medas and Persians, NewYork.
Cunningham. A	Coins of the Indo Scythians, Sakas and Kushans, Delhi, 1971.
Chakraborty, Chhanda,	Common life in the Rgveda and Atharva Veda, Calcutta, 1977.
Cumont, F.	The Mystries of Mithra, New York, 1956
Das, A.C.	Rgvedic India, Varanasi, 1971. Sunworship, Delhi, 1984.
Davar, F.C.	Iran and India Through The Ages, Bombay, 1962.
Dawson, M.M.	The Ethical Religion of Zoroasta, New York, 1931.
Dhalla, M.N.	Early Zoroastrian Civilization, New York, 1921.
Dube, Sitaram	Baudha Sangha ka Arambhik Itihas, Varanasi, 1988.
Frazer, J.G.	The Golden Bough, London, 1967. Worship of Nature, London, 1926.
Filliozat, J.	The Classical doctrine of Indian Medicine, Delhi, 1964.
Fergusson, James.	History of Indian and Eastern Architecture, Delhi, 1967.
Ghirshman,R.	Iran, Pelican Series, 1963. Persia, France, 1964.
Gopinath Rao, T.A.	Elements of Hindu Iconography, 2 vols, NewYork, 1968.
Gorakh Prasad	Bhartiya Jyotiska Itihas, Lucknow, 1950.
Guha, B.S.	An Outline of the Racial Ethnology of India, Calcutta, 1937.
Hazra, R.C	Studies in the Upa Puranas, Vol. I Calcutta, 1958. Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs, Dacca, 1940.
Herzfield, E.	The Persian Empire, Germany, 1968.
Hodivala, S.K.	Indo Iranian Religion, Bombay, 1925.

John Brough	The Early Brahmanical System of Gotra and Pravara, Cambridge, 1953.
Jackson	Zoroastrian studies New York, 1965.
Jairazbhoy, R.H.	Foreigh Influences in Ancient India Bombay, 1963.
Kane, P.V.(ed)	History of Dharmashashtra. Poona, 1953.
Karambelkar, V.W.	The Atharvaveda and the Ayurveda Nagpur, 1961.
	Atharvedic Civilization, Its place in the Indo Aryan Culture, Nagpur, 1959.
Koshambi, D.D.	An Introduction to Indian History, Bombay, 2nd ed. 1975.
Keith A.V.	History of Classical Sanskrit literature Religion and Philosophy of the Veda and Upnisads. 4th Ed. 1936.
Law, B.C.	Tribes of Ancient India, Calcutta, 1944.
Macdonell, A.A.	Vedic Mythology, Varanasi, 1963.
Maya Prasad Tripathi	Development of Geograpic knowledge in Ancient India, Varanasi, 1969.
Moulton	Early Zoroastrianism, London, 1926.
	The Treasure of Magi, Oxford 1917.
Mukerjee, B.N.	Central and South Asian Documents on Old Saka Era.
Modi, J.J.	The Religious Ceremonies and Customs of the Parsis, Bombay, 1937.
Mary Boyce	Zoroastrians Their Religious Beliefs and Practices, U.S.A. 1979. History of Zoroastrianism, Vol. 2, Luden, 1982.
Mitra, Debala,	Buddhist Mouments, Calcutta, Rep, 1980
Mitra, R.L	Indo Aryans. 1881.
Mukerjee, S.	Some Aspects of Social life in Ancient India, Allahabad, 1976.
Mishra, Ramanath	Bhartiya Murti Kala, Delhi, 1978.

Majumdar, R.C. Readings in Political History of India, Delhi, 1976.

Moscati Sabatino Ancient Semetic Civilization, London, 1957.

Olstead, T.A. History of Persian Empire, Chicago, 1959.

Pandey, R.B. Hindu Sansakaras, Varanasi, 1949.

Pandey, L.P. Sunworship in Ancient India, Varanasi, 1971.

Pathak, V.S. Smarta Religious Traditions, Lucknow, 1946.

Percy Brown Indian Architecture, Bombay, 1965.

Rai, S.N. Pauranic Dharma Evam Samaj, Alld. 1968.

Reinach, S. Cults Myths and Religions, London, 1912.

Rice, T.T. Ancient Art of Central Asia, U.S.A., 1965.

Rypkia, J. History of Iranian Lit. Holland, 1968.

Stella Kramrisch The Hindu Temple, 2 vols. Calcutta, 1946.

Sashtri, H.K. South Indian Images of Gods and Goddesses, Madras, 1916.

Shashtri, Ajai Mitra India as Described in Brihat samhita of Varaha Mihir, Varanasi, 1969.

Sircar, D.C. Indian Epigraphy, Delhi, 1965.

Srivastava, B. Trade and Commerce in Ancient India, Varanasi, 1968.

Saggs, H.W.F. The Greatness that was Babylone, London, 2nd ed. 1966.

Seal, Brajendranath Positive Sciences of the Ancient Hindus, Rep., Delhi, 1985.

Srivastava, V.C. Sun Worship in Ancient India, Alld., 1972

Shama Shashtri, R. The Vedic Calendar, Delhi, 1979.

Stutley, Margret Ancient Indian Magic and Folk lore, Varanasi, 1980

Singh, Sheo Bahadur Brahmanical Icons in Nothern India, Delhi, 1977.

Torn, W.W The Greeks in India and Bactria, Delhi, 1980.

Thaplyal, K.K Studies in Ancient Indian Seals, Lucknow, 1972.

Tylare, E.B. — Religion in the Primitive Culture, New York, 1958.

Virjee, K.J. — Ancient History of Saurashtra, Bombay, 1952.

Veronica, Ions — World Mythology in Colour, England, 1974.

Wilson ,John — Indian Caste, Delhi, 1976.

Winternitz, M. — Indian Literature , Varansi, 1961.

William, S, Hans — Iran, New York, 1946.

Wilber Bonald,N. — Iran Past and Present, New Jersey, 1950.

JOURNALS

Ayyer, Sulochana. — Foreign Influence on the Costumes and and Ornaments of Ancient India, Prachya Pratibha, Vol-4, No.2.

Banerjee, J.N. — Myths Explaining Some Alien Traits of the North Indian Sun- Icons, I.H. Q., Vol-28, No. 1. Surya, Adityas and the Navagrahas, J. I. S. O. A., Vol. 16.

Bhandarkar, R.G. — Foreign Influences in Indian, Population, Indian Antiquary, 1911.

Bhattacharya, T. — History of Ancient Indian Astronomy, Journal of the Ganga Nath Jha Research Institue, Vol- 10-11, pt-1-4.

Bhattacharya, Debika — A Comparative study of the Atharva Vedic and Indo-European Occult Practices, J.O.I, Vol-26, No-4.

Buddha Prakash — Science & Technology in Ancient India, V.I.J.,Vol. 7, pt 1-2.

Cavaignac,E. — Note on the Origin of the Joroastrian calendar, The K.R. Cama Oriental Institute, No. 22.

Chopara, S.N. — The Medians and the Indian solar Cult, Journal of Indian History, vol-54, No 3.

Das, T.C. — The Sun-Worship in Ancient India, All India Oriental Conference, Vol-2.

Deb, B.C. — Sakadvipa,A.B.O.R.I., Vol-36.

Desai, Nileshavari, Y. — Glimpses from Astrology and Chiromancy in the Markandeya purana, purana, Vol-21, No. 2

Enrico Carpani — Psycology of Dream Phenomena in Vedic Philosphy, Bhartiya Vidya, Vol-9.

Gupta, Sankar Sen — Fire Festivals of North India, Folklore. Vol-24, pt. 12.

Gershevitch, Ibya — Toroasties own Contributions, Journal of Near Eastern Studies, Vol-23.

Jain, L.C. — Distinct Features of Indian Astronomy upto Aryabhatta 1, Prachya Pratibha, Vol-4, No-2.

Keith, A.B. — Magi, J.R.A.S. Vol-47,1915.

Lahiri, Ajoy — Indian and Babylonian Demonology A Comparative Study. V.V.R.I. Vol-4, pt.2

Little, P.C — Swastika : Some Facts and fallacces, Bulletin of Museum and Arch, U.P. Dec. 1972.

Margabandhu, C. — Disposal of the Dead in Ancient India, J.A.H.R.S. Vol-31.

Mirchandani, D. — Multan, J.I.H. Vol-46, No-2.

Mitra, Jyotir. — Development of Medical Sciences in Vedic India, I.H.C., 1968.

Modak, B.R. — Magic In Atharvavedic Literature, Journal of the Karnatak University, Vol-13.

Mohghe, S.G. — A Fresh Interpretation of Nakshtrayarsya Jivati, Bhartiya Vidya, Vol-39, No-1.

Pingres, David. — Representationof the Plansts in Indian Astrology, Indo Iranian Journal, Vol-8. Indian Influence on Early Sassanian and Arbic Astronomy, J.O.R., Vol-33.

Pad, Eyerri. — History of Medicine in India, Journal of Oriental Research, vol- 15, part-2.

Pandey, Ramjee. — Pracheen Bhartiya Bhugol Vidya, Pragya, Vol-17, part-1.

Sharma, K.V. — Scientific Basis of Indian Astrology V.I.J. Vol-XIV No-2. Astronomy in India-Vaedic Period, Vol-XIV, pt.I, March 1976.

Schimdst Peterhans. — Iranian Magi in India, Q.J.M.S.Vol-55 .

Spooner	The Zoroastrian period of Indian History J.R.A.S., Vol-47, 1915.
Srivastava, V.C.	Solar symbols on Surya Mitra and Bhanu Mitra Coins. J.N.S.I., Vol. XXXI, pt-1.
Singh, Kanhyaji.	Vedic Yug Men Chikitsa, Pragya, Vol-16, part-2.
Sitaram, K.N.	Iranian Influence of Indian Cuture Journal of K.R.Cama Oriental Institute No-2,1923.
Sivrammurti,C.	Geographical and Chronological Factors in Indian Iconography, Ancient India, 1950, No-6, P. 23.
Sankalia, H.D.	Iranian Influence on Indo Pakistani Culture, Indica, Vol-6 No-2 Sep. 1969. Iranian Influence on early Indo-Pakistani Cultures, Vol-6, No-2 Sept. 1969.
Tavadia, J.C.	Zoroastrian and pre-Zoroastrian,J.B.B.R.AS., Vol-28, 1953.
Vijai Govind	A survey of Medical Indian Astrolab,Bhartiya Vidya, Vol-XXXIX, No-I.
Yamunacharya	The cult of the Sun-Worship in India A.I.O.C, Vol. X.

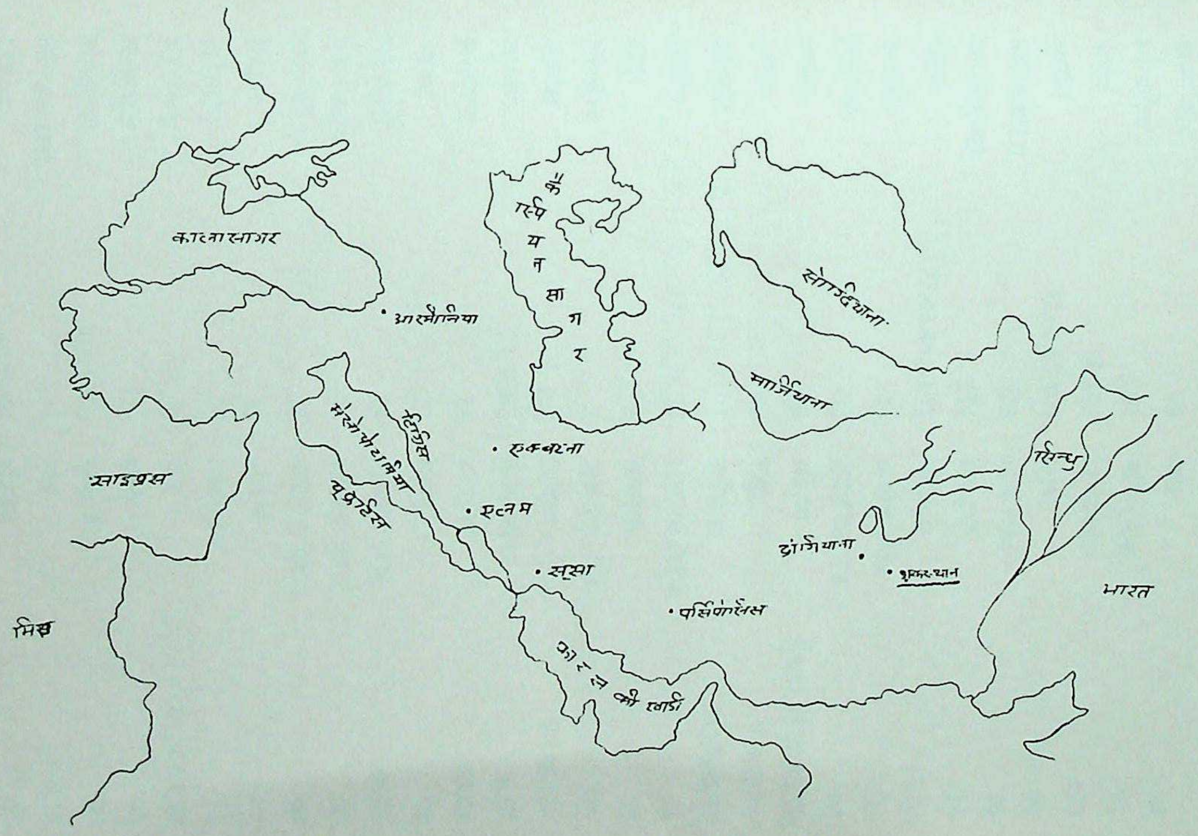

कालासागर
आर्मीनिया
कैस्पियन सागर
सोग्दियाना
मार्जियाना
मेसोपोटामिया
दजला
फरात
हकबताना
एलम
सूसा
पर्सिपोलिस
फारस की खाड़ी
ड्रांगियाना
शकस्थान
सिन्धु
भारत
साइप्रस
मिस्र

शब्दानुक्रमणी

अनम कोंड 98

अग्निहोत्र 101

अरुण 60,101

अव्यंग 32,66,67,109

अपोलोडोटस 113

अनन्त गुम्फा 114

अग्नि 10,22,43,46,50,91

अनाहित 44

अम्बिका 52

अर्यमा 59

अदिति 60

अभिचार 2,5,27, 28, 32,33,42,71

अरुर्मघ 5,6,7,8,78,79

असुर 5

अरुन्मुख 6

अरुर्मख 6,7

अथर्वन 21,35,82

अर्सासिड 14

अरबद 22

अस्त्रमइरि 24

अथर्ववेदीय 33

अपोलोनियस 38

अवन्ति 38

अमरकोष 39

अहुरमज्दा 10,20

अलमसूदी 127

अलबेरूनी 40,94,128

अल इश्तखरी 128

अश्विन 60,79,99

अथर्वांगिरस 83

अश्वमेध 83,70

अत्रि 89

अग्निवेदिका 91

अग्न्यास्थान 193

अरुण 60

अरबी भाषा 14

अक्कादी 14

असीरिया 16,19

अवन्ति वर्मन 96

अपराजित देव 96

अवेस्ता 5,8,11,15,28,43,59

असुर 7, 8,10,44

अर्थशास्त्र 34,35,92,93

आगम कल्पद्रुम 51

आक्सस 13

आक्सस निधि 123

आदित्य 59, 86,128

आभिचारिक 78,87

आंगिरस 65,85

आयदन 93

आदित्य हृदय 46,51

आदित्य वाराह 55

आदिब्रह्म पुराण 60

आचार्य 65

आपस्तम्ब 71

इन्द्र 2,3,4,7,47,85,86,91,99

इन्दौर 94

इन्द्रराज 95

इम्ग 2,15

इन्द्रिका 35

ईरान 36,82,93

ईश्वर 44

ईरानी	2,9,11,13,16,17,18,20,22, 25,29,31,32,39
ईरानी धर्म	43
ईरानी संवत्सर	26
उज्जयिनी	128
उपनिषद	92
उदुम्बरमती	95
उदीच्य	108,115
उपानह	110
उपनयन	68,69,70
उग्रसेन	40
उर्वर	24
ऊषा	11,60,107,115
एलमी भाषा	13
एरिस्टो व्यूलस	29
एरियन	35
ऐतरेय ब्राह्मण	6,45,78,79,
ओसिया	103,115,116
औदुम्बर	112
औस्टैनस	19
औरंगजेब	40,94,128
ऋग्वेद	2,3,4,5,6,11,31,33,45, 46,55,60,69,79,80,86
ऋत्विज	4
ऋग्वेदीय	15,32,
कर्ण	60
कल्मष	99
कनिष्क	39,113
कतेसियस	18
कम्बुजिय	17
कश्यप	60
कनिंघम	94
कथा सरित्सागर	124
कम्बोज	124
कम्बोडिया	123
कपिल	60
कादम्बरी	124
कालपी	126
कालप्रिय	128
काम	99
कार्तिर	21
क्राइस्ट	21
की यूमी	123
कुमुद	122
कुमारगुप्त	94
कुण्डिपत्तन	96
कुबेर	47,99
कुषाण	37,38,115,116
कुमारपुर	116
कूर्मपुराण	11,30
केशव	52,99
केवल भृगु	34
केवलांगिरस	34
कैस्पियन सागर	123
कोसर	100
कोल्हापुर	96
काणादित्य	129
कोणार्क	126
कोमेदाइ	123
कौशिक सूत्र	82
कौषीतकि ऋषि	54
कौषीतकि उपनिषद	6
कृष्ण	95
खवएत्वदथ	28,29
ख्वफ्रस्त्रघ्न	24

गया 99
गणेश 52
गरुण पुराण 11,53
ग्वालियर प्रशस्ति 54
गणक 44,65
गान्धार 39
गायत्री मन्त्र 51
गुण्टूर 95
गोपथ ब्राह्मण 59,81
गोण्डोफोर 93
गोविन्द 95
गोविन्दपुर 41,97
गोप 103
गोभिल 71
गोण्डपुर 41
गोमात 17,18,19
गौरमुख 40
गौतम 33,71
ग्रह विप्र 65
ग्रह गणक 44
ग्रीको रोमन 86
च्यवन 80
चक्र 45,114
चन्द्र 51,99
चन्द्र भागा 1,12,28,40
चक्षु वर्धनिका 122
चरक संहिता 81
चालुक्य 95,96
चाहमान 95
छान्दोग्य उपनिषद 30,54,81,86,
छाया 59,60,61,116

जखातुर्स 123
जम्बू द्वीप 122
जयवर्धन 95
जयभट्ट 95
जगमोहन 104
जमदग्नि 111
ज्योतिर्मुख 60
ज्योतिष 5,15,25,34,42,59,7
8,86,88
जरशब्द 66
जरथुस्त्र 9,10,20,25
जरथुस्त्रीय धर्म 9
जरक्सीज 18,20
जओतर 23
जाण्डियाल 95
जिनोफन 50
जियस 50
जिबाविन 127
जैमिनी 58
जैग्रस 16
टालमी 10,39,123
डि योडोरस 123
डेरियस 13,15,16,17,19,
115,123,125,
तपती 60,61
तरुणादित्य 96
तक्षशिला 93,124
तखत–ए–कोबाद 13
त्वष्टा 59
त्वाष्ट्री 59,60
त्वाष्ट्र 6,7,8

तारक 44
ताण्ड्य ब्राह्मण 81
तुखारीस्तान 124
तैत्तिरीय संहिता 55,88
तंत्रसार 12,52,74
दख्म 29
दण्ड 47,49,60,99,106,107, 111,112,116
दशाश्वमेध 50
दण्ड नायक 99,107
दान 52,55
देव वरणार्क 41,97
देवस्थान 19
देवल 104
देवायतन 92
द्रांजियाना 123
धन्वन्तरि 97
धातृ 59
धौलपुर 95
नक्षत्र दर्श 87
नक्षत्र विद्या 87
नक्षत्र 88
नटमन्दिर 109
नन्दिपद 113
नक्श-ए-रुस्तम 21
निरमंद 39
नियार्क्स 35
नियामतपुर 116
निक्षुभा 49,61,101,106,116
नेपाल 12,41
नृसिंह 127
पह्लवी 14
पसपोलिस 13,21,123
प्लूटार्क 15, 27, 93
प्लिनी 25,83
प्लेटो 113
पशुपति 94
पलेठी 102
पद्मपुराण 53,63,110
पइतिदान 24
पाटलिपुत्र 114
पाणिनी 58,63
पारसीक 44
पुरोहित 82,83
पुरुष सूक्त 62
पूर्णपाल 96
प्रह्लाद पुरी 127
प्रत्यभिचार 85
प्रत्यूषा 99,115
प्रबोधचन्द्रोदय 12
प्राग्ज्योतिषपुर 43,44
प्राक् ऋग्वेदीय 5
पंच सिद्धान्तिका 89
पंचायतन 98
पंचमार्क 112
पंचालमित्र 112,113
पंचदेव पूजा 51
पंचायतन विधि 52
पिंगल 47, 49,99,106,111, 112,116
फारस 17
फिलोस्ट्रैटस 38, 93

फिलाँक्सीनस टेलीफस 113
फ्रवशी 25
बरसम 13,24
बरदीय 17
बग्नपत 22
बन्धुवर्मन 94
बल वर्मन 96
बालासोर 41
बाजपेय याग 45
बाजसनेयी संहिता 88
बाणभट्ट 12
बाइबिल 15,21
बुध 51
बेबीलोन 2,14,16,26,44,84
बेहिस्तून अभि० 13,15,17,19,123
बैक्ट्रिया 123
बोध गया 34,114
बौधायन 33,35,36,71
ब्रह्मा 99,100
ब्रह्म पुराण 30,54
भविष्य पुराण 11,12,30,39,41,47,48, 49,50-56,60,62,63,66-68, 93,97,98,122
भवभूति 128
भण्डारकर 96
भग 59
भगदत्त 44
भाजा 34
भानु मित्र 38, 113
भारतेरानी 1,11
भाष्कर क्षेत्र 102
भार्गव 79
भिषग 1,9,15
भीटा 113
भूमरा 116
भेषज 5,42,78,80
भोजक 41, 44, 49, 65, 66, 67, 68, 96
भोग मंडप 104
भृगुआंगिरस 32,33,71,84
मनु 39,56,59,60,61,69,70, 81,87,107
महाभारत 11,37,44,53,54,62,64,65, 79,87,124,127
मथुरा 4,114,122
मन्दग 12,37,65,124
मशक 37
मत्स्य पुराण 12,53,60,10
मल्लदेश, मल्लिक देश 127
मल्ल भूमि 127
महाकाल 128
मगोफोनिया 18
मगाध 35,68
मगोस 8,78
मय 89
मयमत 91
मन्दसौर 94
महाश्वेता 49,99,116
महानिर्णाण तंत्र 52
मगु 2,5,11
मगुस 1,5,8,9,13,14,15,22
मघ 1-6,8,11,15,31
मघवन 3

तारक 44
ताण्ड्य ब्राह्मण 81
तुखारीस्तान 124
तैत्तिरीय संहिता 55,88
तंत्रसार 12,52,74
दख्म 29
दण्ड 47,49,60,99,106,107, 111,112,116
दशाश्वमेध 50
दण्ड नायक 99,107
दान 52,55
देव वरणार्क 41,97
देवस्थान 19
देवल 104
देवायतन 92
द्रांजियाना 123
धन्वन्तरि 97
धातृ 59
धौलपुर 95
नक्षत्र दर्श 87
नक्षत्र विद्या 87
नक्षत्र 88
नटमन्दिर 109
नन्दिपद 113
नक्श-ए-रुस्तम 21
निरमंद 39
नियार्क्स 35
नियामतपुर 116
निक्षुभा 49,61,101,106,116
नेपाल 12,41
नृसिंह 127
पह्लवी 14
पसपोलिस 13,21,123
प्लूटार्क 15, 27, 93
प्लिनी 25,83
प्लेटो 113
पशुपति 94
पलेठी 102
पद्मपुराण 53,63,110
पइतिदान 24
पाटलिपुत्र 114
पाणिनी 58,63
पारसीक 44
पुरोहित 82,83
पुरुष सूक्त 62
पूर्णपाल 96
प्रह्लाद पुरी 127
प्रत्यभिचार 85
प्रत्यूषा 99,115
प्रबोधचन्द्रोदय 12
प्राग्ज्योतिषपुर 43,44
प्राक् ऋग्वेदीय 5
पंच सिद्धान्तिका 89
पंचायतन 98
पंचमार्क 112
पंचालमित्र 112,113
पंचदेव पूजा 51
पंचायतन विधि 52
पिंगल 47, 49,99,106,111, 112,116
फारस 17
फिलोस्ट्रैटस 38, 93

फिलाँक्सीनस टेलीफस 113
फ्रवशी 25
बरसम 13,24
बरदीय 17
बग्नपत 22
बन्धुवर्मन 94
बल वर्मन 96
बालासोर 41
बाजपेय याग 45
बाजसनेयी संहिता 88
बाणभट्ट 12
बाइबिल 15,21
बुध 51
बेबीलोन 2,14,16,26,44,84
बेहिस्तून अभि० 13,15,17,19,123
बैक्ट्रिया 123
बोध गया 34,114
बौधायन 33,35,36,71
ब्रह्मा 99,100
ब्रह्म पुराण 30,54
भविष्य पुराण 11,12,30,39,41,47,48, 49,50-56,60,62,63,66-68, 93,97,98,122
भवभूति 128
भण्डारकर 96
भग 59
भगदत्त 44
भाजा 34
भानु मित्र 38, 113
भारतेरानी 1,11
भाष्कर क्षेत्र 102
भार्गव 79
भिषग 1,9,15
भीटा 113
भूमरा 116
भेषज 5,42,78,80
भोजक 41, 44, 49, 65, 66, 67, 68, 96
भोग मंडप 104
भृगुआंगिरस 32,33,71,84
मनु 39,56,59,60,61,69,70, 81,87,107
महाभारत 11,37,44,53,54,62,64,65, 79,87,124,127
मथुरा 4,114,122
मन्दग 12,37,65,124
मशक 37
मत्स्य पुराण 12,53,60,10
मल्लदेश, मल्लिक देश 127
मल्ल भूमि 127
महाकाल 128
मगोफोनिया 18
मगध 35,68
मगोस 8,78
मय 89
मयमत 91
मन्दसौर 94
महाश्वेता 49,99,116
महानिर्णाण तंत्र 52
मगु 2,5,11
मगुस 1,5,8,9,13,14,15,22
मघ 1-6,8,11,15,31
मघवन 3

मधोती 3,4
मधन्ति 3
मघवत् 3
मगुसाइ 9,14
मजुज 14
मगुपति 22
मज्दावाद 20
मगोइ 10,13
मगबद 22
मधवा 3,4
माथ्र 60,99
मार्तण्ड मन्दिर 103
मानस 12,37,65
मामग 124
मागध 12,65,124
मालवा 125
मालती माधव 128
मागी मत 44,7
मार्शल 94
मारकण्डेय पुराण 60,89
मानभंग 94
मानसार 98
मागी 10,15,16,17,19,20,21,22, 24,25,26,39,43,44,55,59,62-65,71, 72,91,108,117,126
मिहिर कुल 40,94
मिश्र 10,30,39,43
मित्र 43,59
मिहिर 10,11,18,39,97
मिथ्रोपासना 30
मिस्र 17
मिहिर भोज 55
मिहिरजन 10
मीडिया 13,15,16,19,125
मुल्तान 12,40,94,126
मूलस्थान 12,38,37,40,42,122
मूलादित्य 127
मेखला 32,33,70,71,85,91
मेगस्थनीज 35
मोढेरा 101
मोधु 8,11,15
मोधुल्बिस 5
मोग 14
मोबेद 22
मैजिक 27,29,
मंगल 51
मंगलेश्वर 94
यम 47,60,61,99,107
यक्ष 93
यव 44
यश्न 5
यति 7,8,10
यमुना 60,61
याजक 65,66,73
यूनानी 2,13,18,19,29,35,38
रश्नु 61,111
रहस्व्रत 54,55
रब मग, रब मगी 14
रथ्वी 23
राजघाट 113
राजेन्द्र वर्मन 95
राष्ट्र कूट 95

रामकुण्ड 104
राशी 18,49,61,99,106
रुद्र 59
रेवन्त 59,61,99,107
लाला भगत 114
लोनादित्य 96
वरुण 47,59,99,
वसु 36
वाराहमिहिर 40, 55,89, 91
वारंगल 96
वाह्लीक 36
विष्णु 91
विश्वकर्मा 36,91
विश्वरूप 6,7,8
विनायक 99
विश्वकर्माप्रकाश 98
विवस्वान् 59
विष्टि 61
विवाह संस्कार 71
वेन्दिदाद 23,27,82
वेदांग ज्योतिष 82
व्रत 52
वृत्र 6,7
वृहस्पति 7,51
शक स्थान 12,42,122,123
शनि 60,61,99
शक 37,41,42,115,123,125
शक कुषाण 37
श्याम 123
श्वेत 60
शाकद्वीप 30,37,38,39,40,42,55,83,122,124, 125
शाकद्वीपी 9,30,37
शाहनामा 122
शिव 99,100
शंकर 52
शुंग 115
श्रओस 61
श्रद्धा वैवस्वती 60
सरण्यु 59,60
सकइअ 18
ससानी 5,8,14,21,22,23
सविता 59
सम्मोहन तंत्र 12,74
सभामण्डप 101
समरांगण सूत्रधार 98
स्लाविक 85
स्कन्द गुप्त 94
स्तवरक 112
स्वस्ति 46,122
स्कीथ 16
स्ट्रैवो 24,29,35,123
स्कीथिया 123
स्वप्न विचार 26,49
साम्ब 39,40,83,122
साइरस 10,17,19,42
साम्बोपाख्यान 12,40
सावित्री 60,70
सावर्णिमनु 60,61
सायण 7
सिन्ध 124

सिन्धु 123
सीस्तान 12,124
सीरीयायी 14
सुराई 35
सुग्द 123
सुराष्ट्र 36
सुजिह्व 60
सुप्रजा 60
सुश्रुत 81
सुमेर 84
सुवर्चसा 39
सुनेत 113
सूर्य 17,34,36,37,39,40,44-52, 56-60,67,68,70,73,75,92, 93,94,99,100,107-112,114
सूर्या 60
सूर्यतंत्र 51
सूर्यशत 12,51
सूर्या पूजा 51
सूर्य मित्र 38,113
सूसा 94
सूर्यकुण्ड 101
सूर्य द्विज 65
सेमेटिक 2,11,15
सेवक 65,73
सूर्यापासना 40
सेमेटिक 2,11,15
सेवक 65,73,
सैन्धव सभ्यता 112
सोम 7,9
सोरो 41,96
सोनपुर 96
सोग्दियाना 123
सौराष्ट्र 124
सौर सम्प्रदाय 12,39,41,42,72
सौर धर्म 12,73
सौर 41
सौर सिद्धान्त 89
सौर धर्मोत्तर पुराण 12,74
सौर पुराण 12
संज्ञा 59,60,61,
संस्कार 64,68
संगुरबु 14,15
हमादान 123
हर्ष चरित 12,124
ह्वेनसांग 40,94,127
हरबद 22
हर्षवर्धन 40
हाखामनीष 2,5,8,11,13,15,19,22, 31,36,125
हूण 14
हेलि 50
हेलियोस 50
हेलेनिक 125
हेरोडोटस 13,15,16,17,18,20,24, 26,29,123,125
हुंडा अभिलेख 41

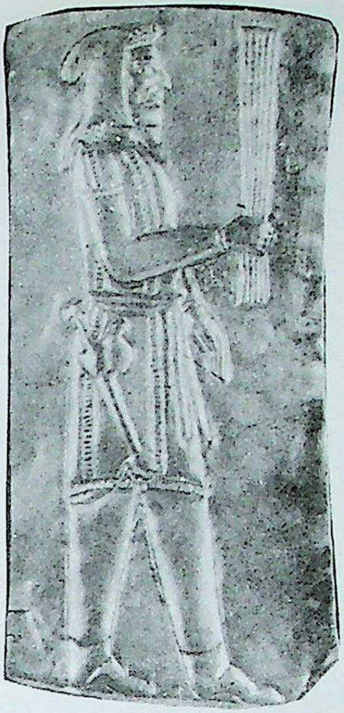

चित्र सं. 1. मागी पुरोहित, हाथ में बरसम लिए हुए, ऑक्सस निधि, 7 वीं -छठी शती ई. पूर्व, बेरोनिका आयन्स, वर्ल्ड माइथॉलॉजी इन कलर से साभार

चित्र सं. 2. मागी पुरोहित, हाथ में बरसम लिए हुए (अर्धभाग), ऑक्सस निधि, 7वीं -छठी शती ई. पूर्व

चित्र सं. 3. मगु–पति कार्तिर, नक्श–ए–रुस्तम, ससानी काल, आन्द्रे गोडार्ड, द आर्ट ऑफ ईरान से साभार

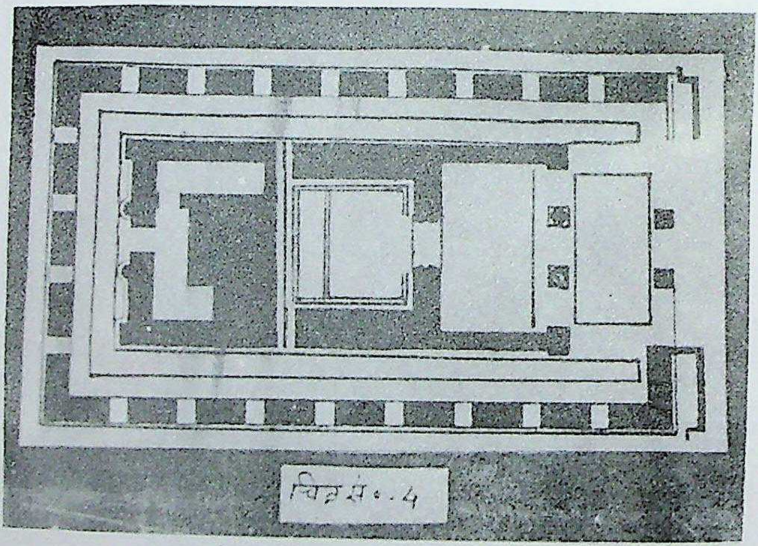

चित्र सं. 4. तक्षशिला के मन्दिर की रूप रेखा, तक्षशिला, पार्थियनकाल

चित्र सं. 5. मार्तण्ड मन्दिर का सभा मण्डप, कश्मीर, आठवीं श.ई.

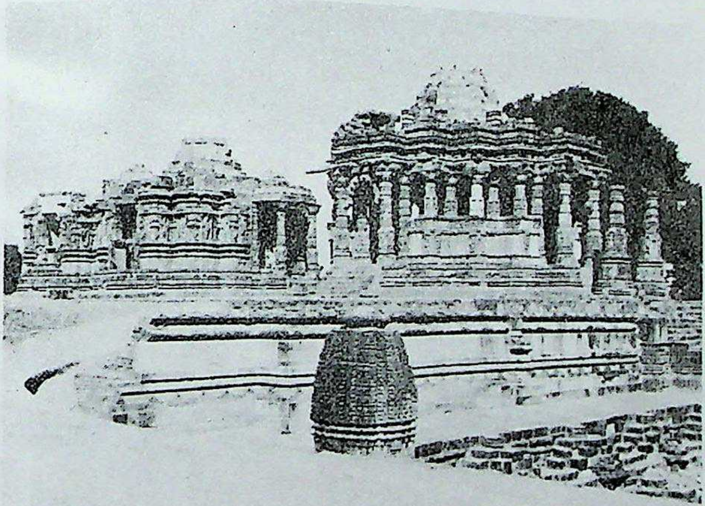

चित्र सं. 6. मोढ़ेरा सूर्य मन्दिर का सभामण्डप, मोढ़ेरा (गुजरात), 11वीं श.ई.

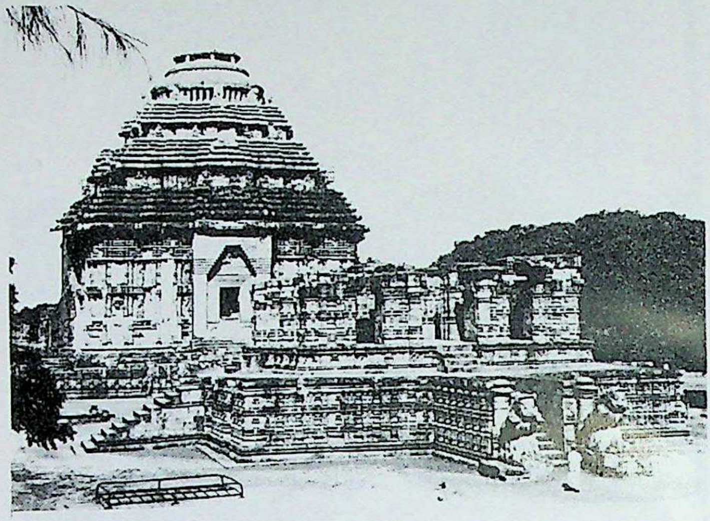

चित्र सं. 7. कोणार्क मन्दिर का सभा मण्डप, कोणार्क(उड़ीसा)

चित्र सं. 8. गोप का सूर्य मन्दिर, गोप (काठियावाड़), छठीं श.ई.

चित्र सं. 9. पलेठी का सूर्य मन्दिर, पलेठी (गढ़वाल), 7वीं श.ई., ध्यानम् 1982, अंक-2 से साभार

चित्र सं. 10. मार्तण्ड मन्दिर, कश्मीर, 8वीं श.ई.

चित्र सं. 11. ओसिया का सूर्य मन्दिर, ओसिया (राजस्थान), 9वीं श.ई.

चित्र सं. 12. मोढ़ेरा का सूर्य मन्दिर, मोढ़ेरा (गुजरात), 11 वीं श.ई.

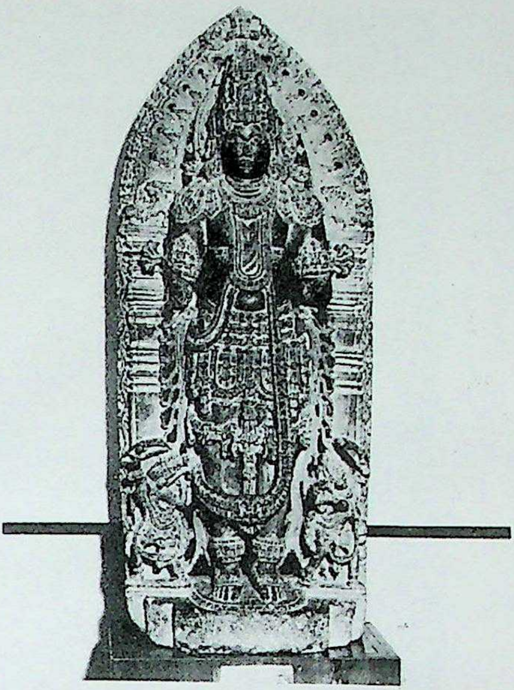

चित्र सं. 13. कोणार्क मन्दिर, कोणार्क (उड़ीसा), 12 वीं श.ई.

चित्र सं. 14. दक्षिण भारतीय शैली, हलेविद (कर्नाटक), 12 वीं श.ई.

चित्र सं. 15. बोध गया का सूर्यांकन, बोध गया, प्रथम श.ई.पू.

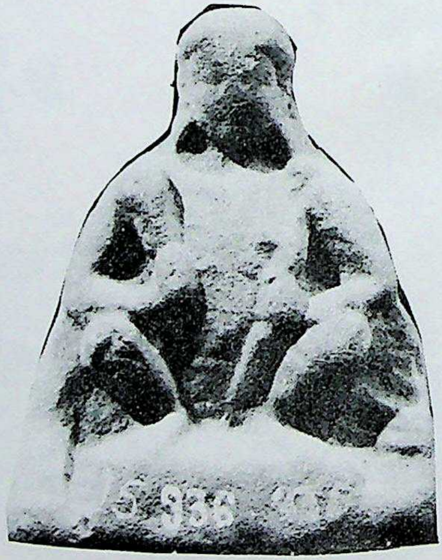

चित्र सं. 16. सूर्य की बैठी हुई प्रतिमा, मथुरा, चौथी श.ई.

चित्र सं. 17. सूर्य की रथासीन प्रतिमा, मथुरा, पाँचवी श.ई.

चित्र सं. 18. सूर्य प्रतिमा, मथुरा, 7वीं श.ई.

चित्र सं. 19. सूर्य प्रतिमा, ओसिया, 8वीं श.ई.

चित्र सं. 20. सूर्य प्रतिमा, तुरपट्टी महुअवा, 9वीं श.ई.

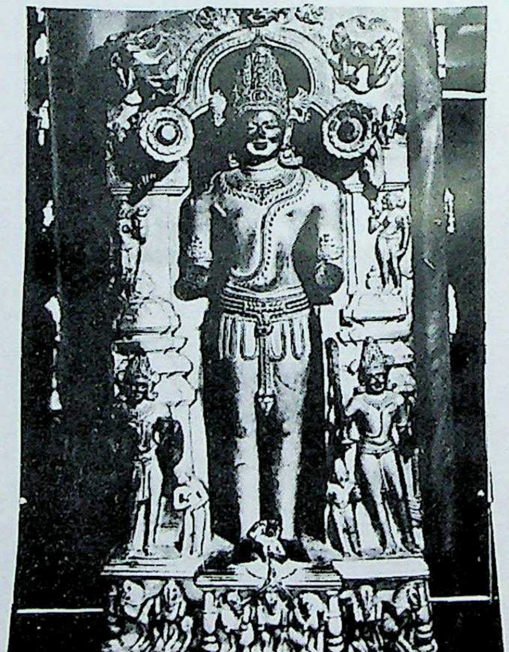

चित्र सं. 21. सूर्य प्रतिमा, कोणार्क (उड़ीसा), 13वीं श.ई.

हमारे अन्य प्रकाशन :

प्राचीन भारत में विधवाएँ – डॉ. देवी प्रसाद तिवारी 300/–

ग्वालियर दुर्ग, मंदिर एवं मूर्तियाँ – डॉ. अमर सिंह २७०/-

शीघ्र प्रकाश्य :

नृसिंहोपासना का अभ्युदय – डॉ. ध्यानेन्द्र नारायण दूबे

Interstate and International Relations in Ancient India
– Dr. ShailendraKumar Srivastava

गुप्त अभिलेखों का साहित्यक अध्ययन – डॉ. विपुला दूबे

गाथा सप्तशतीः ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन
– डॉ. राजेश कुमार मिश्र

प्राचीन भारत में व्यापारिक समुदाय – डॉ. एन .के. राय

श्रौत सूत्रों में वर्णित समाज धर्म और दर्शन
– डॉ. रमेश चन्द्र शुक्ल